मुद्रक—महताबराय ज्ञानमण्डल यन्त्रालय, लिमिटेड, काशी, २००२ ।

द्वितीय संस्करण का वक्तव्य

'हिंदी-उपन्यास' के प्रथम संस्करण में कुछ महत्त्व के उपन्यासकार छूट गए थे, इधर कुछ नवीन लेखक क्षेत्र में आए, पूर्वोल्लिखित लेखकों में कुछ की नवीन कृतियाँ प्रकाश में आईं। प्रस्तुत संस्करण में ऐसी प्रमुख कृतियों एवं लेखकों की विवेचना कर दी गई है। इस प्रकार इसमें इलाचंद्र जोशी, यशपाल, अज्ञेय, सर्वदानंद वर्मा आदि आ गए हैं। प्रेमचंद के कुछ उपन्यासों का, उनकी लोकप्रियता का ध्यान करके, अधिक विस्तार से विवेचन कर दिया गया है। प्रथम संस्करण में 'चित्रलेखा' का नामोल्लेख भर था प्रस्तुत संस्करण में उसकी भी विवेचना हो गई है।

विचार था कि वर्तमानकाल के उपन्यासकारों को किसी विशेष क्रम से जन्मतिथि अथवा प्रकाशन-काल के अनुसार रखता। किंतु वह हो न सका। संख्या की दृष्टि से हिंदी-उपन्यासों की कमी नहीं है। इन सबको पूरा पूरा पढ़ डालना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। अतएव इस विषय में मैं अपनी पूर्णता का दावा नहीं कर सकता। फिर भी प्रयत्न यह रहा है कि प्रमुख उपन्यासकारों की सभी कृतियाँ पूरी पूरी पढ़ी जायँ और उनका उचित विवेचन हो। संभव है कि कुछ अच्छे उपन्यासकार छूट भी गए हों। इसके लिए लेखक क्षमाप्रार्थी है।

प्रथम संस्करण में भाई श्री रामचंद श्रीवास्तव, पूज्य भइया श्री कृष्णानंद जी, माननीय पंडित जगन्नाथप्रसाद शर्मा द्वारा जो

प्रोत्साहन एवं सहायता मिली थी उसे मैं कभी नहीं भूल सकता। प्रस्तुत संस्करण के लिए श्रद्धेय श्री राय कृष्णदास जी ने कुछ अमूल्य परामर्श दिए थे जिनके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ। मुझे अधिक सन्तोष होता यदि उन परामर्शों का पूरा पूरा उपयोग कर सका होता। प्रथम संस्करण के समान ही प्रस्तुत संस्करण को पढ़ एवं सँवार सुधार कर प्रकाश में लाने का श्रेय श्रद्धेय पंडित विश्वनाथप्रसाद जी मिश्र को है। उनका मैं अत्यंत आभारी हूँ।

मातृनवमी, २००२
मिर्जापुर

शिवनारायण श्रीवास्तव

विषय-सूची

प्रथम प्रकरण

उपन्यास और उसके तत्त्व

(१-५१)

द्वितीय प्रकरण

कथा-कहानी की प्रवृत्ति और भारतीय परंपरा

(५२-५९)

तृतीय प्रकरण

हिंदी-उपन्यासों का आदिकाल या बालकाल

(६०-८७)

चतुर्थ प्रकरण

हिंदी-उपन्यासों का आधुनिक काल

(८८-२९७)

हिंदी-उपन्यास

हिंदी-उपन्यास

—— :※: ——

प्रथम प्रकरण

उपन्यास और उसके तत्त्व

(१) उपन्यास की सीमा

साहित्य और उसके अंग

साहित्य जीवन और जगत की लोकरंजनकारिणी अभिव्यक्ति है। जीवन और जगत के निरन्तर पड़नेवाले प्रभाव से साहित्यकार जिन अनुभूतियों का संचय करता रहता है उन्हीं का आस्वाद इतर सहृदयों को भी कराने के लिए वह किसी विशेष पद्धति का अवलंब लेकर उन्हें अभिव्यक्त करता है। इसी पद्धति के कारण उसकी वे अनुभूतियाँ केवल स्वसंवेद्य न रहकर परसंवेद्य हो जाती हैं। इस प्रकार अभिव्यंग्य और उसकी अभिव्यंजना के आधार पर ही साहित्य की परख होती है। जिस कृति में व्यंग्य या वर्ण्य विषय तथा उसकी अभिव्यंजना के ढंग के कारण मानव-मन रम जाय वही तो साहित्य है। यह मानव-मनरंजनी शक्ति ही साहित्य की सिद्धि है और उसके रंजन तथा रसोद्रेक का कारण है जीवन और जगत में मानव की अभिरुचि। साहित्यकार पर जीवन की इस अभिरुचि के कारण जो प्रभाव पड़ता है उसी को वह अपनी कला से इस प्रकार अभिव्यक्त करता है कि उसमें सरसता आ जाती है। अतएव साहित्य के अंतर्गत वह सारा वाङ्मय लिया जा सकता है जिसमें भावोन्मेष तथा उसके अभिव्यंजन के द्वारा रससिद्धि हो।

अभिव्यंजन-प्रणाली की दृष्टि से साहित्य-क्षेत्र में आनेवाली समस्त रचनाओं के पाँच प्रधान भेद कविता, नाटक, निबंध, गद्यकाव्य तथा उपन्यास और कहानी किए जा सकते हैं। शैलीगत इन विभेदों के होते हुए भी सब प्रकार के साहित्य में एक ही मानवीय प्रवृत्ति कार्य करती है। साहित्य से रससिद्धि तभी हो सकती है जब हमारे भीतर भी वही अनुभूति और कल्पना सजग हो उठे जो साहित्यकार के भीतर उठी थी। इस अनुभूति तथा कल्पना के सजग करने में ही साहित्यकार की कला है। व्यक्ति तथा अनुभूति के भेदों के अनुसार इस कला का भिन्न-भिन्न रूप होता है।

कथा-कहानियों की परंपरा बहुत प्राचीन है क्योंकि इनके प्रति मानव-मन में आरंभ से ही कुतूहल रहा है। वर्तमान उपन्यास और कहानियाँ उसी परंपरा के नवीन उत्कर्ष हैं जिनकी सत्ता का प्रधान कारण सर्वत्र एवं सर्वदा मानव-रागों, मनोवेगों और क्रिया-कलापों में मनुष्य की अभिरुचि है। कहानियों का विकसित रूप ही उपन्यास है जो परिवर्तित सामाजिक एवं कलात्मक परिस्थितियों की देन है। बाद में विकसित होकर भी साहित्य के इस अंग ने अपना एक प्रधान स्थान बना लिया है और इसकी वर्तमान प्रगति को देखते हुए ऐसा अनुमान होता है कि अभी वह साहित्य-क्षेत्र में इससे भी अधिक गौरव प्राप्त करेगा। उपन्यासों के इतने अधिक प्रचार का कारण यह है कि वह सर्वदा मानव-जीवन से संबद्ध है और अभिव्यंजना का बिलकुल निजी तथा संवेदनापूर्ण साधन है।

उपन्यास

कविता, नाटक, उपन्यास तथा छोटी कहानियों के उद्गम का कारण एक ही है, यह बात स्पष्ट हो चुकी है। अतएव कविता, नाटक और छोटी कहानियों से उपन्यास का भेद समझ लेना चाहिए।

गद्य और पद्य के स्थूल अंतर के अतिरिक्त उपन्यास और कविता की सबसे बड़ी भेदक विशेषता यह है कि उपन्यास में हमारा मन

अधिकतर घटना-चमत्कार से ही अनुरंजित होता है जब कि कविता के भावों में वह पूर्ण रूप से रम जाता है। उपन्यास में हम प्रायः आगे की घटना जानने के लिए उत्सुक रहते हैं, रुकते नहीं; किंतु अच्छी कविता को बार-बार पढ़कर भी हमारी तृप्ति नहीं होती। इसका यह आशय नहीं कि उपन्यासों में केवल कथा का ही आकर्षण होता है, रमणीयता रहती ही नहीं। ऐसे बहुत-से उपन्यास हैं जिनके विशेष स्थलों को बार-बार पढ़ने का जी होता है। तात्पर्य केवल इतना है कि उपन्यासों में कुतूहल-वृत्ति प्रधान रहती है, रमणा-वृत्ति गौण।

उपन्यास और कविता

कविता और उपन्यास की भावग्राहक शक्ति में भी अंतर होता है। कविता का आनंद थोड़े से सहृदय ही ले पाते हैं क्योंकि अर्थ प्रायः अपने प्रकृत रूप में नहीं रहता। वह भाव-विधान और उक्ति-वैचित्र्य से दबा रहता है। किंतु कहानी और उपन्यासों की भाषा अपना काम खुलकर करती है और इसीलिए सर्वजनसुलभ है।

कविता का जो रूप उपन्यास के कुछ समीप है वह है महाकाव्य। उपन्यासों को गद्यमय महाकाव्य (एपिक इन् प्रोज़) कहा भी गया है। इसी प्रकार महाकाव्यों को भी हम पद्यमय उपन्यास (नॉवेल इन् वर्स) कह सकते हैं। उपन्यास और महाकाव्य दोनों में ही कुछ व्यक्तियों के साथ कुछ घटनाएँ किसी विशेष क्रम से घटित होती हैं। दोनों में ही वर्णन की प्रधानता रहती है। उपन्यास और महाकाव्य दोनों ही विषय-प्रधान होते हैं। कवि अपनी कृति में छिपा-सा रहता है। दोनों तरह के काव्यों में जीवन की विविध दशाएँ सामने लाने-वाले घटनाचक्र, वस्तु-वर्णन और भावव्यंजना के ठीक-ठीक परिमाण की व्यवस्था अपेक्षित होती है। कथा-प्रवाह या संबंध-निर्वाह उपन्यास और महाकाव्य दोनों की प्रधान आवश्यकता है।

उपन्यास और महाकाव्य

उपन्यास और महाकाव्य इतने समीप होते हुए भी दो भिन्न कृतियाँ हैं। महाकाव्यों का अलग ही आदर्श होता है। अधिकतर महाकाव्यों में महान् व्यक्तियों तथा महान् कार्यों का ही संनिवेश होता है। स्थल-स्थल पर कवि अद्भुत तथा अलौकिक का भी प्रयोग करने में नहीं हिचकता। परंतु उपन्यास साधारण से साधारण व्यक्तियों को भी लेकर लिखा जा सकता है और लिखा जाता है। उपन्यास तो हमारे प्रतिदिन के जीवन की वस्तु है। उसमें हमारे ही समान मनुष्य और प्रतिदिन के जीवन में घटित होनेवाली घटनाएँ होती हैं। उसमें अधिकतर यथार्थ का ही चित्रण होता है और सजीवता ही उसकी सफलता का रहस्य है। 'तुलसी' के राम का शासन समुद्र की लहरें मानती हैं, वहाँ रत्नाकर के वक्ष पर शिलाएँ तैरती हैं, आकाश में कपि उड़ते हैं और मानव-उदर में पयोधि समा जाता है। परंतु यदि कोई 'प्रेमचंद' या 'कौशिक' ऐसी विलक्षणताओं का संनिवेश अपनी रचना में करे तो 'चंद्रकांता' की भाँति उसकी रचना का प्रचार भले ही हो जाय किंतु वह साहित्य-कोटि से वंचित ही रहेगी। उपन्यासकार की कल्पना के पंख कवि-कल्पना की भाँति उन्मुक्त नहीं होते, उसके परों में यथार्थता का बंधन होता है। उपन्यासकार की दिव्य दृष्टि रवि-रश्मियों से स्पर्धा नहीं करती, वह तो अपने घर को ही, अपने जगत को ही, भलीभाँति देखकर संतुष्ट हो जाती है।

यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि महान् व्यक्तियों और महान् घटनाओं का वर्णन महाकाव्य का लक्षण नहीं उपलक्षण मात्र है। यदि उपन्यास के वर्तमान रूप का विकास महाकाव्यों के उस सुदूर युग में हो गया होता तो संभव है कि महाकाव्यों में भी इसी आदर्श की स्थापना होती। आज दिन तो महाकाव्यों का अर्थ ही रूढ़-सा हो गया है, परंतु महाकाव्य में भी अब सामान्य व्यक्तियों के जीवन की घटनाओं के संनिवेश की रुचि स्पष्ट लक्षित हो रही है और योरप में तो

ऐसे कई महाकाव्यों की रचना भी हो चुकी है। इसीलिए महाकाव्यों की अवनति का एक प्रधान कारण उपन्यासों की वृद्धि भी बताया जाता है।

उपन्यास और नाटक

उपन्यास सहित्य के जिन अंगों के अत्यधिक निकट हैं वे हैं नाटक और छोटी कहानियाँ। नाटक और उपन्यास के मूलतत्त्व प्रायः एक ही हैं, परंतु उपन्यासकार को जिन परिस्थितियों में कार्य करना पड़ता है उनसे नाटककार की परिस्थितियाँ नितांत भिन्न हैं। इसी परिस्थिति-भेद के कारण नाटक और उपन्यास में बड़ा अंतर पड़ जाता है। वास्तव में नाटक तो कोई अकेली कला है ही नहीं। वह तो कलाओं का एक समन्वय है जिसमें कई भिन्न-भिन्न तत्त्वों का योग है। काव्य-तत्त्व के अतिरिक्त रंग-मंच के विधान तथा अभिनय की सहायता से ही यह कला पूर्ण होती। बिना इन बाह्य उपकरणों के उसका पूरा रस या आनंद लिया ही नहीं जा सकता। परंतु उपन्यास में इन तत्त्वों का बाहर से आरोप करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। वह तो स्वतः सिद्ध है। मेरियन क्राफोर्ड के अनुसार 'उसकी रंगशाला उसी में निहित है'। पुस्तक के भीतर ही हमें नाटक के सभी प्रधान अवयय मिल जाया करते हैं। रंग-मंच के नियमों से स्वतंत्र उपन्यासों में जो अबाध गति, जो विस्तार-व्यापकत्व तथा जो अनेक-रूपता होती है वह नाटकों के स्वच्छंदातिस्वच्छंद विकास में भी नहीं हो सकती। उपन्यास में प्रत्यक्ष-दर्शन के स्थान पर केवल वर्णन पर ही आश्रित होने के कारण नाटक की अपेक्षा सजीवता और यथार्थता की कमी अवश्य ज्ञात होती है, परंतु वह अन्य साधनों द्वारा पूरी हो जाती है। यही कारण है कि काव्य-क्षेत्र से उपन्यास ने कुछ हद तक नाटकों को हटा दिया है और अब यह हमारे आधुनिक जटिल और रंग-बिरंगे संसार के साहित्य का एक प्रधान अंग माना जाने लगा है। नाटककार का क्षेत्र संकुचित होता है, वह

नियमों से जकड़ा रहता है। एक निर्धारित सीमा के भीतर ही अपनी कला के द्वारा उसे अपनी कृति को प्रभावोत्पादक बनाना रहता है। उपन्यासकार की भाँति अपने प्रधान पात्रों में प्रभावोत्पादक लाने के लिए वह अपने मन के अनुसार अन्य छोटे छोटे पात्रों की अवतारणा नहीं कर सकता।

इसके अतिरिक्त दोनों में एक बहुत बड़ा अंतर यह भी है कि उपन्यास में लेखक अपने चरित्रों के मुँह से बोलने के अतिरिक्त स्वयं भी आगे आकर अपनी आत्मा का अभिव्यंजन कर सकता है परंतु यह स्वतंत्रता नाटक में संभव नहीं। नाट्यकला के नियमों ने नाटककार की जीभ पर ताला लगा रखा है। विश्व के लिए जो कुछ उसका संदेश है; अंतर और बहिर्जगत के अनुभवों का जो उसका संचित वैभव है, उसको अपना कहकर वह नहीं दे सकता, उसे अपने पात्रों के मुँह से बोलना होगा। परंतु उपन्यासकार पर कोई ऐसा बंधन नहीं। अपनी सृष्टि के रंग-मंच पर आकर वह अपने पात्रों, उनके क्रिया-कलापों आदि की व्याख्या कर सकता है और विश्व के लिए अपना जो संदेश है उसे वह अपनी वाणी से ही सुना सकता है। इस तरह हम देखते हैं कि नाटक साहित्य का सबसे बँधा और उपन्यास सबसे खुला रूप है।

उपन्यास और छोटी कहानियाँ

जीवन में संघर्ष और जटिलता की वृद्धि के साथ ही साथ मनुष्य को अवकाश की कमी होती गई अतएव मनुष्य ने थोड़े से थोड़े समय में अपने अनुरंजन के उपाय निकाले। छोटी कहानी भी इसी उपाय का एक उपेय है। उपन्यासों के पढ़ने और लिखने दोनों में ही समय की अधिक अपेक्षा होती है परंतु कहानियों के पढ़ने में समय कम लगता है। 'पो' के अनुसार कहानी वह है जो आध घंटे से लेकर एक या दो घंटे में पढ़ी जा सके। इसी को बढ़ाकर हम यों कह सकते हैं कि कहानी वह है जो एक बैठक में पढ़ी जा सके। परंतु कहानी और उप-

न्यास का भेद केवल यह आकार-भेद ही नहीं है। कहानी का लघु आकर तो उसके विषय-संकोच का परिणाम है। वास्तव में उपन्यास और छोटी कहानी दोनों का अलग-अलग उद्देश्य होता है, वैसे ही जैसे महाकाव्यों और मुक्तकों का। उपन्यास संपूर्ण जीवन का चित्र है। अतएव जीवन की ही भाँति वह व्यापक भी है। परंतु छोटी कहानी का उद्देश्य संपूर्ण जीवन पर प्रकाश डालना नहीं है; जीवन की किसी एक झलक का परिचय कराना मात्र है। गूढ़ और अतिगुंफित कथानक कहानी की विशेषता नहीं है। उसका कार्य तो प्रकृति और जीवन की झलक दिखाना और छोटे-छोटे चित्र खींचना है जो देखने में सुंदर और विचार करने पर उपादेय सिद्ध हों। जीवन के पूर्ण रूप को चित्रित करने के लिए अथवा जीवन को पूर्णता प्रदान करने के लिए उपन्यास-कार छोटी-छोटी अनेक घटनाओं और बातों का चित्रण करता है जिन्हें एक कहानी-लेखक छोड़ देता है। उपन्यास की अपेक्षा छोटी कहानी की कथा-वस्तु सरल तथा कार्य-प्रवाह अविरल, संगत और चरित्र-चित्रण के अनुकूल होता है। देश, काल और दृष्टि प्रायः एक ही रहती है। पात्र थोड़े से किंतु अधिक प्रभावशाली होते हैं और अपेक्षाकृत असा-धारण परिस्थितियों में उपस्थित किए जाते हैं। प्रभाव की अन्विति (यूनिटी आव् इंप्रेशन) जिसको पो ने पूर्णता का प्रभाव (इफेक्ट आव् टोटैलिटी) कहा है उपन्यास और कहानी का बड़ा भारी भेद है। उपन्यासों में आधार-स्वरूप भाव की अपेक्षा नहीं होती, परन्तु कहानी में यह नितांत आवश्यक है, क्योंकि आधुनिक कहानियों का ध्येय एक पूर्वनिश्चित भाव या प्रभाव का चित्रण होता है। कहानियों की कथा वस्तु एक स्थिति मात्र होती है। अच्छी कहानी का विषय इतना सीधा-सादा होता है कि उसके विभाग नहीं हो सकते। कदाचित् ही किसी कहानी में मुख्य और गौण पात्रों के वैसे समूह मिलेंगे जैसे उपन्यासों में होते हैं; और कदाचित ही उसमें कोई प्रासंगिक कथा-वस्तु या आकर्षण की गौण धारा मिलेगी।

(२) उपन्यास के तत्त्व

नाटकों और उपन्यासों के भेद से यह स्पष्ट हो गया होगा कि नाटकों के नियम ढूँढ़ निकालना अथवा बना लेना और उसकी आलोचना का मापदंड निर्धारित कर लेना उतना कठिन नहीं जितना उपन्यास का। परंतु साहित्य-शास्त्रियों ने साहित्यिक अभिव्यंजना के इस सबसे उच्छृंखल और अस्थिर रूप को भी नियमों से बाँधने का प्रयत्न किया है, तथा इसके भीतर निहित विभिन्न तत्त्वों का विश्लेषण करके उन पर अलग-अलग विचार किया है। वे ही उपन्यास के प्रधान अवयव माने गए हैं। ये अवयव नाट्यकला के अवयवों से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं, परंतु इनके आदर्श भिन्न हैं।

मनुष्य गतिशील और क्रियाशील है। इसी गतिशीलता और क्रियाशीलता का नाम है जीवन। घटनाओं, व्यापारों तथा क्रिया-कलापों के बीच बहता हुआ जीवन अपना सौंदर्य प्रत्यक्ष किया करता है। उपन्यास जीवन की प्रतिकृति है इसलिए उसका संबंध मानव-व्यापारों, क्रिया-कलापों और घटनाओं से होता है इसी को उपन्यास की 'कथा-वस्तु' कहते हैं। इन घटनाओं का विधाता मानव उपन्यास में सृष्टि का 'पात्र' कहलाता है। उपन्यास-जगत में पात्रों की बातचीत को 'कथोपकथन' कहते हैं। ये जीवन-घटनाएँ किसी विशिष्ट समय और किसी विशिष्ट स्थान पर घटित होती हैं। इस समय और स्थान को ही परिस्थिति, वातावरण अथवा 'देश-काल' कहते हैं। उपन्यासकार की अभिव्यंजना के ढंग को 'शैली' कहते हैं। यह उपन्यास का पाँचवा तत्त्व है। इन पाँच तत्त्वों के अतिरिक्त एक छठा तत्त्व भी माना जाता है। प्रत्येक उपन्यास में लेखक जाने या अनजाने जीवन और उसकी कुछ समस्याओं का उद्‌घाटन तथा विवेचन करता है, अर्थात् उपन्यासकार घटनाओं, पात्रों, मनोवेगों आदि को इस प्रकार उपस्थित करता है जिससे थोड़ा बहुत इस बात का पता चलता है कि वह संसार को

किस दृष्टि से देखता है और जीवन के प्रति उसका क्या विचार है। इसको हम उपन्यासकार द्वारा प्रस्तुत आलोचना, व्याख्या अथवा जीवन-दर्शन कह सकते हैं। इसे ही उद्देश्य भी कहते हैं।

उपन्यास का विषय उसकी 'वस्तु' कहलाता है और उसकी संघटना तथा निर्वाह में उपन्यास की कला होती है। उपन्यासकार किसी विशेष योजना की दृष्टि से अपनी कथा को संघटित करता है, घटनाओं को एक विशेष क्रम से रखता है। उसकी इस विशिष्ट योजना को ही कथा-वस्तु कहते हैं।

वस्तु

कोई-कोई कहते हैं कि उपन्यास में कथा-वस्तु अनावश्यक है। हमारे जीवन का संचालन किसी पूर्वनिश्चित योजना से तो होता नहीं, फिर उपन्यास में—जो जीवन का प्रतिरूप मात्र है—इस विशिष्ट योजना अथवा वस्तु की आवश्यकता ही क्या। निट्शे ने एक बार कहा था कि पूर्वनिश्चित सभी बातें अयथार्थ होती हैं*। इसमें संदेह नहीं कि जीवन के अधिकतर अनुभव किसी योजना से संबद्ध नहीं होते तथा जीवन के स्वच्छंद प्रवाह में कोई निश्चित क्रम नहीं होता. तो भी लेखक का यह कर्तव्य है कि जीवन की इस विशृंखलता में भी वह कोई शृंखला, कोई क्रम, कोई योजना ढूँढ़ निकाले। इस अनेकरूपात्मक वैचित्र्यपूर्ण जगत का सौंदर्य स्पष्ट करने के लिए उसे किसी विशेष क्रम से ही हमारे सामने रखना होगा। वैसे तो सभी उपन्यासों में कुछ घटनाएँ घटित होती ही हैं परंतु वे प्रत्येक में किस क्रम से घटित होती हैं इसी से उनकी पहचान होती है और उनमें भेद बताया जाता है।

जीवन और जगत् बहुत व्यापक है; उपन्यासकार छोटा-सा मानव। इस विस्तृत क्षेत्र से उसे क्या-क्या चुनना चाहिए, कैसे सजाना चाहिए इस रहस्य-ज्ञान में ही उसकी सफलता का भी रहस्य निहित है। यदि उपन्यासकार जीवन की सभी अनुभूतियों को स्मरण रखे और उन

---

* ऑल दैट इज प्रीअरेंज्ड इज़ फाल्स।

सबको चित्रित करने की चेष्टा करे तो संभवतः उसका ग्रंथ कभी पूर्ण ही न हो और यह वृहत् सूची पाठक के लिए पहाड़ हो जाय। इसलिए उपन्यासकार को चाहिए कि वह केवल उन्हीं अनुभूतियों को स्मरण रखे जो उसकी संवेदना पर सबसे अधिक आघात करती हों। वास्तव में साहित्यकार के लिए आवश्यक की सहज और निपुण विस्मृति के विना उसकी स्मृति भी एक कलंक बन जाती है।

उपन्यास में कहानी की रोचकता का बड़ा महत्त्व होता है। जी बहलाने के लिए ही तो प्रायः हम घड़ी दो घड़ी उपन्यास लेकर बैठ जाते हैं। अपनी दुनिया से श्रांत-क्लांत होकर हम उपन्यासकार की दुनिया में जी बहलाने चले जाते हैं। इसलिए उपन्यास में कहानी इतनी रोचक होनी चाहिए कि थोड़े समय के लिए पाठक अपनी असली दुनिया को, उसके असंतोष तथा हाहाकार को भूल जाय। उपन्यासकार की यह मनःकल्पित सृष्टि हमारे एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति करती है। परंतु यह ध्यान रहे कि उपन्यासकार अपनी योजना-शक्ति की सहायता से जो नई सृष्टि करे वह विलक्षण होने पर भी सलक्षण और असंगत होने पर भी सुसंगत हो अन्यथा बुद्धि उसको हेय समझेगी। इसके लिए आवश्यकता होती है कि उपन्यासकार अपने तथा अपनी अनुभूतियों के साथ पूर्ण सचाई का व्यवहार करे। उपन्यासकार का ज्ञान उसके अनुभव के आश्रित होना चाहिए। जीवन का पूर्ण अनुभव किए विना उसमें हाथ ही न डाले। उत्कृष्ट अँगरेजी उपन्यास-लेखिका श्रीमती इलिएट ने एक बार उपन्यास-लेखिकाओं को बड़ी फटकार बताई थी।* पुरुष और स्त्री में प्रकृत भेद है। इसलिए

* "दे ट्राइड टु राइट लाइक मेन ऐंड फ्राम मैन्स प्वॉइंट आव् व्यू, इंसटेड आव् टेकिंग देयर स्टैंड ऑन दि फंडामेंटल डिफरेंसेज आव् सेक्स, विद आल दैट दिस इंप्लाइज़, ऐंड इंडेवरिंग टु पोरट्रे लाइफ फ्रैंकली ऐंड सिंसियरली ऐज़ ए वोमन नोज़ इट"।

स्त्रियों को कभी पुरुषों की भाँति, उनके दृष्टिकोण के अनुसार लिखने का प्रयत्न न करना चाहिए। उनका अपना ही क्षेत्र क्या कम है जो वे इसके बाहर आने का प्रयत्न करती हैं। कोई लेखिका स्त्री-समाज का, उसकी आशा, आकांक्षा, प्रेम, करुणा, नैराश्य आदि का जितना सफल अंकन कर सकती है उतना पुरुष-समाज का नहीं। यह बात पुरुषों के विषय में भी कही जा सकती है। स्त्री-चरित्र की दुरूहता का बिना अनुभव किए हुए जो लोग उसका चित्रण करते हैं वे अपने ही को भ्रम में डालते हैं। अतएव लेखक को सदैव इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जिस बात से वह अनभिज्ञ है, जिसका उसे अनुभव नहीं उधर हाथ ही न बढ़ाए। हेनरी जेंास ने इन्हीं विचारों को बड़े सुंदर ढंग से व्यक्त किया है—"अगर किसी लेखक की बुद्धि कल्पना-कुशल है तो वह सूक्ष्मतम भावों से जीवन को व्यक्त कर देती है। वह वायु के स्पंद को भी जीवन प्रदान कर सकती है। लेकिन कल्पना के लिए कुछ आधार अवश्य चाहिए। जिस तरुण लेखिका ने कभी सैनिक छावनियाँ नहीं देखीं उससे यह कहने में कुछ भी अनौचित्य नहीं कि आप सैनिक-जीवन में हाथ न डालें"। * परंतु अनुभव को व्यक्ति-अनुभव तक ही सीमित न रखना चाहिए। हमें वस्तुओं का ज्ञान पुस्तकों द्वारा भी होता है। कभी-कभी दूसरों से बातचीत करके भी हम बहुत-सी बातों का अनुभव प्राप्त करते हैं।

यह तो हुई कथा-सामग्री की बात। इस सामग्री के सफल उपयोग अर्थात् कथा-वस्तु के निर्वाह में भी एक कला होती है और इस कला पर ही उसकी रंजन-शक्ति निर्भर रहती है। घटनाओं की कुशल संघटना की ओर लेखक का ध्यान सदैव रहना चाहिए। घटनाओं को एक दूसरे से इस कौशल से संबद्ध होना चाहिए कि उनकी सभी

---

* देखिए 'उपन्यास' पर श्रीप्रेमचंद का निबंध।

बातों को देखने पर कोई बात छूटी हुई या असंगत न जान पड़े तथा उनके सभी अंगों में साम्य और समीचीनता हो। घटनाओं की शाखाओं-प्रशाखाओं को अपने मूल से तथा एक दूसरी से सहज रीति से प्रस्फुटित होना चाहिए। घटनाएँ चाहे जितनी असाधारण हों परंतु उनका प्रवाह इस प्रकार नियोजित होना चाहिए कि चाहे हम उनका आभास पहले पा गए हों या नहीं वे हमें पूर्वकथित घटनाओं का तर्कसंगत फल प्रतीत हों।

कथा-वस्तु की दृष्टि से उपन्यासों के दो भेद किए जाते हैं—एक तो वे जिनकी कथा-वस्तु असंबद्ध या शिथिल होती है (नावेल्स ऑव् लूज़ प्लॉट) और दूसरा वह जिसकी कथा-वस्तु संबद्ध या सुगठित (नॉवेल्स ऑव् ऑरगेनिक प्लॉट)। पहले में बहुत-सी घटनाओं का घटाटोप मात्र होता है, उनमें आपस में कोई सहज अथवा तर्कसंगत संबंध प्रायः नहीं होता। वर्णनान्विति (यूनिटी ऑव् नेरेटिव) कार्य-कलापों पर नहीं निर्भर रहती वरन् नायक के व्यक्तित्व पर निर्भर रहती है। नायक ही इन बिखरे हुए तत्त्वों और घटनाओं में संबंध स्थापित करता है और उसी के चरित्र को लेकर उपन्यास के भिन्न भिन्न अवयवों का ढाँचा खड़ा किया जाता है। ऐसा उपन्यास एक प्रकार से किसी व्यक्ति के जीवन की फुटकल घटनाओं का इतिहास-सा होता है। उसमें अनेक रोचक घटनाओं का विवरण मात्र होता है, किसी व्यापक ढाँचे की योजना नहीं। यह उपन्यास-लेखक की इच्छाओं का प्रतिबिंब मात्र होता है, वह उसे जैसा चाहता है गढ़ता चला जाता है। भिन्न-भिन्न घटनाओं में कोई युक्तिसंगत संबंध है या नहीं इस पर उसका ध्यान नहीं रहता। 'चंद्रकांता' आदि ऐसे ही उपन्यास हैं।

सुगठित कथा-वस्तु में घटनाएँ एक दूसरी से इस प्रकार संबद्ध रहती हैं कि वे साधारणतः अलग नहीं की जा सकतीं और सब अंतिम परिणाम या उपसंहार की ओर अग्रसर होती हुई उस उपन्यास को

ऐसा रूप दे देती हैं जिसमें उसके भिन्न-भिन्न अवयव एक दूसरे से मिले हुए प्रतीत होते हैं और उनको अलग-अलग करने से सबकी महत्ता नष्ट हो जाती है। ऐसे उपन्यासों की रचना एक व्यापक विधान के अनुसार की जाती है और उनकी सफलता घटना-समूहों पर निर्भर रहती है। इतना होने पर भी दोनों प्रकारों का भेद बहुत साधारण है, सूक्ष्म नहीं। किसी भी वस्तु-योजना के संबंध में केवल दो बातें देखनी चाहिए—एक तो यह कि उसका प्रवाह स्वाभाविक है और उसमें किसी प्रकार की कृत्रिमता नहीं है और दूसरी यह कि उसके विकास में जो उपाय काम में लाए गए हैं वे कम से कम उन परिस्थितियों में विश्वासजनक प्रतीत होते हैं।

स्वर्गीय प्रेमचंदजी ने कहा है कि 'मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र समझता हूँ'। उनके इस छोटे से वाक्य में ही उपन्यास-

चरित्र-चित्रण

कला का सारा रहस्य निहित है। उपन्यास के पूर्व-कथित समस्त तथ्यों का मूलाधार एकमात्र चरित्र-ही तो है। यहाँ चरित्र का अर्थ वह नहीं है जो साधारणतया आचारशास्त्र (एथिक्स) में समझा जाता है। काव्य के क्षेत्र में चरित्र-चित्रण का अर्थ है रागों और मनोवेगों के आधार-स्वरूप मानव-पात्रों का चित्रण। इसलिए सफल चरित्र-चित्रण की क्या-क्या विशेषताएँ हैं और उसके लिए उपन्यासकार किन-किन साधनों का प्रयोग करता है यह जान लेना भी आवश्यक है।

यदि उपन्यास मानव-चरित्र का चित्र है तो इसका सबसे बड़ा गुण है पात्रों की सजीवता। उपन्यासकार की मनःकल्पित सृष्टि में यदि हम अपनी वास्तविक सृष्टि की अनुरूपता न पा सकें, यदि इस नवीन सृष्टि के पात्र हमें किसी अनजाने देश के लगें और यदि उनके साथ हमारी वैसी ही सहानुभूति न हो सकी जैसी अन्य मानवों के साथ होती है तो वे मानव-सृष्टि के चित्र नहीं—किसी अन्य सृष्टि के

भले ही हों। यदि हम पात्रों में अपने ही जैसा राग, द्वेष, क्रोध, करुणा, प्यार, घृणा आदि भाव देखें, यदि वे विशेष परिस्थितियों में मानव जैसा आचरण करते हुए दिखलाई पड़ें, यदि हम स्वयं उनके सुख में सुख और दुःख में दुःख का अनुभव करें तो वे हमें अपने जैसे लगेंगे और यही मानव का सफल चित्र कहा जाएगा। यदि पात्रों में अपनी स्वच्छंद गति न हो, कोई संकल्प-शक्ति न हो और वे लेखक के संकेत पर ही नाचनेवाले हों तो उन्हें हम कठपुतली भले ही कह लें मानव नहीं कह सकते। चरित्रांकन की सफलता तो यह है कि पुस्तक बंद कर देने तथा सूक्ष्म विवरण भूल जाने पर भी उसके पात्र हमारी स्मृति में जीवित रह सकें। यह संभावना तभी आ सकती है जब उपन्यासकार मानवता की सामान्य पीठिका पर अपनी कल्पना की कूँची से रूप उरेहे, रंग भरे, जिसमें न तो अतिरंजना ही हो और न अव्याप्ति हो।

नाटकों में पात्रों का परिचय देने के अनेक साधन हैं, उपन्यासों में एक। अभिनय-कौशल, वेशभूषा तथा दृश्यावली के द्वारा नाटकीय पात्रों का हमें पूर्ण परिचय मिल जाता है, परंतु उपन्यास में ये सब साधन सुलभ नहीं। उपन्यास-पाठकों को अपनी कल्पना से ही पात्रों की चालढाल, वेशभूषा, बातचीत का अनुमान करना पड़ता है और इस अनुमान की एक मात्र सहायिका है लेखक की वर्णन-प्रणाली। अपने वर्णन के द्वारा ही उपन्यासकार अपने पात्रों को प्राण-शक्ति संपन्न करके हमारे मनोजगत में प्रत्यक्ष कर सकता है। इसके लिए पात्रों की बाह्य एवं आंतर विशेषताओं का सूक्ष्म ज्ञान अपेक्षित होता है। इन विशेषताओं को परखकर कुशल कलाकार उन्हीं को चुनता है जो उसके पात्रों पर अधिक से अधिक प्रकाश डाल सकें। इसलिए लेसिंग के कथनानुसार यह आवश्यक नहीं कि पात्रों के चरित्र-संबंधी साधारणतम विवरण दिए जाएँ, क्योंकि छोटी-छोटी अनावश्यक बातों के विवरण

से उपन्यास में सजीवता की अपेक्षा नीरसता ही अधिक आएगी। ❀ पात्रों के चरित्र को स्पष्ट करने के लिए उनके क्रिया-कलाप, रीति-नीति, बोलचाल तथा मनोवृत्ति का कितना और कैसा वर्णन अपेक्षित है इसका ज्ञान अत्यंत आवश्यक है।

चरित्र-चित्रण के लिए आजकल प्रधानतः दो रीतियाँ प्रयुक्त होती हैं—विश्लेषात्मक (एनेलिटिक) और कार्य-कारण-सापेक्ष या नाटकीय (ड्रामेटिक)। पहले में उपन्यासकार अपने पात्रों को निःसंग दृष्टि से देखता है, उनके भावों, विचारों, प्रवृत्तियों आदि का विश्लेषण करता है और कभी-कभी आधिकारिक निर्णय भी दे डालता है। परन्तु आधुनिक प्रवृत्ति दूसरी ही है। आजकल चरित्र-चित्रण की सबसे उत्कृष्ट कला तो यह है कि अपने पात्रों को प्राण-शक्ति से संपन्न करके लेखक उनको जीवन की रंगस्थली में सुख-दुःख से आँखमिचौनी करने के लिए छोड़ दे। जीवन के घात-प्रतिघात, उत्कर्ष-अपकर्ष में बहता हुआ चरित्र स्वयं ही अपने को अनावृत करे—अपनी दुर्बलता-सबलता एवं सुरूपता-कुरूपता का प्रदर्शन करे। लेखक का कार्य केवल दूर से बैठकर उसकी गति-विधि का निरीक्षण करना और उसमें सतत प्राण-धारा प्रवाहित करते रहना मात्र है। विधाता की सृष्टि के समान ही कलाकार की यह सृष्टि एक बार सृष्ट होकर कार्य कारण के नियमों से स्वयं संचालित हो जाती है। सृष्टि के प्राण अपने चरित्र-विकास के लेखक की लेखनी की अपेक्षा नहीं करते, वे तो स्वयं ही अपनी बातचीत और क्रिया-कलापों से अपने को प्रकाशित करते चलते हैं। लेखक को उनके बीच में पड़ने, बोलने या व्याख्या करने की बहुत कम आवश्यकता पड़ती है और यदि पड़ती भी है तो वह अन्य पात्रों के मुख से ही बोल लेता है, व्याख्या कर लेता है। इस रीति से भावों

❀ लैकून २०।

और विचारों के सूक्ष्मतम भेद भी बड़ी सफलता से चित्रित किए जा सकते हैं। यद्यपि वास्तविक जीवन में मनुष्य के क्रिया-कलाप ही मुख्यतः उसके चरित्र के विज्ञापक होते हैं परन्तु उपन्यास-सृष्टि में पात्रों की बातचीत से ही अधिकतर इस उद्देश्य की सिद्धि होती है। भावों का प्रवाह, प्रवृत्तियों का विरोध आदि अनेक आंतरिक व्यापारों का—जो हमारे चरित्र की कार्य-रूप में अभिव्यंजना के पहले होते हैं—संकेत पाठक को दे देना आवश्यक होता है। कथोपकथन के सिवा इसके लिए अन्य साधन नहीं। लंबा-चौड़ा व्याख्यात्मक वर्णन आकर्षण को कम करके कथा-प्रवाह को रोक देता है। चरित्र-विकास की नाटकीय रीति अधिक सजीव तथा अधिक वास्तविक होती है, और इसीलिए हमारे विश्वास को भी वहाँ अधिक आश्रय मिलता है।

रुचि समय की अनुगामिनी होती है। काव्य के चित्रों के विधान में भी इधर मानव की रुचि बहुत कुछ बदल चली है। काव्य-क्षेत्र में बहुत दिनों से अनोखे, असाधारण, महत् और आदर्श चरित्रों के देखते-देखते उनका आकर्षण घटने लगा है। मानव में काव्य-लोक को भी अपने लोक-सा ही देखने की जिज्ञासा हुई और उसने उसे जन-गण के अधिक निकट लाने का प्रयत्न किया। इस प्रयत्न के फल स्वरूप उपन्यास-सृष्टि में जन-साधारण की ही बस्ती बसाई गई। इस नवीन कला-जगत में समुद्र को फाँद जानेवाले पवनसुत हनुमान, भरी सभा में अंबर को अनंत बना देनेवाले भगवान् कृष्ण तथा देवकीनंदन के ऐंद्रजालिक तेजसिंह न रहे। इसके बदले इस लोक में भी झोपड़ों में रहनेवाले श्रमजीवी, खेतों और खलियानों में विचरनेवाले किसान, महलों में रहनेवाले भू-स्वामी तथा अट्टालिकाओं को शोभित करनेवाले नागरिकों की प्राण-प्रतिष्ठा हुई। अब वैभव, ख्याति तथा रूप-सौंदर्य मुख्य पात्रों के आवश्यक अंग न रहे। वास्तविकता और सजीवता ही आज की चरित्र-चित्रण-कला का आदर्श है।

दूसरी रुचि जो स्पष्ट लक्षित होती है वह यह है कि वर्तमान कथा-वाङ्मय में बाह्य परिस्थितियों का जो प्रभाव जीवन और चरित्र पर पड़ता है उस पर कम ध्यान दिया जाता है, तथा आंतरिक द्वंद्वों को दिखाने की ओर अधिक रुचि रहती है। आधुनिक नायकों को दुष्ट संसार और स्वार्थी मनुष्यों से इतना युद्ध नहीं करना पड़ता जितना अपने ही हृदय की कुप्रवृत्तियों से। आधुनिक नायक किसी विशेष प्रकार के चरित्र का प्रतिबिंब नहीं होता, न तो किसी विशेषता का मूर्त रूप होता है। कठपुतलियों की तरह उसका उद्देश्य किसी निश्चित कार्य-कौतुक का प्रदर्शन भी नहीं होता। वह तो पूर्ण एवं वास्तविक मनुष्य होता है; न तो सर्वांग सुंदर, न निरा असुंदर। उसके सामने जटिल समस्याएँ होती हैं, जिनके साथ उसे निरंतर युद्ध करना पड़ता है। प्रलोभन भी उसके सामने आया जाया करते हैं, जिन्हें वह कभी-कभी अपना भी लेता है। ऐसे विकासमय पात्र अथ से इति तक आकर्षक होते हैं।

कथा-वस्तु और पात्रों का उचित योग उपन्यासों का एक बड़ा प्रश्न है। यदि वस्तु-विन्यास पात्रों का ध्यान रखकर न किया जायगा तो पात्र कठपुतलियों के समान स्थिति की आवश्यकता के अनुसार सूत्र-संचालित से मालूम पड़ेंगे। दोनों के सामंजस्य की उचित रीति यह है कि दोनों को उपन्यास के प्रवाह में योग देनेवाली एवं एक दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया करनेवाली शक्तियों के रूप में देखा जाय। कथा-वस्तु चाहे सीधी-सादी हो या जटिल उसका विकास इसी के फल-स्वरूप होता है कि कुछ विशेष भावों, प्रवृत्तियों और विचारों वाले मनुष्य साथ-साथ ऐसी परिस्थिति में रख दिए जाते हैं जिससे एक का दूसरे पर प्रभाव पड़ता है अथवा आपस में स्वार्थों का द्वंद्व उत्पन्न हो जाता है। संभव है ये परिस्थितियाँ बहुत आवश्यक हों फिर भी परिस्थितियों के प्रति वैयक्तिक प्रतिक्रिया (पर्सनल रीऐक्शन) सदैव आकर्षण का

केंद्र रहेगी। इस प्रकार घटना का मूल पात्रों में होता है। अतः उसकी भी व्याख्या उसी प्रकार होनी चाहिए।

पात्रों के चरित्र-निर्माण में कथोपकथन का बहुत महत्त्व होता है। एक लेखक ने कथोपकथन की परिभाषा इस प्रकार दी है—

कम्पोजीशन व्हिच प्रोड्यूसेज़ दी इफेक्ट आव ह्यूमन टॉक—ऐज़ नियर्ली ऐज पॉसिबिल दी इफेक्ट आव कनवरसेशन व्हिच इज़ ओवर हर्ड। ※

कथोपकथन

उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार वास्तविक जीवन की बातचीत की अनुरूपता ही कथोपकथन का मापदंड है। उपन्यास के पात्र मानव के प्रतिबिंब होते हैं, अतएव उनकी बातचीत की कसौटी भी मानव की बातचीत ही होती है। किसी भी उपन्यास की सफलता के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि उसके पात्रों की बातचीत स्वाभाविक तथा प्रसंगानुकूल हो। स्वाभाविकता से आशय यह है कि वह बोलनेवाले पात्र के उपयुक्त हो और परिस्थिति-विशेष में संगत तथा सहज प्रतीत हो। कथोपकथन के इस अनुरोध की रक्षा करने के साथ ही साथ लेखक को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि कथोपकथन नीरस न हो जाय—उसमें पर्याप्त रमणीयता हो। परंतु वास्तविकता और रमणीयता दोनों ऐसे विरोधी गुण हैं कि इनका साथ-साथ निर्वाह कुशल कलाकार ही कर सकते हैं। यदि मनुष्य के साधारणतम दैनिक जीवन की बातचीत को ही अंकित कर दिया जाय तो उससे बढ़कर वास्तविकता दूसरी कहाँ मिलेगी? परंतु ऐसी बातचीत नितांत नीरस और प्रभावशून्य होगी। उसमें हमारा मन रम ही न सकेगा। इसके विपरीत यदि जान-बूझकर कथोपकथन को नाटकीय तथा प्रभावशाली बनाने का प्रयत्न किया जायगा तो उसमें कृत्रिमता आ जाने की बहुत संभावना रहेगी। ऐसे

※ आर्लो बेटस्—"टॉक्स ऑन राइटिंग आव इंगलिश", सीरीज़ २, पेज २३०

कृत्रिम कथोपकथन में हमारा विश्वास कभी न टिक सकेगा और उसे हम केवल लेखक द्वारा गढ़ा हुआ शब्द-कौतुक ही समझेंगे। अतएव उपन्यासकार को बहुत सँभलकर चलने की अतिरंजना करके न तो उसे नीरस वाग्जाल की रचना करनी चाहिए और न रमणीयता के अधिक चक्कर में पड़कर जीवन की सहज अभिव्यक्ति की अवहेलना। इस द्विधा 'अति' के बीच, दोनों के सफल सामंजस्य में ही उसकी कला होती है। वास्तविक जीवन की बातचीत को नवीन रूप, नवीन साँचे में ढालना ही पड़ेगा, परंतु ऐसा करने में इस बात का ध्यान रहे कि उसके प्राणों की रक्षा हो। साधारण जीवन की नर-नारियों की बातचीत को ही इस प्रकार उपस्थित करना चाहिए कि उनमें एक नाटकीय गति, नाटकीय शक्ति आ जाने पर भी वे हमें सहज, स्वाभाविक और युक्ति-संगत प्रतीत हों।

दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि लेखक को निरर्थक कथोपकथन से बचना चाहिए। कथोपकथन का उतना ही प्रयोग होना चाहिए जितने से कथा की प्रगति में अथवा चरित्रों के विकास में सहायता मिले। जिस कथोपकथन से इन उद्देश्यों की पूर्ति न होती हो वह असंबद्ध तथा विशृंखल सा लगेगा। आदर्श कथापकथन पात्रों के भावों, प्रवृत्तियों, मनोवेगों तथा घटनाओं के प्रति उनकी प्रतिक्रिया (रीऐक्शन) दिखाने के साथ-साथ कार्य-प्रवाह को भी आगे बढ़ाता जाता है। उपन्यास के अन्य अवयवों की भाँति कथोपकथन का लक्ष्य भी प्रभावान्विति (यूनिटी आव इंप्रेशन) की ओर ही रहना चाहिए।

कथोपकथन में वैयक्तिकता की रक्षा भी एक बहुत बड़ा प्रश्न है, लेखक प्रायः जिसका ध्यान नहीं रखते। परिस्थितियों के अनुसार पात्रों की बातचीत भी बदलती रहती है, परंतु यह ध्यान रखना चाहिए कि ऐसा परिवर्तन भी पात्रों के अनुरूप हो, उसमें उनका अपनापन, अपनी विशेषताएँ बनी रहें। कथोपकथन की सबसे बड़ी विशेषता तो

यह है कि उपन्यास के किसी भी अंग को पढ़कर हम कह दें कि यह अमुक अमुक पात्र की बातचीत है, दूसरे की हो ही नहीं सकती। प्रभावशाली पात्रों के लिए एक विशेष प्रकार से बोलने अथवा विचार करने की आदत उतनी ही आवश्यक है जितनी एक विशेष प्रकार से काम करने की आदत।

प्रायः देखा जाता है कि बहुत से लेखक संवादों के द्वारा ही अपने निश्चयों, सिद्धांतों, कल्पनाओं तथा ज्ञान-भंडार का दिग्दर्शन कराने लगते हैं। यह अधिकार का दुरुपयोग है। पाठक को ज्ञान की ऐसी धोखा-धड़ी की खूराक के विरुद्ध शिकायत करने का अधिकार है। यदि लेखक को किसी बात की विवेचना करनी है तो वह निबंध लिख सकता है। उसको यह जानना चाहिए कि उद्धरण-चिह्न लगा देने से ही कोई उक्ति कथोपकथन नहीं हो जाती। ❀

उपन्यास-सृष्टि को अधिक सजीव, सलक्षण तथा सुसंगत बनाने के लिए देश-काल अथवा बाह्य-परिस्थिति-चित्रण का आधार लिया जाता है।

देश-काल

अन्यथा पात्र केवल शून्य में खड़े से प्रतीत होंगे और उनमें मानवता की अनुरूपता न आ सकेगी। देश-काल के अंतर्गत कहानी के सभी बाह्य उपकरण अर्थात् उसकी योजना में सहायता देनेवाले आचार-विचार, रीति-नीति, रहन-सहन, प्राकृतिक पीठिका (नेचुरल बैक ग्राउंड) और परिस्थिति आदि आ जाते हैं। इस तरह हम देश-काल अथवा बाह्य संविधान (सेटिंग) के दो भेद कर सकते हैं—सामाजिक तथा भौतिक या प्राकृतिक (मेटीरियल)।

आधुनिक कथा-वाङ्मय की प्रवृत्ति विशिष्टता की ओर अधिक पाई जाती है। वर्तमान उपन्यास-वाङ्मय की यह एक प्रधान प्रवृत्ति है कि

❀"दी यूज़ आव कोटेशन-मार्क्स डज़ नॉट कन्वर्ट ए पैसेज इन्टू डायलॉग"

—आर्लो बेटस्।

वह सभी दिशाओं में अपना सूत्र-जाल फैलाकर जीवन की व्यापकता से होड़ लेने का प्रयत्न कर रहा है। इस प्रवृत्ति के फल-स्वरूप उपन्यासों की वर्ण्य वस्तु के भी विभाग तथा उपविभाग करने की रीति चल पड़ी है। इनके बीच कभी कभी विस्तृत विधानवाले उपन्यास भी दिखाई पड़ जाते हैं, परंतु अधिकतर भिन्न-भिन्न उपन्यासों में जीवन के किसी विशेष अंग, उपांग अथवा रूप का ही वर्णन पाया जाता है। इस प्रकार कुछ उपन्यासों का संबंध समाज के उच्च, मध्य अथवा निम्न वर्ग से रहता है, कुछ का मजदूरों और पूँजीपतियों से और कुछ का उद्योग-व्यवसाय अथवा कलात्मक जीवन से। इस प्रकार प्रत्येक उपन्यास जीवन की एक या दो विशेष दशाओं को लेकर चलता है। पाश्चात्य उपन्यास-वाङ्मय में तो उपन्यासों का भौगोलिक वर्गीकरण भी होता है; जैसे स्काच उपन्यास, आयरिश उपन्यास तथा वेसेक्स उपन्यास आदि। इसी तरह हिंदी के उपन्यासकार वृंदावनलाल की कृतियों को 'बुंदेलखंडी उपन्यास' भी कहा जा सकता है। ऐसे उपन्यासों में, जिनमें जीवन की किसी दशा-विशेष का अंकन ही उपेय हो, चरित्र-चित्रण और सामाजिक परिस्थितियों का पूर्ण एवं मार्मिक संबंध होता है, जिससे एक के विना दूसरे का विचार करना कठिन हो जाता है। परंतु ऐसे भी उपन्यास होते हैं जिनका प्रधान आकर्षण और साहित्यिक मूल्य उनके द्वारा किए गए विशेष श्रेणियों, सामाजिक वर्गों अथवा स्थानों के कुशल चित्रण में ही होता है। यहाँ उपन्यासकार की कृति की परख उसके वर्णनों की यथार्थता, सूक्ष्मता एवं प्रभावोत्पादकता के वल पर ही होनी चाहिए।

भौतिक या प्राकृतिक संविधान (मेटीरियल सेटिंग) कहानी को अधिक मार्मिकता तथा पात्रों को अधिक स्पष्टता देने एवं जगत और जीवन की विशालता का परिचय कराने के लिए किया जाता है। इस पीठिका का प्रयोग कलाकार भिन्न-भिन्न भाँति से कर सकता है। कहीं

तो वह एक मनोमय चित्र दिखाने की भावना से ही प्रेरित होता है जिसका जीवन से कोई लगाव नहीं होता, कहीं किसी स्थिति-विशेष को अधिक स्पष्ट करने के लिए आवश्यक आधार-तथ्य के रूप में ही बाह्य दृश्यों का विधान करता है और कहीं भावना-क्षेत्र में और आगे बढ़कर मानव-रागों, मनोवेगों आदि का बाह्य प्रकृति से संबंध स्थापित करता है। परंतु उपन्यासकार को सदैव इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि यह बाह्य चित्रण उसकी कला का एक अंग हो। ऐसे वर्णनों को जिनका कथा-प्रवाह के विस्तार अथवा चरित्र-विकास से कोई संबंध न हो अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिए, अन्यथा वे कथा के स्वाभाविक प्रवाह को अवरुद्ध करेंगे। कुछ लेखक ऐसे भी होते हैं जो पात्रों की प्रत्येक भंगिमा के साथ-साथ उनके चारों ओर की वस्तुओं का विवरण उपस्थित करने लगते हैं। फल यह होता है कि ऐसे वर्णनों से कथा का प्रवाह रुक जाता है और पाठक या तो उन पर सरसरी निगाह डाल लेते हैं या उन्हें बिलकुल छोड़ देते हैं।

इसका तात्पर्य यह नहीं कि वर्णनों की योजना की ही न जाय, प्रत्युत उचित स्थान पर उचित रीति से वर्णनों की भी अपेक्षा होती है। किसी स्थिति-विशेष का सफल अंकन न हो सकने के कारण कभी-कभी भावों की पूर्ण व्यंजना नहीं हो पाती और कोई अभाव सा खटकता रहता है। सूक्ष्म निरीक्षण के छोटे-छोटे चमत्कारों द्वारा ही इतनी शीघ्रता और पूर्णता के साथ वास्तविक जीवन का भ्रम उत्पन्न कराया जा सकता है। वातावरण के सफल तथा मनोरम चित्रण का कहानी के लिए बहुत मूल्य होता है। कभी-कभी सामान्य सड़कों, गलियों तथा बरसात में टपकनेवाले घरों के वर्णन से भी कहानी में विलक्षण मनोमोहकता आ जाती है।

भौतिक या प्राकृतिक दृश्य-विधान का सबसे सुंदर उपयोग वह है जब उपन्यासकार अपनी विशेष कला से मानव-भावनाओं के साथ

प्रकृति का विरोध या साम्य दिखलाता है। कभी-कभी तो उपन्यासकार विपत्ति-तांडव के समय प्रकृति का सुंदर सुरम्य रूप दिखाकर मानव के हर्ष-विषाद की ओर से प्रकृति की व्यंग्यात्मक उदासीनता का परिचय देता है और कभी-कभी इसके विपरीत उसके संवेदनशील रूप के दर्शन कराता है। मृत पति के शव पर क्रंदन करती हुई विकल अनाथा के लिए आँगन में फैली हुई शुभ्र शीतल चंद्रिका नियति का व्यंग्यात्मक हास ही तो है। ऐसे वैषम्य का भी अपना महत्त्व होता है और इससे कथा की मार्मिकता बहुत बढ़ जाती है। परंतु अधिकतर कलाकार इस वैषम्य-प्रदर्शन की अपेक्षा प्रकृति का संवेदनशील रूप ही अधिक चित्रित करते हैं और यह युक्ति मानव-मन से अधिक परिचित भी है। यहाँ प्रकृति उदासीन न रहकर मानव के हर्षोल्लास तथा विषाद में योग देती है। अपने अंतिम अवलंब रोहित के शव को लिए हुए महारानी शैव्या के तमसाच्छादित हृदय के झंझावात के साथ श्मशान की उस भयानक रात्रि का पूरा योग है। इस बाह्य प्रलयंकर चित्रण से पाठक की विपत्ति-भावना और भी तीव्र हो उठती है। प्राकृतिक भूमिका के संवेदनमय प्रयोग में प्रकृति प्रतीकात्मक होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यह बाह्य दृश्यविधान कई प्रकारों से कहानी में विशालता, विस्तार, गांभीर्य, शक्ति तथा सौंदर्य उपस्थित कर सकता है। परंतु जब तक इस तत्त्व का समावेश सुरुचि और सुबुद्धि से प्रेरित न होगा तब तक उसके साहित्यिक मूल्य में संदेह ही रहेगा। यह स्मरण रखना चाहिए कि यह बाह्य परिस्थिति-चित्रण तभी सफल हो सकता है जब वह कहानी के प्रधान उद्देश्य के अधीन और गौण हो।

'काव्य जीवन की व्याख्या, आलोचना या रहस्य है'—ऐसे वाक्यों का यथार्थ भाव ग्रहण न कर सकने के कारण ही लोग प्रायः काव्य का मूल्य इस मापदंड द्वारा आँकने में भूल कर बैठते हैं। अतः उपन्यास

में जीवन की व्याख्या या आलोचना का क्या अर्थ है, उपन्यासकार इसे किस प्रकार स्पष्ट करता है, इसका वास्तविक मूल्य क्या है, इन बातों को समझ लेना आवश्यक है। यह तो स्पष्ट

जीवन की व्याख्या

ही हो चुका है कि काव्य के अन्य रूपों के समान ही उपन्यास का संबंध भी पूर्णरूपेण मानव-जीवन से ही है। नर और नारी, उनके सांसारिक नाते-रिश्ते, उनके विचार एवं मनोवृत्तियाँ अर्थात् राग-द्वेष, क्रोध-करुणा, सुख-दुःख, जीवन-संघर्ष और उनकी जय या पराजय ही उपन्यास-सृष्टि के आधार हैं। इस तरह जब जीवन के ताने-बाने से ही उपन्यासकार अपनी सृष्टि बुनता है, उसके ही रंग में उसे रँगता है तो यह कैसे संभव है कि उसमें जीवन के प्रति उपन्यासकार की अपनी भावनाओं की छाया न हो, संकेत न हो। किसी नैतिक तथ्य या आदर्श के प्रतिपादन की ओर से वह कितना ही उदासीन क्यों न हो परंतु उसकी निजी भावनाओं की प्रतिछाया उसकी कृति पर पड़ ही जायगी। छोटी से छोटी कहानी की छानबीन करने पर भी हमें उसके पात्रों और घटनाओं में निहित किसी न किसी नैतिक भावना की झलक मिल ही जायगी। इसी प्रकार साधारण से साधारण उपन्यास का भी जीवन की किसी निश्चित दशा की ओर संकेत होता है। अपनी कृति में बहुत से सामान्य नियमों का समाहार करके उपन्यास-लेखक कम से कम जीवन का एक धुँधला सा चित्र उपस्थित करता है। बड़े-बड़े प्रतिभावान उपन्यासकारों ने जीवन का निरीक्षण ही नहीं किया है वरन् उस पर मनन भी किया है। उनका मानव-चरित्र का ज्ञान, उसकी प्रवृत्तियों और मनोवेगों की सूक्ष्म परख, अनुभूत सत्यों और समस्याओं का सुंदर समाहार तथा विलक्षण रचना-कौशल सब मिलकर उनकी कृति को एक नया ही गांभीर्य दे देते हैं, जिससे जगत् के प्रति उनकी जो अपनी भावना होती है उसमें एक नवीन नैतिक मूल्य आ जाता है। उनकी कृतियों में इस दर्शन

या रहस्य-तथ्य का कितना महत्त्व है यह इसी बात से स्पष्ट हो जाता है कि किसी उत्कृष्ट उपन्यास का विचार करते हुए हम जीवन पर ही विचार करने लगते हैं।

उपर्युक्त दर्शन-तथ्य का यह आशय नहीं है कि उपन्यास का कोई पूर्वनिश्चित उद्देश्य होता है। यह अवश्य है कि उपन्यासकार की जीवन के प्रति जो भावनाएँ हैं वे जान या अनजान में उसके पात्रों या घटनाओं का संचालन करती हैं परंतु उसकी कला का आधार ये भावनाएँ नहीं होतीं, बल्कि प्रतिदिन के मानव-व्यापार और क्रिया-कलाप ही होते हैं। कोई उपन्यासकार किसी मत का खंडन-मंडन या किसी सिद्धांत का प्रतिपादन करने के लिए उपन्यास-रचना नहीं करता। वह तो मानव-जीवन का निरीक्षण करके केवल उसके बहुत से छाया चित्र उपस्थित करता है। इन छाया-चित्रों में ही वह मूलभूत सत्य लिपटा होता है जिसे ढूँढ़ निकालना आलोचक का काम होता है। अतएव किसी भी बड़े उपन्यास में केवल लेखक के मानव-जीवन-संबंधी निरीक्षण मात्र होते हैं जिनमें सर्जन-शक्ति निहित होती है। इन्हीं निरीक्षणों का मनन तथा प्रतिपादन करके हमें एक नित्य सत्य का दर्शन होता है। उपन्यासों में जीवन-दर्शन का यही अर्थ है।

जीवन के रहस्य की यह झलक उपन्यासकार हमें दो प्रकार से दे सकता है। एक तो नाटककार की भाँति पात्रों तथा घटनाओं द्वारा ही, दूसरे बीच बीच में स्वयं परिचय या आलोचना के रूप में। पहले प्रकार में उपन्यासकार केवल मानव-जीवन से सामग्री चुनकर उसे संघटित भर कर देता है और चरित्रों के संपादन तथा कहानी के विकास के द्वारा हमें साधारणतया यह आभास दे देता है कि जीवन को वह किस दृष्टि से देखता है, क्या समझता है। इन छितरे-बिथरे तथ्यों को जुटाकर उनमें से किसी सिद्धांत को ढूँढ़ निकालना समालोचक का काम होता है। उपन्यासकार को नाटककार की अपेक्षा इस क्षेत्र में

अधिक स्वतंत्रता होती है। वह व्यक्त एवं प्रच्छन्न दोनों रूपों में अपनी भावना हम तक पहुँचा सकता है। जहाँ वह इस अधिकार का उपयोग करता है वहाँ वह स्वयं ही अपने इस काल्पनिक जगत का व्याख्याता बन बैठता है और समालोचक को उसकी भावनाओं को ढूँढ़ निकालने में कठिनाई नहीं होती।

उपन्यासों में जीवन की व्याख्या का विचार हमें दो प्रकार से करना चाहिए—एक तो उनकी सत्यता के आधार पर और दूसरे उनमें निहित सदाचार, धर्म अथवा आदर्श के आधार पर।

उपन्यासों में सत्य

काव्य और विज्ञान के सत्य में भेद होता है। सर्वप्रथम यूनानी आचार्य प्लेटो ने इन दोनों प्रकार के सत्य का भेद न समझकर ही संपूर्ण कल्पना-संभूत साहित्य को मिथ्या कह दिया था, परंतु थोड़े ही दिनों बाद अरस्तू ने इस भ्रम का निराकरण कर दिया और यह स्पष्ट कर दिया कि काल्पनिक कृतियों में एक 'काव्योचित सत्य' भी होता है जो ऐतिहासिक तथ्यों की अक्षरशः वर्णनवाली सत्यता से गूढ़ और व्यापक होता है। इतिहास का संबंध केवल जो 'था' या 'है' उससे ही होता है, परंतु उपन्यास थोड़ा और आगे बढ़कर जो 'हो सकता है' उसपर भी विचार करता है। कलाकार की सीमा संभाव्य आदर्शों तक भी होती है। इसी कारण विद्वानों ने साहित्य के दो भेद किए हैं; एक ज्ञान का साहित्य और दूसरा शक्ति का साहित्य। शक्ति के साहित्य को ही विधायक साहित्य (क्रिएटिव लिट्रेचर) या काव्य की संज्ञा मिली है। ज्ञान का साहित्य हमें जीवन के तथ्य देता है, शक्ति का साहित्य जीवन के चित्र। शुक्लजी के विचारात्मक निबंध अथवा पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा का 'राजपूताने का इतिहास' ज्ञान के साहित्य के अंतर्गत आएँगे। इनकी व्याख्या वैज्ञानिक ढंग पर होगी और इनका मापदंड होगा तथ्यों की यथार्थता। तथ्यों की यथार्थता पर ही निर्भर रहने के

कारण ज्ञान-विज्ञान के प्रसार के साथ साथ ऐसा साहित्य पुराना पड़ता जाता है। परंतु शक्ति के साहित्य की सत्यता मानव-जीवन को प्रभावित करनेवाले रागों, मनोवेगों, नियमों, सिद्धांतों आदि के उचित चित्रण पर निर्भर रहती है। इसी लिए ऐसा साहित्य प्राचीन होते हुए भी नित्य नूतन होता है। शकुंतला नाटक पढ़कर आज भी हमारे हृदय में वे ही भाव उठते हैं जो उसके निर्माता कविकुलगुरु के हृदय में उठे थे। तुलसी का 'मानस' चिरकाल तक हमारी नसों में एकरस जीवन का स्रोत प्रवाहित करता रहेगा।

"गल्प—साहित्य में नाम और तिथियों के अतिरिक्त सब सत्य होता है और इतिहास में नाम और तिथियों के अतिरिक्त कुछ सत्य नहीं होता।" इस प्रसिद्ध उक्ति का आशय इतिहास की निंदा करना नहीं है। वरन् यह विरोधाभास विलक्षणतापूर्वक उस सत्य को हृदयंगम करा देता है जिस पर उपन्यासों की महत्ता निर्भर रहती है। उपन्यासकार अपने विषय को जिस प्रकार चाहे उपस्थित कर सकता है, पर जब तक वह संभाव्य आदर्शों तथा जीवन के महान तात्त्विक तथ्यों और शक्तियों के घेरे में रहता है तब तक हम उसकी कृति की निंदा नहीं करते।

आजकल सत्य और आनंद में जितना वैभिन्न्य समझा जा रहा है वास्तव में उतना है नहीं। काव्य के क्षेत्र में भाव और पद्य में जितना सूक्ष्म भेद है वैसा ही सत्य और आनंद में भी। जिस प्रकार भाव को पद्य से अलग करके भी समझा जा सकता है परंतु उसका पूर्ण रस तो कवि के शब्दों में ही भावमग्न होकर लिया जा सकता है उसी प्रकार सत्य को सौंदर्य अथवा आनंद से पृथक् करके देखा अवश्य जा सकता है, परंतु उस अवस्था में वह केवल कुछ अन्वेषक विद्वानों की वस्तु रह जाएगा, सामान्य मानवता के लिए तो उसकी उपयोगिता तभी होगी जब वह जन-मन-रंजक होकर आए और आते ही हृदय में उतर जाय।

उपन्यासों में नैतिक तत्त्व को भी, सत्यता के तत्त्व के समान, व्यापक दृष्टि से देखना चाहिए और उसकी यथोचित उपयोगिता पर जोर भी देना चाहिए। किसी विशेष उद्देश्य को सामने रखकर अर्थात् किसी विशेष विषय के प्रतिपादन के लिए लिखे गए उपन्यासों को हम लोग साधारणतः संदेह की दृष्टि से देखने लगते हैं; और यह ठीक भी है, क्योंकि चने का चबाना और शहनाई का बजाना साथ साथ नहीं हो सकता। आपवादों के रहते हुए भी यह कहा जा सकता है कि दो काम—अच्छी कहानी लिखना और साथ साथ उपदेश देना या दार्शनिक निबंध अथवा राजनीतिक प्रबंध उपस्थित करना—एक साथ करने में कभी सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि लेखक का कोई साधारण उद्देश्य न हो। साधारण और विशेष उद्देश्यों में भेद होता है और इसे समझने में भूल न करनी चाहिए। स्पष्ट उपदेश देना और बात है तथा किसी कृति के अंतर्गत एक व्यापक नैतिक भावना का समन्वय होना और। यद्यपि कुछ विद्वानों का यह कहना है कि उपन्यास नीति की ओर से उदासीन होते हैं और नीति से उनका कोई प्रयोजन न होना चाहिए, फिर भी यह सत्य है कि संसार के बड़े बड़े उपन्यासकार बड़े नीतिविद् हुए हैं और अपनी रचनाओं में उपस्थित किए गए वास्तविक तथ्यों के नैतिक रूप पर पर्याप्त ध्यान दिया है। अतएव उनकी रचनाओं में एक साधारण नैतिक दार्शनिक तथ्य सदैव मिला रहता है।

उपन्यासों में नीति

इसके साथ ही उपन्यास में कला की रक्षा के साथ इस प्रकार के नैतिक उद्देश्यों की प्रतिपादन-पद्धति को भी अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। नीति कहानी के विन्यास में ही निहित होनी चाहिए, उपन्यासकार को प्रचारक अथवा उपदेशक का रूप नहीं धारण करना चाहिए। अतएव उपन्यास की सारभूत नीति को हमें उसकी स्पष्ट

कथित शिक्षाओं में उतना नहीं ढूँढ़ना चाहिए जितना उसकी समस्त जीवन-व्याख्या, विचार, पात्र, क्रिया-कलाप और प्रसंगगत टीकाओं में। उपन्यासों की व्यक्त अथवा अव्यक्त दार्शनिक नीति का निरूपण करते समय हमें संपूर्ण कृति के भावार्थ, प्रकृति और सारांश का ध्यान रखना चाहिए।

इस प्रकार निष्कर्ष यह निकला कि उपन्यासों पर अपना अंतिम निर्णय देते समय हमें उद्देश्यमूलक नीति पर भी विचार करना चाहिए। बिना इसके तत्त्वदर्शन अधूरा रह जायगा। 'काव्य जीवन की व्याख्या है' इस उक्ति की आलोचना करते हुए एक विद्वान् ने लिखा है—"आज तक यदि साहित्य के इतिहास द्वारा कोई बात निश्चित रूप से सिद्ध हुई है तो वह यह कि मानव-जाति की आत्म-रक्षक प्रवृत्ति उस कला का कभी स्वागत नहीं करती जिसके द्वारा उनकी मानसिक अथवा नैतिक उन्नति न होती हो। उन भावों के साथ जो उनकी उन्नति के नियमों के विरोधी हैं, वह अधिक काल तक नहीं चल सकती। कला को वास्तविक महत्ता प्रदान करने के लिए नीति का प्रयोग आवश्यक होता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि कलाकार को जान-बूझकर उपदेशक हो जाना चाहिए अथवा बरबस नीति का समावेश कर देना चाहिए। कला और नीति के उद्देश्य भिन्न भिन्न हैं। एक का कार्य है विश्लेषण करना और शिक्षा देना, दूसरी का संकलन करके मूर्तिमान करना और आनंदोद्रेक करना। परंतु सभी कलाएँ विचारों और भावों की स्वरूप-प्रतिष्ठा करती हैं। अतएव सबसे महान कला वही होगी जो अपने संकलन में विचारों और भावों की गहनतम उलझन का भी समावेश कर ले। मानव-प्रकृति समझने की जितनी ही अधिक क्षमता कवि में होगी, जीवन की सुव्यवस्थित उलझन जितनी ही पूर्णता के साथ वह उपस्थित कर सकेगा, उतना ही महान वह होगा। मानव-जाति का बर्बरता से सभ्यता की ओर बढ़ने का सारा उद्योग अपने

नैतिक गौरव को बनाए रखने और बढ़ाने का उद्योग है। नैतिक गुणों की रक्षा और भरण-पोषण द्वारा ही हम उन्नति करते हैं। हमारी सारी शक्तियों का निर्दोष पूर्णता के रूप में संविधान नैतिक संवाद है। अतएव वे कलाकार जो महत्ता की आकांक्षा रखते हैं, नीति के विरुद्ध अथवा उससे उदासीन नहीं हो सकते।"*

उपर्युक्त कथन उपन्यासों के विषय में भी संगत है। उपन्यासों और अन्य कल्पना-संभूत साहित्य के विषय में यह कहा जाता है कि कला का नीति से कोई संबंध नहीं है। इसका उत्तर यही है कि नीति का जो अर्थ उपर्युक्त उद्धरण में लिया गया है उस अर्थ में कला और नीति का मार्मिक संबंध है। कला जीवन से उत्पन्न होती है, जीवन द्वारा पोषित होती है और जीवन पर उसकी प्रतिक्रिया होती है। अतएव उसका बड़ा भारी उत्तरदायित्व है। अतः कलाकार मात्र को नीति-क्षेत्र से अलग बतलाना भूल है। उपन्यासकार के विषय में तो यह और भी नहीं कहा जा सकता कि उसका नीति से कोई संबंध नहीं। क्योंकि जीवन का विवेचन करते समय यह आवश्यक है कि वह नैतिक तथ्यों और प्रश्नों का भी जिनका जीवन के साथ संबंध है विचार करे। और उसकी कृति की महत्ता बहुत कुछ उसकी नैतिक शक्ति और अंतर्दृष्टि तथा उसकी संपूर्ण दार्शनिक व्याख्या के भावार्थ और प्रवृत्ति पर निर्भर रहती है।

(३) उपन्यासों के प्रकार

उपन्यास-वाङ्मय की वृद्धि के साथ ही साथ उपन्यासों के प्रकार में भी असाधारण वृद्धि हुई है। आज दिन तो उपन्यासों के अनेक विभेद किये जाते हैं। इनमें कुछ तो किसी विशेष तत्त्व, यथा घटना, चरित्र

---

* जॉन एडिंग्टन सीमॉण्डस्—"ऑन पोयट्री ऐज क्रीटिसीज्म आव लाइफ", पेज २२५–२२६।

आदि की प्रधानता के आधार पर किए जाते हैं और कुछ वर्ण्य वस्तु के आधार पर। तत्त्वों की प्रधानता के आधार पर घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान और घटना-चरित्र-प्रधान (नाटकीय) ये तीन मुख्य भेद किए जाते हैं। वर्ण्य वस्तु के विचार से धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, प्रागैतिहासिक, ऐतिहासिक, आर्थिक, यौन और प्राकृतिक (प्रकृति का अंकन करनेवाले) आदि अनेक भेद किये जा सकते हैं। इन सभी प्रकार के उपन्यासों की प्रधान विशेषताओं का ध्यान रखते हुए इनके मुख्य चार भेद करना सुविधाजनक होगा; यथा घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान, घटना-चरित्र-सापेक्ष या नाटकीय और ऐतिहासिक। घटना-प्रधान उपन्यासों में तो प्रायः चमत्कार मात्र दिखलाना लक्ष्य होता है। उनमें बहुधा किसी विशेष परिवार, समाज अथवा देश के चित्रण का प्रयास नहीं मिलता। जासूसी उपन्यासों का भले ही समाज से कुछ संबंध होता हो परंतु समाज का चित्रण उनका भी ध्येय नहीं होता। चरित्र-प्रधान तथा नाटकीय उपन्यासों का विषय सामाजिक, राजनीतिक अथवा पारिवारिक कोई भी हो सकता है। ऐतिहासिक उपन्यासों में चरित्र-चित्रण भी होता है और घटनाएँ भी घटित होती हैं, परंतु इनका प्रधान उद्देश्य किसी दूरस्थ अतीत की झलक दिखाना होता है, जिसका विवेचन दूसरे ही आदर्शों पर किया जाता है। अतएव इन्हें एक अलग कोटि में रखना ही अधिक युक्तियुक्त जान पड़ता है।

उपन्यास के उपर्युक्त चार भेद तो इसके रूपभेद के आधार पर किए जाते हैं। आजकल लोग उपन्यासों में आदर्शवादी और यथार्थवादी भेद भी करने लगे हैं। परन्तु वास्तव में इस विभाजन का कोई तर्कसंगत आधार नहीं। लेखक के दृष्टिभेद के आधार पर ही यह विभाजन किया जाता है, अन्यथा यथार्थवादी और आदर्शवादी उपन्यासों के रूप में कोई तात्त्विक अंतर नहीं होता।

कहानी। सबसे सरल और प्राचीन रूप वह है जिसमें एक के

बाद दूसरी बहुत सी अलौकिक एवं आश्चर्योत्पादक घटनाओं का वर्णन होता है। यह दादी-नानीवाली कहानियों का परिवर्द्धित और विकसित रूप सा होता है।

घटना-प्रधान उपन्यास

हिंदी की कहानियों और उपन्यासों के आरंभिक काल में ऐसी ही घटना-प्रधान कहानियों का बोलबाला था। ऐसी कहानी हम लोगों के सहज कुतूहल को ही जागरित और शांत करती है। उसमें केवल घटनाओं का घटाटोप होता है। उसमें बहुधा न तो कोई क्रम होता है न व्यवस्था। आदिम कहानियों की भाँति हम लोग उसमें भी यही सोचा करते हैं कि 'तब फिर आगे क्या हुआ'। हम लोगों का आकर्षण नायक के प्रति नहीं, घटनाओं के प्रति होता है और ये घटनाएँ अवश्य ही आश्चर्योत्पादक होती हैं, क्योंकि इसका कुछ ठिकाना नहीं कि वे क्या होंगी। चंद्रकांता-संतति में ही हम लोगों का आकर्षण इंद्रजीत सिंह, आनंद सिंह, राजा गोपाल सिंह या माया रानी आदि पात्रों के चरित्रों में नहीं होता। हम तो यही देखने को उत्सुक रहते हैं कि फिर माया रानी उस बंद कोठरी से कैसे निकली, इंद्रजीत सिंह ने कैसे तिलस्म में प्रवेश किया, गोपाल सिंह कूएँ में दफनाए जाकर भी कैसे माया रानी को चकित करने के लिए जीवित निकल आए इत्यादि। बाबू देवकीनंदन खत्री की दिमागी टकसाल से निकले हुए वे पात्र सर्व-शक्तिशाली हैं। वे दावे के साथ कह सकते हैं—'हम क्या नहीं कर सकते'। उनके लिए सब कुछ संभव है। ऐसे उपन्यासों में यह आवश्यक नहीं कि कार्य और स्थान में आधार-आधेय का संबंध हो। क्रिया-कलापों में लेखक अपनी विस्मयकारिणी घटनाओं वाली रुचि की निरंतर ही स्वच्छंदतापूर्वक तुष्टि करता है। यही उनको उनका सरल आकर्षण प्रदान करता है। एक से बचकर दूसरी घटना में उलझ जाना ही उनका कार्य-कलाप है।

इस शुद्ध आकर्षण को आधुनिक लेखक नहीं पा सकते। यह वस्तु-विन्यास के अभाव और अनियंत्रित, अव्यवस्थित, स्वच्छंदता पर निर्भर रहता है। वस्तु-विन्यास और चरित्र-विकास के अधिकाधिक अन्योन्याश्रित होने के कारण यह विशेषता तिरोहित हो गई। परंतु इससे मिलता-जुलता एक प्रकार का उपन्यास और होता है जिसकी सीमाएँ अधिक नियंत्रित होती हैं और जिसमें अधिक कुशलता की अपेक्षा होती है। इसको अँगरेजी में रोमांस कहते हैं। इसका भी उद्देश्य कुतूहल-जागर्ति ही है। कुतूहल की मात्रा घटनाओं का निश्चित क्रम स्थापित करके बहुत बढ़ाई जा सकती है। पाठक सोचने लगता है कि देखो अब क्या होता है। घटनाओं की माला अथवा अवली में यदि पूर्वापर संबंध स्थापित कर दिया जाय तो लेखक पाठकों में आशा, निराशा, भय, आशंका आदि की तीव्रतर भावनाएँ उद्बुद्ध कर सकता है। साथ ही आनंद को बनाए रखने के लिए ऐसा आभास देता है कि उनकी पुनः शांति हो जाती है। ऐसे उपन्यासों का अंत सुखद होना चाहिए।

अतएव घटना-प्रधान उपन्यासों में ओजस्विनी एवं वीरताप्र घटनाओं द्वारा प्राप्त सहज प्रसन्नता ही हमारे आकर्षण का कारण होती है। ऐसा क्यों होता है, क्यों लोग 'चंद्रकांता' की कपोल-कल्पित कथाओं के पढ़ने में नहाना-खाना भूल जाते हैं, यह प्रश्न मनोवैज्ञानिकों का है, परंतु इसमें संदेह नहीं कि ऐसा होता अवश्य है। ऐसे उपन्यासों में एक साधारण सी घटना के अप्रत्याशित परिणाम फैलते चले जाते हैं। एक जटिल सघन दुरूह जाल सा बुन जाता है जो अंत में अलौकिक ढंग से स्पष्ट किया जाता है। क्रिया-व्यापार, उसका जटिल विकास या वृद्धि तथा उसके स्पष्टीकरण में ही हमारी वृत्ति लीन रहती है और यही हमारे मनोरंजन का कारण होता है। उसमें चरित्र भी होते हैं और घटनाएँ भी। परंतु घटनाएँ ही मुख्य वस्तु होती हैं।

पात्रों का स्वरूप एवं चरित्र प्रासंगिक और कथावस्तु का सहायक होता है। पात्रों का चरित्र वैसा ही और उतना ही होता है जितना घटनाएँ अपेक्षा रखती हैं।

ऐसी कहानियों में साधारण सभ्य जीवन से भिन्नता होती है। यह भिन्नता उनके स्वरूप और प्रकृति के ही फल-स्वरूप है। जीवन की दैनिक नीरस घटनाओं की सीमा से निकल भागना ही इन लेखकों की प्रवृत्ति होती है। परंतु यह निकल भागना सुरक्षित होना चाहिए। नायक को विपत्तियों, दुर्घटनाओं आदि के आवर्त में पड़कर भी अक्षत, सुरक्षित रूप से वापस आ जाना चाहिए। नायक की सुख-समृद्धि की प्राप्ति के लिए कुछ गौण पात्र काल-कवलित हो जाते हैं, दुर्जन मार डाले जाते हैं और यदि ऐसा करने से कार्यसिद्धि होती हो तो कुछ सज्जनों का भी बलिदान कर दिया जाता है। अर्थात् कथा-वस्तु का उतार-चढ़ाव हम लोगों की इच्छा के अनुसार होता है, तर्कबुद्धि के अनुसार नहीं। आपदाओं और संकटों के रहते हुए भी सुरक्षित रहने, आकाश-पाताल एक करके, यथासंभव नियमों का उल्लंघन करके भी, उनके परिणामों से बच जाने की हमारी स्वाभाविक इच्छा को वह और भी अधिक शक्ति के साथ प्रकट करता है। वह जीवन का चित्र नहीं, इच्छाओं का काल्पनिक मूर्तविधान होता है। ऐसे उपन्यासों का तब तक साहित्यिक मूल्य कुछ भी नहीं होता जब तक वे किसी हद तक चरित्र-प्रधान भी न हों। ऐसे उपन्यासों की हिंदी में भरमार है। 'चंद्रकांता', 'भूतनाथ', 'जासूस' ऐसे तिलस्मी, ऐयारी और जासूसी उपन्यास इसी कोटि में आएँगे।

जिस प्रकार घटना-प्रधान उपन्यासों का सारा आकर्षण विभिन्न रोमांचकारी घटनाओं पर निर्भर रहता है और उसमें पात्रों का विशेष स्थान नहीं होता, उसी प्रकार चरित्र-प्रधान उपन्यासों में संपूर्ण आकर्षण भाँति भाँति के चरित्रों, उनके पारस्परिक व्यवहार और प्रति-

क्रियाओं द्वारा होता है। इनका कोई निश्चित कार्यक्रम अथवा पूर्वनिर्धा-
रित अंत नहीं होता, जिसकी ओर उपन्यास की
चरित्र-प्रधान उपन्यास अन्य वस्तुएँ द्रुतगति से जाती जान पड़ें। यह गति
हीनता ही इस प्रकार के उपन्यासों की विशेषता
है। श्रीजैनेंद्रकुमार का 'सुनीता' उपन्यास इस प्रकार के उपन्यासों का अच्छा उदाहरण है। 'सुनीता' पढ़ते चले जाइए, पता न चलेगा कि कहानी किस ओर जा रही है, इसका कहाँ और कैसे अंत होगा।

चरित्र-प्रधान उपन्यासों के चरित्र कथा-वस्तु का ही एक भाग नहीं होते, उनकी पृथक् सत्ता होती है और घटनाएँ उनके अधीन होती हैं। 'सुनीता' के श्रीकांत, हरिप्रसन्न तथा सुनीता अपना अपना अलग अस्तित्व रखते हैं। वे परिस्थितियों या घटनाओं के दास नहीं वरन् परिस्थितियाँ या घटनाएँ स्वयं उनके इशारे पर नाचती हैं। ये चरित्र प्रायः आदि से अंत तक एकरस रहते हैं। आरंभ से ही इनमें एक पूर्णता तथा अपरिवर्तनशीलता रहती है। 'सुनीता' के आरंभिक पृष्ठों में ही हमें इसके प्रधान पात्रों का जो परिचय मिलता है उसमें अंत तक हमें उलट-फेर करने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। यही इन पात्रों की सबसे बड़ी विशेषता है। वे एक सुपरिचित भूदृश्य के समान होते हैं, जो कभी कभी छाया-प्रकाश के विशेष प्रभाव द्वारा परिवर्तित सा होकर अथवा किसी दूसरे कोण से देखने पर हमें आश्चर्यान्वित कर देता है। पात्रों के गुण-दोष आदि उनमें आरंभ से ही रहते हैं, वे नहीं बदलते। केवल बदलता है तद्विषयक हमारा ज्ञान।

कुछ लोग इस अपरिवर्तनशीलता को दोष मानते हैं, उनका कहना है कि पात्रों को जीवन के अधिक अनुरूप होना चाहिए। घूमते रहकर उन्हें अपने सभी अंगों का प्रदर्शन करना चाहिए, स्थिर रहकर केवल एक का नहीं। संभव है कि यह वास्तविकता के विरुद्ध हो, परंतु फिर भी ऐसे चरित्र होते हैं। चरित्र-प्रधान उपन्यासों में वे अनेक की संख्या

में मिलेंगे। तो क्या जितने इस प्रकार के महान उपन्यासकार हुए हैं उनकी ये गलतियाँ हैं ? नहीं, यह समझना अधिक उचित और संगत है कि उनकी इस गतिहीनता में भी एक नियम है। चरित्र गतिहीन न हों, इसका इसके सिवा कोई कारण नहीं कि आजकल समालोचना की प्रवृत्ति इस ओर नहीं है। बिना अपरिवर्तनशीलता के लेखक रीति-नीति, रहन-सहन और चरित्रों की इतनी विभिन्नता इतनी स्पष्टता से हमें नहीं दिखला सकता है। इस प्रकार सीमाबद्ध रूप से स्थिर होना, प्रत्येक पात्र की निरंतर पूर्णता ही है, जिससे विभिन्नता का संकेत हमें मिलता है और उसे स्वतः सिद्ध बनाता है। जीती जागती वस्तुओं के एक समूह में स्पष्ट अंतर देखने के लिए हमें उनकी गति रोकनी ही पड़ेगी। जब तक हम उन्हें देखते रहते हैं तब तक उन्हें बदलना नहीं चाहिए; नहीं तो हम भेद नहीं कर सकेंगे। अथवा दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि चरित्रों की भिन्नता का भाव, अधिक से अधिक प्रभाव के साथ उत्पन्न करने के लिए, पात्रों को गतिहीन बनाना ही पड़ता है।

चरित्र-प्रधान उपन्यास की घटनाएँ या स्थितियाँ विशिष्ट होती हैं और उनका समावेश पात्र-विषयक हमारे ज्ञान की वृद्धि के ही लिए किया जाता है। जब तक ऐसा होता रहता है तब तक कोई भी संभाव्य घटना घटित हो सकती है। कार्य-कलाप किसी आंतरिक विकास अथवा पात्रों के आंतरिक परिवर्तन द्वारा उत्पन्न नहीं होता, और न कथा-वस्तु का ही काम पात्रों का विकास चित्रित करना होता है। गतिहीन होने के कारण वे विकसित हो ही नहीं सकते। कथा-वस्तु का काम केवल पात्रों की, आरंभ से ही उपस्थित भिन्न भिन्न विशेषताओं को सामने लाकर रख देना तथा उन्हें नई नई स्थितियों में रखकर और उनके पारस्परिक संबंध में परिवर्तन करके उनका एक जाति अथवा वर्गगत व्यवहार दिखलाना होता है। अंग्रेजी के उपन्यासों में ये गुण पूर्ण रूप से पाए जाते हैं। 'दिल्ली का दलाल', 'बुधुआ की

बेटी', 'शराबी' या 'सरकार तुम्हारी आखों में' इन सभी उपन्यासों के प्रायः प्रधान पात्र अपरिवर्तनशील, जातिगत अथवा वर्गगत पात्र हैं। परिस्थिति के द्वारा उनके चरित्र में परिवर्तन बहुत कम लक्षित होता है। आदि से अंत तक हम उन्हें एक सा पाते हैं। यदि उनके विषय में कोई नवीन बात मालूम होती है तो वह ऐसी नहीं जो उनके चरित्र के भीतर पहले से वर्तमान न रही हो, केवल उनके प्रदर्शन का समय नहीं आया था। इस तरह हम देखते हैं कि चरित्रों को पूर्ण रूप से अनावृत करने के लिए नई नई स्थितियों की आवश्यकता होती है। इस प्रकार की स्थितियाँ उतनी ही अधिक होंगी जितनी लेखक में सर्जन करने की शक्ति होगी। इनमें वैचित्र्य बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि वह कथा-वस्तु द्वारा परिमित न हो। आवश्यकतानुसार आविर्भाव या निर्माण करने की स्वतंत्रता उसे होनी चाहिए। अतएव यह आवश्यक है कि ऐसे उपन्यासों की कथा-वस्तु अपेक्षाकृत शिथिल हो। चरित्र-प्रधान उपन्यासों की कोटि में हमारे यहाँ श्रीजैनेंद्रकुमार, उग्र, ऋषभचरण जैन, चतुरसेन शास्त्री आदि की कृतियाँ आती हैं।

नाटकीय उपन्यास

नाटकीय उपन्यास उपन्यास-वाङ्मय का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग है। कुछ विद्वानों का तो कहना है कि इन्हीं उपन्यासों में कला की पूर्णता दिखाई देती है। इनमें कथावस्तु और चरित्र का भेद नहीं रह जाता। दोनों का अन्योन्याश्रित संबंध होता है। दोनों एक दूसरे में अभेद्य रूप से मिले रहते हैं। पात्रों की मनोवृत्ति और क्रियाशीलता ही, भविष्य का कार्य-कलाप निश्चित करती हैं और क्रिया-कलाप उत्तरोत्तर, अधिकाधिक पात्रों में परिवर्तन किया करता है। इस प्रकार सब कुछ एक निश्चित ध्येय की ओर चला जाता है।

इन उपन्यासों में कथावस्तु का कोई बाहरी ढाँचा नहीं होता जिसमें पात्र उठाकर रख दिए गए हों, जैसा घटना-प्रधान उपन्यासों में होता

है। इनमें घटनाओं और चरित्रों का उचित पारस्परिक संबंध नितांत आवश्यक है। यदि हम इस प्रकार के उपन्यासों को देखें तो ज्ञात होगा कि घटना अथवा स्थिति में परिवर्तन होने से पात्रों में भी परिवर्तन हो जाता है और प्रत्येक परिवर्तन—नाटकीय अथवा मनोवैज्ञानिक, बाह्य अथवा आंतर—अंशतः दोनों के द्वारा उत्पन्न होता अथवा अपना निश्चित रूप प्राप्त करता है। पात्रों के कुछ गुण उनमें आरंभ से ही उपस्थित रहते हैं और ये गुण अथवा विशेषताएँ अपरिवर्तनशील होती हैं, परंतु चरित्र-प्रधान उपन्यास के पात्रों की तरह नहीं। चरित्र-प्रधान उपन्यास के पात्रों के गुण स्थिर रहते हैं, बढ़ते-घटते नहीं। जिस प्रकार का व्यवहार वे उपन्यास के आरंभ में करते थे, ठीक वैसा ही अंत में भी करते हैं। परंतु नाटकीय उपन्यास के पात्रों में विकास होता रहता है, वे गतिशील होते हैं। उनके गुण बदलते नहीं आधार रूप से वे हो रहते हैं, परंतु वे विकसित होते रहते हैं। उनकी यह विकासोन्मुख एकरसता ही, एक आवश्यक नियम की भाँति, घटनाचक्र आरंभ कर देती है, और इन्हीं घटनाओं द्वारा वे अपने को स्पष्ट करते हैं। पात्र घटनाओं को प्रभावित करता, कठिनाइयाँ उत्पन्न करता और बाद को भिन्न परिस्थितियों में उन्हें सुलझा भी देता है। एक प्रकार से हम कह सकते हैं कि पात्रों और घटनाओं में कार्य-कारण-संबंध होता है। इस दृष्टि से वे उपन्यास घटना और चरित्र-प्रधान दोनों से भिन्न होते हैं। उनमें घटनाओं और पात्रों में भेद होता है परंतु इनमें नहीं। हम कह सकते हैं कि सब कुछ चरित्र ही चरित्र होता है और साथ ही साथ सब कुछ घटना-विस्तार, कार्य-कलाप भी होता है।

घटना-परिवर्तन के फल-स्वरूप चरित्र-परिवर्तन होते हुए भी नाटकीय उपन्यासों की कथा-वस्तु का उपयुक्त और सत्य होना अत्यंत आवश्यक है। इसका कारण यह है कि उसमें दो प्रकार की सत्यता होती है—आंतरिक और बाह्य। आंतरिक सत्यता तो यह है कि उसी

के द्वारा चरित्रों का विकास, अनुसंधान और स्पष्टीकरण किया जाता है और बाह्य यह कि वह घटना-क्रम का स्वाभाविक एवं उचित विकास है। इन दोनों प्रकार के सत्यों की यहाँ अभेद्य अन्विति हो जाती है। अतएव इन उपन्यासों की कथा-वस्तु एक साथ ही तर्कसंगत भी होती है और अयत्नकृत अथवा स्वतःप्रवर्तित भी। इसी को हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि कथा-वस्तु आवश्यक भी होती है और स्वच्छंद अथवा स्वतंत्र भी। पात्रों में कुछ बात अपरिवर्तनशील सी रहती है, जो उनका पारस्परिक अथवा घटनाओं के प्रति प्रत्युत्तर निश्चित करती है। यह उनकी तर्क-संगति है। इसके विपरीत चरित्रों में विकास होता रहता है, और यह विकास नई संभावनाएँ उत्पन्न करता है, जिससे अप्रत्याशित परिणाम निकलते हैं। यह उनकी स्वच्छंदता है। दोनों (आवश्यकता और स्वच्छंदता) की महत्ता नाटकीय कथा-वस्तु के लिए समान है। घटनाओं का पथ लेखक ही निर्धारित करेगा, परंतु उनका संचालन, रूप-प्रदान जीवन के नियमों द्वारा ही होगा। यदि किसी घटना का विस्तार तर्क के ही आधार पर किया जायगा तो पात्रों के सत्य होते हुए भी, परिणाम यंत्रवत् होगा। ऐसी कृतियों में जीवन की गति, अनुरूपता, सजीवता न आ सकेगी। परंतु स्वतंत्रता पर भी आवश्यकता से अधिक जोर देने से वही अयथार्थता उत्पन्न हो जायगी।

हम कह सकते हैं कि नाटकीय उपन्यास समय-सापेक्ष होते हैं और चरित्र-प्रधान देश अथवा स्थान-सापेक्ष। नाटकीय उपन्यासों में पात्रों के उद्घाटन के लिए समय की आवश्यकता होती है। समय की गति के साथ ही घटनाओं और चरित्रों में विकास होता है। पात्र जैसे आरंभ में थे वैसे ही अंत में नहीं रह जाते। यदि हम ऐसे उपन्यासों को आरंभ में पढ़ें और फिर अंत में—बीच का भाग छोड़ दें—तो हमको जान पड़ेगा कि बीच में जीवन-गति परिवर्तित करनेवाली अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हो चुकी हैं, जिनका जानना हमारे लिए

आवश्यक है। परंतु चरित्र-प्रधान उपन्यासों में यह बात नहीं होती। 'गबन' के रमानाथ को जब हम उपन्यास के अंत में देखते हैं तो बिलकुल ही वह एक दूसरा रमानाथ सा मालूम होता है। उसके चरित्र के इस विकास या परिवर्तन को समझाने के लिए हमें बीच की जीवन-घटनाओं को जानने की आवश्यकता होती है। परंतु 'सुनीता' के हरिप्रसन्न या श्रीकांत का जो परिचय हमें आदि में मिलता है, अंत में भी हम उन्हें उसी परिचय की दृष्टि से देखते हैं। हमें उनमें बहुत थोड़ा परिवर्तन मिलता है। इस प्रकार चरित्र-प्रधान उपन्यासों में एक पात्र जैसा आदि में था वैसा अंत में भी रहेगा। वह वैसा ही व्यवहार करेगा, चाहे जितना समय बीच में बीत गया हो। समय रुका सा रहता है, केवल स्थान-परिवर्तन होता है।

इसी समय-सापेक्षता के कारण नाटकीय उपन्यासों का अंत असाधारण रीति से महत्त्वपूर्ण होता है। चरित्र-प्रधान उपन्यासों की तरह वह सूत्र-संकलन मात्र नहीं होता। वह केवल घटनाओं का ही नहीं चरित्र-चित्रण का भी अंत होता है। 'रंगभूमि' में विनय और सोफिया की मृत्यु इन दोनों के चरित्र पर अंतिम प्रकाश डाल इनका चित्र तो पूरा कर ही देती है परंतु साथ साथ घटनाओं का भी अंत हो जाता है। अतएव घटना-चक्र को आरंभ करनेवाली समस्या की पूर्ति ही नाटकीय उपन्यासों का अंत है। वह विशेष कार्य या तो सम-भूमि पर आकर अथवा आगे न बढ़ सकनेवाले परिणाम पर पहुँचकर पूर्ण हो जाता है। पर्यवसायी एकत्व या मृत्यु ही दो अंत हैं जिनकी ओर नाटकीय उपन्यास अग्रसर होते हैं। पर्यवसान का एकत्व प्रायः विवाह के अनुकूल स्थिति के रूप में लाया जाता है। नाटकीय उपन्यासों का यह अंत चित्रकार के अंतिम स्पर्श के समान होता है जिससे मूर्तियाँ पूर्ण और स्पष्ट हो जाती हैं।

पहले यह कहा जा चुका है कि नाटकीय उपन्यास बड़े ही प्रगति-

शील होते हैं। यह प्रगति अधिकांश में घटनास्थल की संकीर्णता के कारण होती है। घटनास्थल की यह संकीर्णता इन उपन्यासों की एक बड़ी विशेषता है। सारा कार्य-कलाप एक निश्चित छोटी सी परिधि के भीतर घिरा रहता है। चरित्र-प्रधान उपन्यास अपने स्थिर पात्रों को निरंतर बदलते हुए स्थानों में, सामाजिक जीवन के भिन्न भिन्न रूपों को दिखाते हुए, ले जाता है। नाटकीय उपन्यास स्थान को न बदलते हुए मानव-अनुभूतियों की संपूर्ण श्रेणी हमें पात्रों में ही दिखा देता है। वहाँ चरित्र अपरिवर्तनशील रहते हैं और स्थान बदला करता है, यहाँ घटना-स्थल अपरिवर्तनशील होता है और पात्र पारस्परिक घात-प्रतिघात द्वारा बदला करते हैं। 'गोदान' में होरी के चरित्र का उत्थान-पतन प्रायः उसके गाँव की सीमा के अंदर ही लेखक हमें दिखा देता है। इस तरह हम देखते हैं कि चरित्र-प्रधान उपन्यास जीवन की रीतियों का चित्र होता है और नाटकीय उपन्यास अनुभव की रीतियों की प्रतिमूर्ति।

हिंदी में नाटकीय ढंग के उपन्यासों का प्रणयन प्रेमचंदजी के द्वारा ही आरंभ हो गया। उनकी आरंभिक कृतियों में तो हमें कुछ चरित्र-प्रधानता लक्षित होती है परंतु बाद में घटनाओं और चरित्रों का उचित सामंजस्य रहने लगा। गबन, गोदान, रंगभूमि आदि उपन्यासों में हम देखते हैं कि चरित्र घटनाओं की सृष्टि करते हैं और फिर उन घटनाओं या नवीन परिस्थितियों द्वारा ही उनके चरित्र में भी परिवर्तन हो जाता है। इस तरह बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग पर घटनाओं और चरित्र का घात-प्रतिघात चला चलता है और कथा के अंत में हम देखते हैं कि घटनाओं के अंत के साथ साथ चरित्र-चित्रण भी अपनी पूर्णता पर पहुँच जाता है। प्रेमचंदजी के अतिरिक्त उनके ढर्रे के अन्य कई लेखकों ने भी कला के इस आग्रह को पूरी तरह समझा है।

यह ध्यान रखना चाहिए कि घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान और नाटकीय उपन्यासों का यह वर्गीकरण कागज पर सैद्धांतिक रूप में

जितना सरल ज्ञान पड़ता है उतना वास्तव में नहीं है। कुछ उपन्यासों में इन सभी वर्गों के कुछ सिद्धांत इस तरह मिले रहते हैं कि उन्हें न एक कह सकते हैं न दूसरा। उनमें घटनाएँ पर्याप्त रहती हैं, उनका तारतम्य भी रहता है और उलझन की आनंदमय सिद्धि की भी चेष्टा की जाती है। साथ ही साथ उसके सफलतम चरित्र मुख्य घटना-क्रम से स्वतंत्र होते हैं और घटनाओं के प्रति उनका उत्तर जातिगत या वर्गगत होता है। ऐसी अवस्था में उन्हें किसी विशेष वर्ग के अंदर रखने में सावधानी की अपेक्षा होती है

यद्यपि ऐतिहासिक उपन्यासों में भी घटना, चरित्र अथवा दोनों का समन्वय करनेवाले नाटकीय ढंग का ही समावेश होता है, परंतु फिर भी इनका एक अलग विभाग मानने का कारण यह है कि इनकी एक ऐसी विशेषता होती है जो अन्य उपन्यासों में नहीं होती और साथ ही इनकी उत्तमता का नापदंड भी भिन्न होता है। इन उपन्यासों की ऐसी भेदक विशेषता है उनका देश-काल-चित्रण। यों तो देश-काल-चित्रण का प्रयोग सभी उपन्यासों में किया जाता है, परंतु उसका स्थान गौण रहता है और उपन्यास की समीक्षा करने में अन्य तत्त्वों की अपेक्षा इस पर कम ध्यान दिया जाता है। परंतु ऐतिहासिक उपन्यासों में देश-काल का यह चित्रण ही उनका प्राण है। यही उनको विभिन्नता प्रदान करके उनकी एक पृथक् कोटि स्थापित कर देता है। बिना इसके ऐतिहासिक उपन्यासों की ऐतिहासिकता का कोई अर्थ नहीं। इन उपन्यासों का आकर्षण और साहित्यिक मूल्य बहुत कुछ उनके द्वारा किए गए भूभाग और काल विशेष के जीवन, रीतिनीति, रहन-सहन आदि के वर्णन पर निर्भर रहता है। और उनकी उत्तमता यहाँ पर वर्णनों की यथार्थता, तद्रूपता और शक्ति पर निर्भर रहती है।

ऐतिहासिक उपन्यास

ऐतिहासिक उपन्यासों का उद्देश्य कथा-वस्तु और चरित्रों का

किसी विशेष काल के जीवन के साथ समन्वय करना होता है। इन ऐतिहासिक उपन्यासों में भी हमें दो प्रकार मिलेंगे। एक तो वे जिनमें देश और समय के साथ पात्र भी मुख्यतः ऐतिहासिक होते हैं। ये शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास कहे जा सकते हैं। और दूसरे वे जिनमें देश-काल तो अवश्य ऐतिहासिक होता है परंतु उसके पात्र समयानुरूप होते हुए भी काल्पनिक होते हैं। इनको हम 'ऐतिहासिक प्रेमाख्यानक उपन्यास' कह सकते हैं। ये अधिकतर ऐतिहासिक चौखटे में जड़े प्रेम-चित्र होते हैं। श्रीवृंदावनलाल वर्मा का 'गढ़कुंडार' पहले प्रकार का है और उन्हीं का 'विराटा की पद्मिनी' उपन्यास दूसरे प्रकार का। 'गढ़कुंडार' का कथानक, पात्र और देश-काल सभी ऐतिहासिक हैं परंतु 'विराटा की पद्मिनी' में देश-काल या वातावरण ऐतिहासिक होते हुए भी पात्र तथा घटनाएँ कल्पित हैं।

चाहे जिस प्रकार का ऐतिहासिक उपन्यास हो, उसका प्रभाव और आकर्षण सदैव अंशतः उसके द्वारा किये गये अतीत काल के जीवन के निर्मल और सजीव चित्रण पर ही निर्भर रहेगा, क्योंकि एक प्रकार से यही उनके अस्तित्व का औचित्य है ऐतिहासिक उपन्यासकार का कार्य है कि वह इतिहासज्ञों और पुरातत्त्ववेत्ताओं द्वारा एकत्र किए गए नीरस तथ्यों पर अपनी उत्पादक कल्पना-शक्ति का प्रयोग करे। नहीं नहीं, उसे चाहिए कि वह इन भिन्न भिन्न स्थानों से प्राप्त बिखरी हुई सामग्री के ढेर से एक ऐसा चित्र प्रस्तुत करे जिसमें कला-कृति की पूर्णता और एकता हो। सभ्यता के किसी युग को, नीरस तथ्यों और पांडित्य का प्रदर्शन किए बिना, वास्तविक चित्रोपम सजीवता देने की शक्ति का ही साधारण पाठक ऐतिहासिक उपन्यास-लेखकों में आदर करते हैं। उसके पुरातत्त्व-ज्ञान और पांडित्य का भी आदर उस उपन्यास में हो सकता है जिसमें एक ऐसे अतीत युग का वर्णन हो जिसका ज्ञान साधारण पाठकों को बहुत कम है। राखाल बाबू के 'करुणा' और

'शंशाक' ऐसे ही उपन्यास हैं। परंतु ऐसा उपन्यास कभी सर्वप्रिय नहीं हो सकता।

यह तो स्पष्ट ही हो गया कि ऐतिहासिक उपन्यासों में कल्पना-शक्ति की पूर्ण आवश्यकता होती है। कल्पना के बिना वह कोरा इतिहास हो जायगा, उपन्यास नहीं। कल्पना और इतिहास का सामंजस्य इन उपन्यासों के लिए नितांत आवश्यक है। इनकी समीक्षा में हमें इसका भी ध्यान रखना होता है। ऐतिहासिक उपन्यासकार को इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए कि उसके उपन्यास में इतिहास अथवा काल-विरुद्ध बातें न आ जायँ। इस तथ्य की उपेक्षा करने के कारण ही पंडित किशोरीलाल गोस्वामी के 'तारा' आदि ऐतिहासिक उपन्यासों का कोई मूल्य नहीं रह गया है। उपन्यासकार अपनी कल्पना का उपयोग कर सकता है, परंतु इतिहास-सिद्ध तथ्यों की सत्यता का ध्यान रखते हुए। यदि कोई ऐतिहासिक चरित्र इतिहास द्वारा दुष्ट और नीच सिद्ध हो चुका है तो उसका सज्जनोचित रूप चित्रित करना इतिहास-विरुद्ध होगा और वह उपन्यास अच्छा न कहा जायगा। कल्पना का उचित प्रयोग वह इस प्रकार कर सकता है कि पात्र के गुण-दोष को विकसित करनेवाली अथवा उनका स्पष्टीकरण करनेवाली नवीन घटनाओं की योजना करे, ऐसी घटनाएँ चाहे ऐतिहासिक न भी हों। यदि कोई वास्तविक इतिहास-प्रसिद्ध घटना उपन्यास के वृत्त में आती है तो उसके वर्णन में उसे सत्यता, ऐतिहासिक सत्यता का ही आधार लेना चाहिए।

इससे भी अधिक आवश्यक कदाचित यह बात होती है कि वह उस काल के आचार, प्रकृति, स्वभाव, परिस्थिति आदि का यथार्थ चित्रण करे। यदि कोई उपन्यासकार अकबर और जहाँगीर को कोट पतलून पहनाकर चित्रित करे तो इसके घोर अज्ञान का भंडाफोड़ तो होगा ही साथ ही उपन्यास का सारा गौरव भी लुप्त हो जायगा।

अतएव सफलता प्राप्त करने के लिए लेखक को तत्कालीन परिस्थिति का पूरा पूरा ज्ञान होना चाहिए। यहाँ पर पुरातत्त्व-विभाग की उपयोगिता ऐतिहासिक उपन्यासकार के लिए आवश्यक हो जाती है। किसी दूसरे काल के वातावरण में अन्य काल के पात्रों का समावेश भद्दा होगा। यदि मुगलकाल में मिलों की हड़ताल का चित्रण होने लगे तो ऐसे ऐतिहासिक उपन्यासों का न होना ही अच्छा है। ऐसे उपन्यासों में परिस्थितियों और पात्रों का सामंजस्य न होने के कारण हमारा विश्वास कभी टिक न सकेगा।

हिंदी-साहित्य में ऐतिहासिक उपन्यासों की बड़ी कमी है। वृंदावन-लाल वर्मा को छोड़कर इस क्षेत्र में किसी ने हाथ नहीं लगाया है। किशोरीलाल गोस्वामी तथा 'निराला' आदि ने साहस भी किया तो वे सफल न हो सके। हिंदी में बाबू राखालदास वंद्योपाध्याय के 'करुणा' और 'शशांक' जैसे उपन्यास न जाने कब आएँगे!

'वाद' रूप में आदर्श और यथार्थ पर विवाद बहुत दिनों से चल रहा है और संभवतः चला करेगा, क्योंकि साहित्य-क्षेत्र में भी कुछ

आदर्श तथा यथार्थवाद

लोगों को सदैव अपना नया ऊँट छोड़ने की सनक सी रहती है और पुरानी दबी दबाई बातों को भी नए ढंग से नया रूप देकर, जनता के सामने लाने में ही वे अपना महत्त्व समझते हैं। आदर्श और यथार्थ में आज जो विषमता दिखाई पड़ रही है वह वास्तव में किसी एक अंग को ही नोचकर दौड़नेवालों के कारण, अन्यथा ये दोनों ही तत्त्व काव्य की आत्मा के साथ लिपटे हुए हैं, वैसे ही जैसे मानव-जीवन में बुद्धि और हृदय, विचार और कल्पना, हास और रुदन। इस एकांगदर्शी यथार्थवाद की आड़ में हिंदी-संसार के कुछ उठते हुए प्राणों ने भी 'सिहर', 'कंपन' तथा रोमांच उठा देनेवाले कुत्सित उपन्यास और कहानियों की रचनाएँ आरंभ कर दी हैं और इस दृष्टिभेद

के आधार पर ही कथा-वाङ्मय का वर्गीकरण भी किया जाने लगा है। अतएव इस प्रश्न पर यहाँ कुछ विचार कर लेना अनुचित न होगा।

परिभाषण द्वारा किसी साहित्यिक तथ्य को समझने का प्रयास प्रायः निष्फल ही रहा है तो भी यथार्थता की, वास्तविकता की अनेक विद्वानों ने अनेक प्रकार से, यत्नपूर्वक, श्रमसाध्य परिभाषाएँ की हैं। एक सहृदय के अनुसार "यथार्थता कुछ नहीं, केवल कथा-वस्तु का सत्यपूर्ण वर्णन है"। यह परिभाषा बहुत व्यापक है और व्यापक परिभाषाओं की भाँति पूर्ण संतोषप्रद भी नहीं। तत्काल ही यह प्रश्न उठता है कि इस 'सत्यपूर्ण वर्णन' का क्या तात्पर्य है? कौन कौन सी बातें उसके लिए आवश्यक हैं? परंतु कोई उत्तर नहीं। इस प्रकार इस परिभाषा को लेकर हम आगे नहीं बढ़ सकते। पुनः यथार्थवादी इमरसन की भाँति कहता है कि "मुझे महान, दूरस्थ और काल्पनिक नहीं चाहिए......मैं साधारण का आलिंगन करता हूँ, मैं सुपरिचित और निम्न के चरणों में बैठता हूँ"। ठीक, परंतु इस दृष्टि से तो बर्नस् और वर्डस्वर्थ जैसे कवि तथा प्रेमचंद जैसे उपन्यासकार भी यथार्थवादी कहे जायँगे। 'साधारण का आलिंगन', 'सुपरिचित और निम्न का वर्णन' इतने उत्साह से किसी ने नहीं किया जितने से बर्नस्, वर्डस्वर्थ और प्रेमचंद ने; परंतु यहाँ यथार्थवादी आपत्ति कर उठता है कि उनका उद्देश्य तुच्छ, निम्न और साधारण को महत्ता और अद्भुतता का उत्कर्ष प्रदान करना था। परंतु उच्चकोटि का यथार्थवादी भी थोड़ा बहुत इस उद्देश्य से अवश्य सहानुभूति रखता है, क्योंकि यह तो उसका सदैव से ही प्रिय तर्क रहा है कि तुच्छ और निम्न में भी वास्तविक मूल्य होता है। साथ ही कट्टर से कट्टर यथार्थवादी भी कदाचित यह न कहेगा कि उपर्युक्त तीनों साहित्यकारों ने नीति-प्रदर्शन के लिए, उपदेश देने के लिए वर्ण्य वस्तु को झूठा रंग दे दिया, अथवा उसकी स्वाभाविक सरलता और सत्यता पर आघात किया है।

इसका अर्थ केवल इतना ही है कि यद्यपि साधारणतया यथार्थता एक ओर रोमांस और दूसरी ओर आदर्श के विरुद्ध समझी जाती है तथापि निश्चित और स्पष्ट रूप से उसका इनसे भेद नहीं किया जा सकता। यथार्थता के उच्चतम रूप में आदर्श का कुछ न कुछ पुट अवश्य रहता है और उसको रोमांस की अनेक साहित्यिक रीतियों का प्रयोग करना पड़ता है। हम किसी भी उच्चकोटि के उपन्यास को रोमांटिक, यथार्थवादी अथवा आदर्शवादी नहीं कह सकते। उसमें इन सबकी विशेषताएँ थोड़ी बहुत अवश्य रहती हैं। प्रश्न केवल परिणाम का रहता है अतएव देखना यह चाहिए कि यथार्थवादी किन तथ्यों पर जोर देते हैं।

विश्वविख्यात फ्रांसीसी उपन्यासकार ज़ोला ने यथार्थता की परिभाषा 'कल्पना का निषेध और आदर्श का बहिष्कार' कहकर की थी। उसका तात्पर्य उन सब बातों को दूर रखने और उन सबको छोड़ देने से था जिनका सुदृढ़ आधार वास्तविक जीवन में न हो और जो विलक्षण, अतथ्य, अस्पष्ट अथवा उपदेशात्मक हों। उसका कहना है कि यथार्थवादी साहित्य में तत्कालीन जीवन का चित्रण होता है। इस तरह यथार्थता का आधार वास्तविक अनुभव में होता है और उसी के द्वारा वह नियंत्रित होती है। यथार्थवादी उपन्यासकार मनुष्यों का अंकन करते समय "क्रिया-व्यापार के नियमों पर विश्वास करता है, चरित्र-सूत्रों पर नहीं"। उसकी चित्तवृत्ति "विश्लेषात्मक होती है; काव्यमय, भावनामय नहीं"। वह "मनुष्यों का चित्रण ठीक वैसा ही करता है जैसे वे हैं"। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ज़ोला कथाजगत् से रोमांस, कल्पना, प्रच्छन्न आध्यात्मिक सत्य, मानव-चरित्र एवं मानव-जीवन की व्याख्या, सब कुछ निकाल बाहर करना चाहता है। यदि एक शब्द में कहें तो कह सकते हैं कि ज़ोला के लिए निजी व्यक्तिगत दृष्टि का कोई मूल्य नहीं।

यथार्थवाद के इसी रूप ने यथार्थवादियों और आदर्शवादियों के बीच अनंत विवाद उत्पन्न कर दिए हैं जो कभी कलात्मक और कभी नैतिक दृष्टियों से किए जाते हैं। हावेल्स का कहना है कि ईश्वर-सृष्ट कोई भी वस्तु हेय नहीं है। जिस प्रकार वैज्ञानिक भौतिक संसार के किसी भी तथ्य को अपनी खोज के गौरव से वंचित नहीं रख सकता उसी प्रकार यथार्थवादी भी मानव-जीवन की इस या उस वस्तु को ध्यान न देने योग्य नहीं कह सकता। इसी प्रकार की साहित्यिक दृष्टि उस कथा-वाङ्मय के निर्माण के लिए उत्तरदायी है जो नीरस, तुच्छ, मलिन, साधारण और निकृष्ट होता है; और जिसके अस्तित्व का बहाना केवल यह है कि उसकी प्रतिमूर्ति हमारे नीरस, क्षुद्र, तुच्छ, मलिन दैनिक जीवन में है। यह बिलकुल ही संकीर्ण यथार्थवादियों की दृष्टि है। इन रुचिभ्रष्ट अमर्याद यथार्थवादियों को कुत्सित जीवन के अंग-प्रत्यंग के वर्णन, उसकी विवृति तथा उसके ब्योरेवार चित्रण में ही अधिक आनंद आता है। हमारी अनुभूतियों में सभी प्रकार और सभी मात्राओं के कला-मूल्य हैं। यथार्थवादी और आदर्शवादी दोनों ही उनमें से अपनी रुचि के अनुकूल बातें पसंद कर सकते हैं। परंतु यथार्थवादी खोज-ढूँढ़कर अन्य सबकी अपेक्षा साधारण क्षुद्र को ही पसंद करता है। उसके लिए केवल यही वास्तविक है। यदि यथार्थवादी के लिए छायाओं और आदर्शों का अस्तित्व नहीं है, यदि उसको सचमुच अपनी व्यक्तिगत वास्तविक अनुभूति की संकीर्ण सीमा में घिरे रहने में ही आनंद आता है, तो कोई कारण नहीं कि उसे उस छोटे साहित्यिक कूप में निर्विघ्न सुखर्वपूक न रहने दिया जाय। बस, केवल इतनी प्रार्थना उनसे कर देनी चाहिए कि वे अपने इस अंधकूप को ही 'संसार' कहने का दावा न किया करें।

यह तो मानना ही पड़ेगा कि साहित्यिक अभिव्यंजना-प्रणाली पर यथार्थवाद का प्रभाव बहुत पड़ा है और उससे लाभ भी हुआ है।

यथार्थवादी लेखक विशिष्ट और सूक्ष्म को मूल्य प्रदान कर सत्य का भ्रम उत्पन्न करने पर जोर देता है। अत्यंत व्यंजक व्यौरों को पसंद करने में वह जिस ध्यान और सावधानी का परिचय देता है उसका प्रभाव संपूर्ण साहित्य पर पड़ा है। यथार्थवादी रीतियों का अनुसरण करने के कारण, नितांत काल्पनिक होने पर भी, अन्य प्रकार के उपन्यासकारों की रचनाओं में एक प्रकार की मूर्तता तथा वास्तविकता आ जाती है। प्रतिदिन के संसार को, साधारण और अधःस्थ के निवास-स्थान को, साहित्य का क्षेत्र बनाकर यथार्थवाद ने कथा-वाङ्मय का बड़ा उपकार किया है। लेकिन अपने अप्राकृतिक, निकृष्ट रूप में यथार्थ-वादियों ने क्षुद्र और निम्न के प्रति अपनी रुचि कदाचित इसी लिए दिखाई है कि वह क्षुद्र और निम्न है, साहित्य-क्षेत्र के प्रसार के विचार से नहीं। परन्तु यह स्पष्ट है कि निम्न और क्षुद्र में स्वयं कोई साहित्यिक मूल्य नहीं होता और बिना व्याख्या की सहायता के वह प्रदान भी नहीं किया जा सकता। हम तो समझते हैं कि जोला के अर्थ में शुद्ध यथार्थवाद कथा-वाङ्मय में असंभव है। क्योंकि वह व्याख्या को या वैयक्तिक दृष्टि को नहीं मानता। हमारे अनुभव के लोक-सामान्य तत्त्व हमारी ज्ञानराशि की वृद्धि करते हैं। यदि उनमें उस व्यक्तिगत तत्त्व का मेल न हो, तो वे हमारे साहित्य की वृद्धि कभी नहीं कर सकते। व्याख्या करना लेखक का कर्त्तव्य है। वह व्याख्या करने के लिए बाध्य है, अन्यथा साहित्य फोटो-चित्र के समान प्राणहीन, आत्म-हीन रह जायगा। वह व्याख्या से बच सकता ही नहीं। क्योंकि अनु-भव को साहित्यिक व्यंजना प्रदान करके चिरस्थायी वह इसी लिए तो बनाना चाहता है कि उस अनुभव का उसके लिए कुछ अर्थ है, तात्पर्य है।

सच बात तो यह है कि यथार्थवादियों में, सिद्धांत-रूप से भी और व्यवहार में भी, बड़ा मतभेद है। यदि हम अच्छी तरह देखें तो हमें दो प्रकार के यथार्थवादी मिलेंगे। एक तो पहले प्रकार के संकीर्ण, रुचि-

भ्रष्ट या मिथ्या यथार्थवादी और दूसरे वे जिनका क्षेत्र इतना संकीर्ण और एकांगी नहीं होता। वे यथार्थता से अर्थ समझते हैं—यथातथ्य चित्रण, अपनी ओर से व्याख्या, व्यक्तिगत दृष्टि आदि का समावेश न करना तथा पात्रों का स्वयं अपनी व्याख्या और व्यंजना करना। 'प्रसाद' जी जैसे कलाकार इसी कोटि में आते हैं। ये लोग अपनी कला-कृतियों से अपने व्यक्तित्व को अधिक से अधिक दूर रखने का प्रयत्न करते हैं। इनकी अपनी नैतिक भावनाएँ तथा अनुभूतियाँ घट-नाओं तथा पात्रों का संचालन नहीं करतीं। इसी लिए इनकी कृतियाँ जीवन का पूर्ण प्रतिबिंब होती हैं, जिनमें छाया और प्रकाश दोनों का यथातथ्य समावेश होता है। उनमें न तो उच्चादर्शों के स्वप्न मिलते हैं और न जीवन के दलित-गलित पक्ष का नग्न उद्घाटन। अपनी समस्त सबलताओं-दुर्बलताओं के साथ जीवन की वास्तविक झाँकी दिखाकर अलग हो जाना ही ये अपना कर्तव्य समझते हैं। वास्तव में यदि यथार्थ-वाद का कोई अर्थ हो सकता है तो यही।

प्रश्न उठता है कि क्या साहित्य-कला का चरम ध्येय यथातथ्य चित्रण ही है? इसके आगे उसका कोई उद्देश्य शेष नहीं रह जाता? हमारी समझ में ऐसा समझना कला को परिमित करना है। कला का उद्देश्य इससे कहीं उच्चतर है। मानव केवल जीना नहीं चाहता, वह अच्छी तरह जीना चाहता है। यथार्थवाद केवल जीवन के चित्र देता है। उसे किस प्रकार सुंदर, महत् और उपयोगी बनाया जाय इससे यथार्थवाद का कोई वास्ता नहीं। आदर्शवाद कला की इसी चरम सिद्धि का एक साधन है। प्रतिभावान कलाकार का लक्ष्य सदैव मानव के मानसिक और नैतिक विकास की ओर होता है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह आदर्श मानवों की उद्भावना करता है जो हमारे जीवन-पथ के प्रदर्शक होते हैं। इन सरल, सुंदर और उच्च आदर्शों पर विश्वास रखकर ही मनुष्य-जाति सुख-शांति का उपभोग कर सकती है,

पशु से देवता बन सकती है। वे आदर्श चिरंतन अनुभूतियों की अमर प्रतिभाएँ हैं। ये तार्किक सत्य नहीं, अनुभूत सत्य हैं। अपने अनुभवों का प्रचुर वैभव देकर ही तो मानव ने राम और कृष्ण की मूर्तियाँ तैयार की हैं जो युग युग से हमारे हृदय में शक्ति, स्फूर्ति और जीवन का संचार करती आ रही हैं।

आदर्श की इस प्राण-प्रतिष्ठा में ध्यान यह रखना चाहिए कि कला बिलकुल अपार्थिव होकर न रह जाय। देवताओं की सृष्टि की जा सकती है किंतु उनमें प्राण नहीं डाला जा सकता। जब उपन्यास केवल आदर्श मूर्तियों के चित्रण एवं धार्मिक अथवा नैतिक सिद्धांतों के प्रतिपादन का माध्यम मात्र रह जाता है तो हमारा विश्वास उस पर से उठ जाता है। हमारे विश्वास की श्रद्धांजलि पाने के लिए कलाकार को यथार्थ को ही आधार बनाना पड़ेगा जिसे हम प्रेमचंदजी के शब्दों में आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कहेंगे। जिस तरह जीवन के ताने-बाने में यथार्थ और आदर्श दोनों का ही योग है उसी तरह उपन्यास में भी इनका विधान होना चाहिए।

द्वितीय प्रकरण

कथा-कहानी की प्रवृत्ति और भारतीय परंपरा

जिज्ञासा और उत्सुकता मानव-स्वभाव की बड़ी तीव्र वृत्तियाँ हैं। इन्हीं वृत्तियों में कथा-कहानी का रहस्य निहित है। नानी की 'राजा-वाली' कहानी सुनने की बाल-उत्कंठा से आरंभ होकर जीवन की और भी गूढ़ कहानियाँ सुनने की उत्सुकता मानव-जीवन के साथ लगी चलती है। इस औत्सुक्य-तृप्ति के लिए ही कथा-साहित्य का जन्म हुआ। कथा-कहानी की यह प्रवृत्ति और रुचि संभवतः मानव-जीवन की सबसे बड़ी रुचि और प्रवृत्ति है। संसार में जिस समय ज्ञान की ज्योति प्रस्फुटित हुई तभी से किसी न किसी रूप में यह प्रवृत्ति और रुचि चलती आ रही है। संसार के साहित्य पर केवल एक दृष्टि डालने से हमें इसका प्रमाण मिल जायगा। यूनान में 'इलिएड' और 'ओडेसी', फ्रांस में 'ट्रूवेडर्स', जर्मनी में 'मिनेसिंगरस के गाने' तथा इँगलैंड की ऐतिहासिक दंतकथाएँ (क्रोनिकिल्स) और गीत (बैलेड्स) इनके आधार थे। इसी प्रकार भारतवर्ष में वेदों तक में कथाएँ पाई जाती हैं। पुराणों में कथाएँ भरी पड़ी हैं। महाभारत कथाओं का भांडार है। कथा-कहानी के प्रति यह सहज अभिरुचि ही आज दिन उपन्यास और छोटी कहानी के रूप में विकसित हुई है।

उपन्यासों की मूलवृत्ति

भारतीय उपन्यासों के अंकुर हमें भारत की प्राचीनतम भारती में ही मिलते हैं। भारत की तो बात ही क्या, पाश्चात्य उपन्यासों का मूलस्रोत भी हमारी अमरवाणी में ही रक्षित है। भारतवर्ष कथा-कहानियों में भी विश्व का पथ-प्रदर्शक रहा है। इसे आज मैकडानल जैसे विद्वान् भी बिना किसी संकोच के स्वीकार करते हैं।

संस्कृत में कथा-कहानियों का प्राचीनतम रूप

मानवता के प्राचीनतम साहित्य ऋग्वेद से ही कथा-कहानियों का आरम्भ हो जाता है। उनमें हमें कहानी के प्रायः सारे

तत्त्व मिल जाते हैं। उनमें वार्तालाप है, चरित्र है, कथा-वस्तु है, भूमि है। शुनःशेप की कथा, सरमा-संवाद, यम-यमी-संवाद, पुरूरवा-उर्वशी-संवाद आदि इसके उदाहरण हैं। इन संवादों को ही नाटकीय कथोपकथन का भी मूल माना जाता है।

इससे आगे बढ़कर ब्राह्मण-ग्रंथों में भी कहानियाँ मिलती हैं। ऐतरेय और शतपथ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सत्यवादी महाराज हरिश्चंद्र की कथा का मूल भी ये ब्राह्मण ग्रंथ ही हैं। उपनिषदों में भी बहुत से वर्णन कथाओं के रूप में मिलते हैं; उदाहरणार्थ याज्ञवल्क्य मैत्रेयी और नचिकेता की कथाएँ।

वेदों, ब्राह्मण-ग्रंथों और उपनिषदों में कथा-वाङ्मय का बीज मात्र मिलता है। उनके अनंतर कथा-कहानी के नए-नए रूप हमारे सामने आने लगे। शिक्षा और संस्कृति के विकास के साथ ही साथ आर्य ऋषियों ने कथा-कहानी की इस प्राचीनतम प्रवृत्ति को अनेक धाराओं में प्रवाहित किया। परंतु इस युग में सभी कहानियों के मूल में किसी न किसी रूप में दो ही भावों की प्रधानता रहती थी—एक वीर-पूजा की भावना और दूसरी भारतीय हृदय में चिरसंचित धर्म-भावना। यह वीर-पूजा की भावना ही ऐतिहासिक वीर-गाथाओं की जननी है, जिसका भारतीय वाङ्मय में बाहुल्य है। महाभारत और रामायण ऐसे ही ग्रंथ हैं। वास्तव में हमारे संस्कृत-काव्य का मूलस्रोत महाभारत और रामायण ही हैं और इस दृष्टि से कथा-वाङ्मय का वास्तविक रूप इन्हीं महान् ग्रंथों से आरंभ होता है। ये वीर-गाथाएँ इस युग के उपन्यास के रूप में ही हैं। इन दो ग्रंथों के अतिरिक्त हमारे पुराण तो कथा-कहानियों के एक अनंत सागर ही हैं।

वीर-गाथाएँ

पुराणों की ही छत्रछाया में कथा-कहानी का एक दूसरा रूप, दूसरी ही दिशा में, अपने संपूर्ण प्राण-वेग से फैलता रहा। इन कहानियों की

रूपाकृति एवं उद्देश्य पौराणिक कथाओं से नितांत भिन्न थे। पौराणिक कथाओं में इतिहास और गाथा की ही प्रधानता है। वे वास्तव में वीर-पूजा की भावना से ही प्रेरित हैं। उनमें मानव-व्यापार-वर्णन ही प्रधान है। देव और दानवों का भी समावेश है, परंतु उस समय तो वे मानव के अभिन्न सहचर थे। मानव-हृदय के सहज भय की भावना ने प्रकृति के विभिन्न रूपों में ही अच्छी और बुरी शक्तियों की कल्पना कर ली थी। पूजा से प्रसन्न होकर ही इंद्र वृष्टि करता था। उसके अप्रसन्न होने पर प्रलय-घटाएँ भी घिर आती थीं। परंतु समाज के अधिक व्यवस्थित हो जाने पर व्यक्ति और समाज के सदाचार के लिए नीति-कथाओं की उद्भावना की गई। ये नीति-कथाएँ भाव-चित्रण के प्रयास हैं। इनमें मानव-व्यापारों से आगे बढ़कर पशु-पक्षी आदि की कहानियों के द्वारा भी किसी नैतिक तथ्य या सिद्धांत को हृदयंगम कराने का प्रयत्न किया गया है। पंचतंत्र, हितोपदेश, वैताल-पंचविंशति, सिंहासन-द्वात्रिंशिका, कथा-सरित्सागर, शुक-सप्तति तथा पैशाची प्राकृत की बृहत्कथा या 'बड्डकहा' ऐसी ही रचनाएँ हैं।

उपदेशात्मक कहानियाँ

इन रचनाओं को हम तीन कोटियों में विभाजित कर सकते हैं। पहली कौतुक-कथाएँ, दूसरी स्पष्ट-नीति-कथाएँ और तीसरी गाथाएँ। पहले प्रकार की कौतुक-कथाओं में अद्भुत कहानियों की लड़ी सी गुथी रहती है जिनमें एक से एक बढ़कर कारनामे दिखाए जाते हैं। देव, दानव, मनुष्य, पशु, पक्षी उस महानाटक के सभी अभिनेता होते हैं और सब एक ही बोली का व्यवहार करते हैं। ऐसी जन-प्रिय कथाओं के गर्भ में भी कोई न कोई उपदेश निहित रहता है। वैताल-पंचविंशति, सिंहासन-द्वात्रिंशिका और शुक-सप्तति ऐसी ही कथाओं के नमूने हैं।

दूसरे प्रकार की कहानियों में उच्च नीति के आदर्शों का संग्रह-सा है। पशु-पक्षियों की कहानी के द्वारा किसी न किसी नैतिक तथ्य को

हृदयंगम कराना ही इन कहानियों का उद्देश्य है। वास्तव में उपदेश देने का यह व्यंग्य-चित्रण बड़ा सुंदर आयोजन है। पंचतंत्र और उसका संक्षिप्त रूप हितोपदेश इसी कोटि में आते हैं। कहानी का तीसरा रूप वह है जहाँ महान आत्माओं के एक या दो या अनेक जन्मों की शुभ कृतियों का वर्णन है। यह वर्णन बहुत ही रमणीय हुआ है और वीर-पूजा के साथ-साथ मानव-मन-रंजन भी हो जाता है। इस कोटि में जैन-गाथाएँ और जातक-कथाएँ आती हैं।

कहानी की उपर्युक्त परंपरा ने ही पाश्चात्य और भारतीय कथा-साहित्य को जन्म दिया, इसे आज बड़े-बड़े विद्वान भी स्वीकार करते हैं। 'अलिफ लैला' की प्रेरणा भारत से ही मिली है। सिंधबाद नाम ही स्वयं 'हिंद' का है। 'अलिफ लैला' के आधार पर ही योरप में उस प्रकार की रचनाएँ हुई थीं। 'इसाप' की कहानियाँ तो हितोपदेश का रूपांतर मात्र मालूम पड़ती हैं। हिंदी-उपन्यासों के बाल-काल में तोता-मैना, बैताल-पचीसी, सिंहासन-बत्तीसी आदि कहानियाँ कुछ इन संस्कृत-कहानियों के अनुवाद मात्र हैं और कुछ पूर्ण रूप से इन्हीं पर अवलंबित। परंतु इन प्राचीन कहानियों में उपन्यासों का बीज मात्र मिलता है; उनका मूल सिद्धांत प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उपदेश करना है जिसके लिए वे कथा की ओर ध्यान न देकर प्रायः उक्ति-वैचित्र्य या घटना-वैचित्र्य की ओर ही ध्यान देती हैं और प्राकृतिक-अप्राकृतिक किसी भी प्रकार का रूप ग्रहण कर लेती हैं। उनमें मनुष्य के प्रति मनुष्य की संवेदना और उत्कंठा जागरित करने का प्रयास नहीं है।

इसके उपरांत कथा-कहानी का निखरा हुआ रूप हमें संस्कृत की साहित्यिक आख्यायिकाओं में मिलता है। ये कथात्मक गद्य-प्रबंध या गद्यकाव्य के रूप में ही मिलती हैं तथापि ये आजकल के उपन्यासों के बहुत निकट हैं। इनका उद्देश्य न तो इतिहास-वर्णन ही है और न उपदेशात्मक ही। किसी अवांतर उद्देश्य से प्रेरित न होने के

कारण ये शुद्ध काव्य की कोटि में आती हैं। काव्य की दृष्टि से रामायण और महाभारत ही उच्चकोटि के हैं; परंतु ये जातीय महाकाव्य हैं।

साहित्यिक आख्यायिकाएँ

इन साहित्यिक आख्यायिकाओं में दंडीकृत 'दशकुमार-चरित' सुबंधुकृत 'वासवदत्ता' और बाण भट्टकृत 'कादंबरी' मुख्य हैं। ये सभी प्रेमाख्यानक काव्य हैं जिन्हें हम 'रोमांस' कह सकते हैं। यद्यपि इन ग्रंथों की रचना-प्रणाली अत्यंत अलंकृत और रसात्मक है और ये उपन्यासों की अपेक्षा काव्य के ही अधिक निकट हैं, परंतु उस युग में उपन्यासों के लिए यही ढाँचा स्वीकृत हुआ। काव्य तथा साहित्य का रूप और आदर्श तो समय के साथ बदलते रहते हैं इसलिए हमें केवल उसके प्राणतत्त्व और प्रवृत्तियों पर ही ध्यान रखना चाहिए। इस दृष्टि से उपन्यासों और इन साहित्यिक आख्यायिकाओं की प्रेरक शक्ति एक ही ठहरती है। दोनों की आत्मा एक ही है केवल समय ने दोनों में रूप-भेद कर दिया है। बहुत से लोगों का यह कहना भ्रामक है कि उपन्यास योरप की देन है। उपन्यासों का आधुनिक ढाँचा अवश्य पश्चिम से आया है, परंतु अपने भारतीय रूप में हमारे यहाँ उपन्यास पहले से ही वर्तमान थे। कादंबरी का वस्तुविन्यास, घटनाओं का तारतम्य, भावमग्न करनेवाली परिस्थितियों एवं संवादों की योजना, प्रकृति-निरीक्षण, कल्पना की रमणीयता, आदर्श एवं यथार्थ का समन्वय आदि आज भी लोगों के अध्ययन, मनन एवं अनुकरण के विषय बन सकते हैं। भारतीय दृष्टि रस को प्रधानता देती रही है अतएव वस्तु और नेता का विधान भी इसी दृष्टि से होता रहा है। अच्छा होता कि इस वैचित्र्य-प्रदर्शन एवं तथ्यवाद के जमाने में भी हम अपनी परंपरा का ध्यान रखकर ही नवीन प्रयोग करते। हिंदी-उपन्यासों का आरंभकाल बहुत कुछ अपनी पुरानी परंपरा ही लेकर चला था किंतु बाद में एक बिलकुल ही नवीन ढाँचा स्वीकृत किया गया जो संपूर्ण रूप से अभारतीय है।

यहाँ तक तो संस्कृत-साहित्य में कथा-कहानियों की प्रवृत्ति और उनकी परंपरा पर विचार हुआ। अपभ्रंश-काल तथा हिंदी के पद्यकाल में इस प्रवृत्ति पर विचार करने के पहले हमें गद्य और पद्य का विचार कर लेना आवश्यक है। प्रथम प्रकरण में हम इस पर थोड़ा विवेचन कर आए हैं। साधारणतः लोग उपन्यास और गद्य का अविच्छिन्न संबंध समझते हैं। इस दृष्टि से पद्यबद्ध सभी कहानियाँ काव्य या कविता की कोटि में आ जाती हैं। इस मापदंड के अनुसार कादंबरी आदि दो तीन इने-गिने ग्रंथ ही कहानी-वाङ्मय में बच रहते हैं। परंतु बात यह नहीं है। हस्तलिखित पुस्तकों की असुविधा और कमी के कारण उस समय की प्रायः सभी रचनाएँ इस दृष्टि से की जाती थीं कि वे लोगों की स्मृति में जीवित रह सकें। पद्य में कंठस्थ करने की सुविधा होती है इसी से सभी विषयों के ग्रंथ पद्य में ही रचे गए। दर्शन, धर्म, नीति, ज्योतिष और वैद्यक तक के ग्रंथ छंदों में ही बाँधे गए। अपभ्रंश और हिंदी में भी यही बात रही। इसी लिए कथा-कहानी, इतिहास, काव्य आदि सभी पद्य में ही मिलते हैं। अतः कथा-कहानी की प्रवृत्ति का विवेचन करते हुए हमें इन पद्य-बद्ध कहानियों की उपेक्षा न करनी चाहिए। यदि संस्कृत-साहित्य में भी गद्य की वे ही सुविधाएँ होतीं जो आज हैं, तो संभवतः हमारा उपन्यास-वाङ्मय आज अधिक भरापूरा होता। अपभ्रंश-काल की वे वीर-कथाएँ जो मुक्तकों के रूप में मिलती हैं संभवतः आज ऐतिहासिक उपन्यासों के रूप में हमारे सामने आतीं। इसी तरह हिंदी के वीरगाथा-काल ने हमें कितने ही ऐतिहासिक रोमांस दिए होते। इसलिए हमें कविता और कहानी में, गद्य और पद्य में, भेद करना चाहिए; पद्य और कहानी में नहीं। जहाँ कहानी-तत्त्व की अपेक्षा कविता-तत्त्व अधिक है, कहानी काव्य का आधार मात्र है, वह कविता है। जहाँ कविता का तत्त्व गौण है और कहानी की प्रधानता है उसे हम कविता न कहकर छंदो-बद्ध होने पर भी कहानी-वाङ्मय में ही रखेंगे।

अपभ्रंश अथवा पुरानी हिंदी का समय बहुत थोड़े दिनों रहा। इसमें 'भविसयत्त-कहा' ही ऐसी रचना है जिसकी गणना कथा-कहानियों में की जा सकती है। उस समय अधिकतर राजकवियों द्वारा वीर-मुक्तकों या शृंगारी मुक्तकों की प्रधानता रही। वीर-मुक्तकों में कथा-कहानी के बीज मिलते हैं। मुंज और मृणालवती की कथा पर बहुत सुंदर उपन्यास लिखा जा सकता था। श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने 'पृथ्वीवल्लभ' लिखकर इसे सिद्ध भी कर दिया है।

अपभ्रंश-काल

हिंदी भाषा के शैशव काल में देश के प्राणों में उथल-पुथल मचा हुआ था। एक ओर गृह-कलह की आग जल रही थी और दूसरी ओर विदेशियों का नृशंस तांडव। अधिकार, लालसा और मिथ्या मानापमान के पीछे उस समय के राजपुंगव मृगमरीचिका के चक्कर में दौड़ रहे थे। छोटी-छोटी बातों पर तलवारें खिंच जाती थीं, आन के पीछे जान की परवाह नहीं रहती थी। सुंदर कुमारियों के सभी चाहक थे, और प्रायः यह प्रेम ही रौद्र रूप धारण कर लेता था। भारत-लक्ष्मी की दुर्दशा के मूल में एक कुमारी ही बताई जाती है। इस तरह वह युग एक प्रकार से कथा-कहानियों का ही था—कल्पित नहीं, जीती-जागती कहानियों का। समस्त उत्तर भारत की भूमि राजपुरुषों की इन कीर्ति-कहानियों से प्लावित थी। आल्हा और ऊदल की कहानी, पृथ्वीराज और संयोगिता की कहानी आज भी अनेक रूप धारण कर हिंदू-घरों में प्रचलित है। बचपन में सुनी गई 'सुरजन-बिरजन' की कहानी हमें इन राजपूत-कहानियों का स्मरण कराती है। उस काल के चारण-कवियों ने अनेक प्रबंध-काव्यों की रचना की जिन्हें 'रासो' नाम दिया गया है। 'रासो' शब्द की व्युत्पत्ति कोई चाहे किसी तरह से बताए, परंतु हम तो इसे 'राजयश' का ही रूपांतर मानते हैं। इन रासो ग्रंथों में इतिहास तथा कल्पना का विचित्र मिश्रण है। पुस्तक का मूल उद्देश्य अपने आश्रयदाता राजाओं की

कीर्ति-कहानियों का वर्णन ही है। इन गाथाओं में हमें कहानियाँ प्रचुर मात्रा में मिलती हैं। अतः जैसा ऊपर कह चुके हैं यदि गद्य की सुविधा उस समय तक हो गई होती तो इस काल में सुंदर ऐतिहासिक उपन्यास लिखे गए होते।

भक्तिकाव्य में कथा

अपनी स्वतंत्रता को गृह-कलह की अग्नि में भस्म करके जब राजपूत-शौर्य शांत हो रहा और मुसलमानी राज्य पूर्णतया प्रतिष्ठित हो गया तो कुछ सूफी कवियों ने अपने प्रेमाख्यानक काव्यों के द्वारा पराजित हिंदू-हृदय का रंजन किया। हिंदुओं के ही घरों की कहानियाँ लेकर उसी ढंग पर इन सहृदय कवियों ने कुछ रचनाएँ कीं। परंतु उनका मूल उद्देश्य केवल जनता का रंजन करना ही नहीं था बल्कि लौकिक प्रेम के द्वारा ईश्वर-प्रेम की झलक दिखाना भी था। इनमें से कुतबनकृत 'मृगावती', मंझनकृत 'मधुमालती' और जायसीकृत 'पद्मावत' उल्लेखनीय हैं। ध्यान देकर देखने से आजकल के उपन्यासों की परंपरा इन प्रेमाख्यानक कवियों के पद्यों से ही आरंभ होती दिखाई देती है। उन्हीं को इनका प्राचीनतम रूप समझना चाहिए। इन कथाओं की रूपरेखा प्रधानतया उपन्यासों जैसी है। यदि आध्यात्मिकता का पुट न होता तो इन्हें हम साफ-साफ 'रोमांस-काव्य' कह सकते। उस पुट के रहते हुए भी इनमें पूरी तरह रोमांस कविता की झलक है; और हिंदी के आरंभकाल के कथा-वाङ्मय पर, जो गद्य में लिखा गया था, उसका कम प्रभाव नहीं पड़ा। जीवन की मधुऋतु में दो सुकुमार प्राणों का एक दूसरे से प्यार, मिलन की आकुलता, प्रिय का प्रयत्न, प्रेम-पथ की बाधाएँ, उन पर विजय और फिर प्रिया से मिलन—यही रोमांस काव्य की रूपाकृति है। हिंदी-उपन्यास के बाल-काल ने यही रूपरेखा अपनाई।

———

तृतीय प्रकरण

हिंदी-उपन्यासों का आदिकाल या बालकाल

पिछले प्रकरण का उद्देश्य कथा-कहानियों के प्रति सर्व-कालीन सहज अभिरुचि दिखाना मात्र था। इसी लिए उसमें इनकी रूप-रेखा पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। नवीन रूपयोजना तो समय के साथ विकसित होती चलती है, अतः वास्तव में हमें मानव-मन में निहित मूल प्रवृत्ति का विचार करना था। पिछले प्रकरण से यह स्पष्ट हो गया कि भारत में कथा-कहानियों की प्रवृत्ति और उसकी ओर रुचि प्राचीनतम है।

हिंदी-उपन्यासों का वास्तविक जन्म गद्य के साथ ही साथ हुआ। बल्कि यह कहना चाहिए कि उपन्यास से ही वास्तविक गद्य की उत्पत्ति हुई। वास्तव में उपन्यासों के लिए पद्य की अपेक्षा गद्य अधिक वांछनीय है। उपन्यासों का बहुत कुछ आकर्षण संवादों में, बातचीत के रंग-ढंग में होता है, और यह पद्य की अपेक्षा गद्य में अधिक सफलता से कराया जा सकता है। ऐसा मालूम पड़ता है कि हिंदी-उपन्यास-वाङ्मय के लिए गद्य की ही प्रतीक्षा थी और गद्य का प्रचार होते ही यह अपने संपूर्ण प्राण-वेग से फूल-फल उठा। आरंभ में उप-न्यासकारों ने भारतीय परंपरा के पुराने ढाँचे को ही अपनाया। पुराने ढाँचे में काव्यत्व की मात्रा यथेष्ट रहती थी। परिच्छेदों के आरंभ में अच्छे अलंकृत दृश्य-वर्णन होते थे और पात्रों की बातचीत भी कहीं कहीं रसात्मक होती थी। भारतेंदु-काल से लेकर प्रेमचंदजी के पहले तक हिंदी में भी उपन्यास इसी ढाँचे पर लिखे जाते रहे। पीछे नाटक और उपन्यास दोनों से काव्यत्व का अवयव बहुत कुछ निकालने की

प्रवृत्ति हुई और दृश्य-वर्णन, भावव्यंजना, अलंकारिक चमत्कार आदि हटाए जाने लगे। नए ढंग के ऐसे उपन्यास प्रेमचंदजी के समय से हिंदी में आने लगे। इस तरह हम हिंदी-उपन्यासों को दो कालों में बाँट सकते हैं; एक तो पूर्वकाल या बालकाल जो 'रानी केतकी की कहानी' से लेकर प्रेमचंदजी के पहले तक चलता है और दूसरा आधुनिक काल। पूर्वकाल में भी दो अवस्थाएँ स्पष्ट लक्षित होती हैं। प्रथम अवस्था या 'भारतेंदु-काल' में दो चार इने-गिने उपन्यास ही लिखे गए। परंतु द्वितीय अवस्था में, जिसका आरंभ बाबू देवकीनंदन खत्री से होता है, उपन्यासों का ढेर लग गया। इन उपन्यासों का अध्ययन करने से ऐसा पता चलता है कि अपने बालकाल में उपन्यास-वाङ्मय अधिकतर राजा और रानी वाले काल्पनिक चमत्कारों में ही भूला रहा। परंतु आगे बढ़ने पर जब जीवन के घात-प्रतिघात से वह स्वप्न छिन्न-भिन्न हो गया तब गतशैशव मानव ने जीवन का वास्तविक रूप देखा और उसे समझने का प्रयत्न किया। यद्यपि यौवन की मस्ती ने कुछ दिन तक उसे प्रेम के कल्पना-लोक में अटका रखा परंतु उसे समझने में देर न लगी कि वह भी धोखे की टट्टी है।

प्रस्तुत प्रकरण में हिंदी-उपन्यास के बालकाल की प्रगति का ही विवेचन किया जायगा। आरंभ में ही यह बता देना आवश्यक है कि हमारे आधुनिक हिंदी-साहित्य में उपन्यास नाम भी बँगला से आया और उपन्यास का अँगरेजी ढाँचा भी। अतएव हिंदी-उपन्यासों की प्रगति पर विचार करते समय अनूदित बँगला-उपन्यासों का भी उल्लेख करना आवश्यक हो जाता है।

(१) प्रथम अवस्था

मौलिक उपन्यासकार

हिंदी का पहला औपन्यासिक होने का श्रेय सैयद इंशा अल्ला खाँ को ही दिया जा सकता है। उनकी 'रानी केतकी की कहानी' एक

छोटा सा उपन्यास है, यद्यपि लेखक ने स्वयं उसे कहानी घोषित कर दिया है। जिस समय 'कंपनी' के अधिकारी हिंदी

सैयद इंशा अल्ला खाँ

के प्रचार का उद्योग करने में लगे थे उसी समय खाँ साहब ने कुतूहल-वश तथा अपनी विद्वत्ता और काव्य-कुशलता की झोंक में 'रानी केतकी की कहानी' की रचना कर डाली। । संभवतः यह रचना संवत् १८५६ और १८६५ के बीच की है। इस कहानी के लिखने का उद्देश्य तो यह था कि एक ऐसी रचना की जाय जिसमें "हिंदी छुट और किसी बोली की पुट न मिले" और "हिंदवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो।" इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर खाँ साहब ने इस कहानी की रचना की और उसमें वे सफल भी रहे। कहानी तो खाँ साहब की अपनी ही सूझ है परंतु मजमून वही परंपरा से चला आता हुआ पुराना है। वही प्रेम की लगन, हृदय की तड़प और पिया के पाने के करिश्मे। पद्मावत की भाँति ही 'महादेव', 'मछंदर' आदि की झोली की करामातें भी दिखाई गई हैं। परंतु खाँ साहब के कहने का ढंग निराला है और उसमें थोड़ी देर के लिए मन अटका भी रहता है। उपन्यास-कला की दृष्टि से 'रानी केतकी की कहानी' का अधिक मूल्य नहीं। हाँ, भाषा-विकास के अध्ययन में अवश्य उसका उपयोग है।

"अपनी भाषा में अब तक जो पुस्तकें लिखी गई हैं उनमें अक्सर नायक-नायका वगैरे का हाल ठेट से सिलसिलेवार (यथाक्रम) लिखा गया है—जैसे कोई राजा, बादशाह, सेठ, साहू-

लाला श्रीनिवासदास

कार का लड़का था। उसके मन में इस बात से यह रुचि हुई और उसका यह परिणाम निकला—ऐसा सिलसिला इसमें कुछ नहीं मालूम होता।......अपनी भाषा में यह नई चाल की पुस्तक होगी।" 'परीक्षा-गुरु' के निवेदन में लाला श्रीनिवास-दास ने यह उल्लेख किया है, और यह सच भी है। वास्तव में कथा-

परंपरा में युग-परिवर्तन करनेवाले लाला श्रीनिवासदास ही हैं। प्रेम के परिचित दायरे के बाहर जीवन के अन्य पक्षों पर पहले पहल इन्हीं की दृष्टि गई। चिरपरिचित रति की रीतिबद्ध सरिता के तीव्रप्रवाह के पार भी कुछ है, उसकी ओर पहले पहल इन्होंने ही संकेत किया। कथावस्तु तथा वर्णन-प्रणाली दोनों ही की दृष्टि से 'परीक्षा-गुरु' उस युग की प्रथम रचना है। 'भारतेंदु-काल' के इस प्रारंभिक 'परीक्षा-गुरु' के ही निर्दिष्ट मार्ग का उपन्यास-वाङ्मय ने अनुसरण किया—यही इसकी गुरुता है।

इस उपन्यास में दिल्ली के एक सेठ की कहानी है जो चाटुकारों की मिथ्या प्रशंसा से फूल फूलकर, बाहरी तड़क-भड़क और दिखावे के चक्कर में पड़कर ऋण के गहरे जल में डूबने-उतराने लगता है। एक उदार सज्जन मित्र के द्वारा किसी तरह इस लक्ष्मीमान का उद्धार होता है और यह विपत्ति-परीक्षा ही उसका प्रकाश-दर्शक गुरु होती है। वास्तव में यह कथावस्तु एक छोटी कहानी के ही उपयुक्त है। इसमें जीवन के विविध अंगों, मानव-मन के नाना रागों और प्रवृत्तियों के प्रसार का अवकाश नहीं है। यह तो मानव-जीवन के एक पहलू की झलक मात्र है। विषय-गांभीर्य के विचार से इसका अधिक महत्त्व नहीं। इसमें उपदेश ही प्रबल दिखलाई पड़ता है। कथावस्तु में कोई विशेष रंजन-शक्ति भी नहीं, जो पाठक के मन को अटकाए। बीच-बीच में लेखक के अध्ययन के फल-स्वरूप संस्कृत, फारसी, अँगरेजी आदि के ग्रंथों के नीतिपूर्ण उद्धरणों से जी ऊबने लगता है। यही कारण है कि कहानी में प्रवाह बिलकुल नहीं है। इस पुस्तक के लिखने में लेखक को "महाभारतादि संस्कृत, गुलिस्ताँ वगैरे फारसी, स्पक्टेटर, लार्ड बेकन, गोल्डस्मिथ, विलियम कूपर आदि के पुराने लेखों और स्त्रीबोध आदि के वर्तमान रिसालों से बड़ी सहायता मिली है।"❀ एक उपन्यास

❀ 'परीक्षा-गुरु' की भूमिका।

लिखने के लिए इतने ग्रंथ आलोड़ित किए गए हैं, इसी से इसके गुणों का कुछ आभास मिल सकता है।

लाला श्रीनिवासदास का सांसारिक अनुभव बहुत खरा था। मदन-मोहन सेठ और उनके चाटुकार मित्रों के चरित्र-चित्रण में उन्हें पर्याप्त सफलता मिली है। ब्रजकिशोर का चरित्र भी बहुत उज्ज्वल है। व्यापार का अच्छा अनुभव होने के कारण व्यापार-संबंधी वर्णनों में स्वाभाविकता है। यदि लाला श्रीनिवासदास के मन में नीति के उपदेश की भावना का प्राबल्य न होता और अपने अध्ययन का उपयोग वे सीमा के भीतर ही करते तो यह एक उच्चकोटि का उपन्यास हुआ होता। तो भी सर्वप्रथम उपन्यास होने के नाते यह पर्याप्त सफल रहा।

यह ध्यान रखना चाहिए कि परीक्षा-गुरु का ढाँचा बँगला के रास्ते हिंदी में नहीं आया। बल्कि कह सकते हैं कि सीधे अँगरेजी से आया। लेखक अँगरेजी का अच्छा जानकार था और उसने अँगरेजी उपन्यासों को ध्यान में रखकर ही यह नई चाल चलाई होगी। लाला श्रीनिवासदास व्यवहार में दक्ष और संसार का ऊँचा-नीचा समझनेवाले थे। अतः उनकी भाषा संयत और साफ-सुथरी तथा बहुत कुछ सोद्देश्य होती थी।

ठाकुर जगमोहनसिंह

लाला श्रीनिवासदास के समकालीन ही विजय राघवगढ़ के राजकुमार ठाकुर जगमोहनसिंह थे। ठाकुर साहब का संस्कृत-साहित्य तथा अँगरेजी का अध्ययन अच्छा था। हिंदी के भी वे प्रेमप्रधान कवि तथा कल्पना एवं माधुर्यप्रधान गद्यलेखक थे। इनकी 'श्यामास्वप्न' नामक रचना "गद्य-प्रधान चार खंडों में एक कल्पनामात्र है।" यह उपन्यास की अपेक्षा काव्य के रमणीय दुकूलों के ही अधिक निकट है। "रात्रि के चार प्रहर होते हैं—इस स्वप्न में भी चार प्रहर के चार स्वप्न हैं।" इस कल्पना-चित्र के भीतर श्यामा और श्यामसुंदर

की प्रेम कहानी के आधार पर ही इसे उपन्यास कहना उपयुक्त नहीं। जीवन की वास्तविकता से दूर श्यामा और श्यामसुंदर किसी अनजाने स्वप्नलोक के निवासी हैं—जो उपन्यास की वास्तविक दुनिया से बहुत दूर है।

फिर भी अपने हृदय पर अंकित भारतीय ग्रामीण जीवन का जैसा माधुर्य ठाकुर साहब ने अपने श्यामास्वप्न में व्यक्त किया उसकी सरसता निराली है। ठाकुर साहब ने मानव एवं प्रकृति के तादात्म्य की सुन्दर अभिव्यक्ति की। विन्ध्याटवी-प्रदेश में रहने के कारण उनके मन पर प्राकृतिक विभूतियों की अच्छी छाप पड़ी थी। ग्राम्यजीवन का भी उन्हें अच्छा परिचय था और उसमें उनका मन रमा भी था। संस्कृत-कवियों की शैली पर देश की सुरम्य रूपरेखा के चित्रण का इनका प्रयास प्रथम कहा जा सकता है। इस तरह की सौंदर्यानुभूति तथा प्यारी भाषा उस काल के किसी लेखक में नहीं पाई जाती। "प्राचीन संस्कृत के कवियों की पुराने ढंग की प्यारी बोली में देश की दृश्यावली को सामने रखने का मूक समर्थन तो इन्होंने किया ही, साथ ही भाव की प्रबलता से प्रेरित कल्पना के विप्लव और विक्षेप को अंकित करनेवाली एक प्रकार की प्रलाप-शैली भी इन्होंने निकाली जिसमें रूप-विधान का वैलक्षण्य प्रधान था, न कि शब्द-विज्ञान का।"❋

इसी समय पंडित अंबिकादत्त व्यास ने भी 'आश्चर्य-वृत्तांत' लिखकर उपन्यास-लेखकों में अपना नाम दर्ज करा लिया। वास्तव में इन चुटकुलों को तो उपन्यास कहना ही अन्याय है। 'आश्चर्य-वृत्तांत' भी एक मनगढ़ंत कथा है। इसमें अद्भुत और अलौकिक की ओर ही अधिक ध्यान दिया गया है जैसा इसके नाम से ही प्रकट होता है।

अंबिकादत्त व्यास

❋ हिंदी-साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृष्ठ ५६७।

'ऐसा किस्सा सुनाऊँ कि सुननेवाले भी दंग रह जायँ' इसी भावना से प्रेरित होकर व्यासजी ने अपने इस भानमती के पिटारे की रचना की। साधारण कोटि के पाठकों का मन बहलाने के लिए यह अच्छी चीज है, परंतु इसका कोई साहित्यिक मूल्य नहीं।

'सौ अजान एक सुजान' तथा 'नूतन ब्रह्मचारी' के कारण हम पंडित बालकृष्ण भट्ट को भी नहीं भूल सकते। इनके ये दोनों छोटे छोटे उपन्यास सोद्देश्य हैं। इनमें उपदेश की मात्रा ही अधिक है, कला बेचारी के लिए तो जगह ही नहीं। 'आश्चर्य-वृत्तांत' आदि अद्भुत कथाओं से तो कुछ मन-बहलाव भी होता है पर भट्टजी के उपन्यासों से वह भी नहीं। किसी नैतिक तथ्य का ग्रहण कराने के लिए एक कहानी की कल्पना कर ली और लिख डाला। थोड़ा बहुत चरित्र-चित्रण का प्रयास अवश्य मिलता है, पर वह भी उपदेश के नीचे दब सा गया है। 'सौ अजान एक सुजान' को ही लीजिए। इसमें किसी सेठ हीराचंद के दो पुत्रों ने किस तरह दो-चार चाटुकार 'अजान' मित्रों के चक्कर में पड़कर अपना सब कुछ गवाँ दिया और फिर किस तरह एक 'सुजान' मित्र ने उनका उद्धार किया इसी का वर्णन है। पुस्तक के अंत में भट्टजी ने अपना उद्देश्य स्पष्ट भी कर दिया है—"अंत में हम अपने पढ़नेवालों को सूचित करते हैं कि आप लोगों में यदि कोई अबोध और अजान हो तो हमारे इस उपन्यास को पढ़कर, आशा करते हैं, सुजान बने; इस किस्से के अजानों को सुजान करने को चंद्र था और आप लोगों को हमारा यह उपन्यास होगा।" पर भट्टजी महाराज को समझना चाहिए था कि सुजान बनने के लिए उपन्यास नहीं पढ़ा जाता। उसके लिए और और साधन हैं। यद्यपि उपन्यास-वाङ्मय में भट्टजी का कोई स्थान नहीं, पर हिंदी-गद्य के विकास में उनका बहुत बड़ा हाथ है।

बालकृष्ण भट्ट

यह तो हुआ उपन्यासों के बालकाल का दुधमुँहा प्रयास, जिसे प्रथम अवस्था कहा गया है। इसमें अधिकतर लेखक भारतेंदु-मंडल के ही थे। साहित्य के अन्य सभी अंगों पर भारतेंदुजी की दृष्टि पड़ी थी, परंतु न जाने क्यों हमारे इस 'इंदु' के प्रकाश से उपन्यास-वाङ्मय वंचित ही रहा। यही कारण है कि उस युग के अन्य नक्षत्र भी इस ओर अधिक प्रकाश विकीर्ण न कर सके। वास्तव में उपन्यास नाम सार्थक करनेवाली कोई उत्कृष्ट रचना उस समय न हो पाई। नाटकों और निबंधों को उस समय जितना प्रोत्साहन मिला उतना उपन्यासों को न मिल सका। इसका कारण संभवतः यह हो सकता है कि उस समय तक लेखकों के सामने उपन्यास का कोई विशिष्ट ढाँचा अथवा आदर्श नहीं था। लाला श्रीनिवासदास आदि एकाध अँगरेजीदाँ लोगों ने अँगरेजी ढंग पर मौलिक उपन्यास लिखने का प्रयत्न किया, परंतु ऐसे लोग बहुत कम थे। इसलिए उपन्यास-क्षेत्र में लेखकों को पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता थी।

अनुवाद

"उस समय तक बंगभाषा में बहुत-से उपन्यास निकल चुके थे। अतः हिंदी में सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों की परंपरा प्रतिष्ठित करने के लिए बँगला के कुछ अच्छे उपन्यासों का चटपट अनुवाद करना आवश्यक दिखाई पड़ा। अनुवाद में लग्गा भारतेंदु के सामने ही लग गया। बाबू गदाधरसिंह ने 'बंगविजेता' और 'दुर्गेशनंदिनी' का अनुवाद किया। भारतेंदुजी के फुफेरे भाई बाबू राधाकृष्णदास ने 'स्वर्णलता', 'मरता क्या न करता' आदि उपन्यास अनुवाद करके निकाले। पंडित प्रतापनारायण मिश्र ने 'राजसिंह', 'इंदिरा', 'राधारानी', 'युगलांगुरीय' और पंडित राधाचरण गोस्वामी ने 'विरजा', 'जावित्री', 'मृण्मयी' का अनुवाद किया। फिर तो बँगला के उपन्यासों के अनुवाद का ऐसा रास्ता खुला कि भरमार हो गई। पर पिछले अनुवादकों का अपनी

भाषा पर वैसा अधिकार न था जैसा उपर्युक्त लेखकों का था। अधिकांश अनुवादक हिंदी का ठीक ठीक रूप देने में समर्थ नहीं हुए। इन अनुवादों से काम यह हुआ कि नए ढंग के ऐतिहासिक और सामाजिक उपन्यासों का अच्छा परिचय हो गया और स्वतंत्र उपन्यास लिखने की प्रवृत्ति और योग्यता उत्पन्न हुई।"❀

(२) द्वितीय अवस्था

अनुवाद

भारतेंदु-काल में अनुवादों का जो रास्ता खुला उसकी आज तक धूम है। अतएव उपन्यास के पूर्व-काल या बालकाल के पिछले खेवे के नामी उपन्यासकारों का विवेचन करने के पहले उस युग के अनुवाद की बात खतम कर देनी चाहिए। इस काल के पूर्वार्ध में, जैसा ऊपर कह आए हैं, वंगभाषा के अनुवादकों में बाबू गदाधरसिंह का एक विशेष स्थान था। इसके उत्तरार्ध या द्वितीय अवस्था में इस स्थान पर बाबू रामकृष्ण वर्मा और बाबू कार्त्तिकप्रसाद खत्री दिखाई पड़ते हैं। "बाबू रामकृष्ण वर्मा ने उर्दू और अँगरेजी से भी कुछ अनुवाद किया था। संवत् १९५७ के पहले वे 'ठग-वृत्तांत-माला' (१९४६), 'पुलिस-वृत्तांत-माला' (१९४७), 'अकबर' (१९४९) 'अमला-वृत्तांत-माला' (१९५१) और 'चित्तौर-चातकी' (१९५२) तथा बाबू कार्त्तिकप्रसाद खत्री 'इला' (१९५२) तथा 'प्रमीला' (१९५३) का अनुवाद कर चुके थे। 'जया' और 'मधुमालती' के अनुवाद दो एक वर्ष पीछे निकले। उपर्युक्त तीनों लेखकों की भाषा बहुत ही साधु और संयत रही। यद्यपि उसमें चटपटापन न था पर हिंदीपन पूरा पूरा था। फारसी-अरबी के शब्द बहुत नहीं दिखाई देते हैं। साथ ही संस्कृत के शब्द भी ऐसे ही आए हैं जो हिंदी के परंपरागत रूप में किसी प्रकार का असामंजस्य नहीं उत्पन्न करते।

❀ हिंदी-साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचंद्र शुक्ल।

"इसके उपरांत हमें बाबू गोपालराम (गहमर) वंगभाषा के गार्हस्थ्य-उपन्यासों के अनुवाद में तत्पर मिलते हैं। उन्होंने 'चतुर चंचला' (१९५०), 'भानमती' (१९५१), 'नए बाबू' (१९५१), 'बड़ा भाई' (१९५७), 'देवरानी-जेठानी' (१९५८), 'दो बहिन' (१९५९), 'तीन पतोहू' (१९६१) और 'सास-पतोहू' आदि के अनुवाद निकाले। भाषा उनकी चटपटी और वक्रतापूर्ण है। ये गुण लाने के लिए कहीं कहीं उन्होंने पूरबी शब्दों और मुहावरों का भी बेधड़क प्रयोग किया है। उनके लिखने का ढंग बहुत ही मनोरंजक है। इसी समय गाजीपुर के मुंशी उदितनारायण लाल के भी कुछ अनुवाद निकले जिनमें मुख्य 'दीपनिर्वाण' नामक ऐतिहासिक उपन्यास है। इसमें पृथ्वीराज के समय का चित्र है। संवत् १९४५ के लगभग हिंदी के प्रसिद्ध कवि और लेखक पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय ने उर्दू से अनुवाद करके अत्यंत संस्कृतपूर्ण भाषा में 'वेनिस का बाँका' निकाला।

"इस युग के भीतर बंकिमचंद्र, रमेशचंद्र दत्त, हाराणचंद्र रक्षित, चंडीचरण सेन, शरत बाबू, चारुचंद्र इत्यादि वंगभाषा के प्रायः सब प्रसिद्ध प्रसिद्ध उपन्यासकारों की पुस्तकों के अनुवाद तो हो ही गए, रवींद्र बाबू के 'आँख की किरकिरी' आदि कई उपन्यास हिंदी-रूप में दिखाई पड़े जिनके प्रभाव से इस युग के अंत में आविर्भूत होनेवाले हिंदी के मौलिक उपन्यासकारों का आदर्श बहुत कुछ ऊँचा हुआ। इस अनुवादविधान में योग देनेवालों में पंडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा और पंडित रूपनारायण पांडेय विशेष उल्लेखनीय हैं। वंगभाषा के अतिरिक्त मराठी और गुजराती के भी कुछ उपन्यासों का अनुवाद हिंदी में हुआ, पर बँगला की अपेक्षा बहुत कम। बाबू रामचंद्र वर्मा का 'छत्रसाल' इस प्रकार के अच्छे उपन्यासों में है।" ❀

❀ हिंदी-साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचंद्र शुक्ल।

मौलिक उपन्यासकार

उपन्यास-वाङ्मय के आदिकाल की प्रथम अवस्था अथवा भारतेंदु-काल में मौलिक उपन्यासों की रचना इनी-गिनी ही हुई। इसका एक बहुत बड़ा कारण यह भी था कि पाठकों के द्वारा लेखकों को प्रोत्साहन नहीं मिला। अभी जनता की रुचि उस ओर हुई ही न थी। छोटे शहरों में सिनेमा-भवन खुलने पर जैसे कुछ दिन संचालकों को घाटा रहता है और जनता को आकृष्ट करने के लिए आने दो आने में ही सिनेमा दिखाया जाता है वैसे ही उस समय पाठकों की संख्या बढ़ाने के लिए किसी ऐसे उपन्यासकार की आवश्यकता थी जो सस्ती और चटपटी चीजें देकर साहित्य के इस अंग की ओर लोगों को आकृष्ट करता।

देवकीनंदन खत्री

उपन्यास पढ़ने का क्या मजा है अभी तो यही स्वाद उत्पन्न करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति हमारे स्वर्गीय देवकीनंदन खत्री ने की। आज 'प्रेमचंद', 'प्रसाद' और 'कौशिक' के सामने हम भले ही देवकी-नंदन खत्री को भूल जायँ परंतु इन लोगों के लिए मार्ग बनानेवाले वे ही थे। देवकीनंदन खत्री के द्वारा हिंदी का जो प्रचार हुआ वह स्तुत्य है। 'चंद्रकांता' और 'चंद्रकांता-संतति' बिलकुल ठीक समय पर जनता के मनोनुकूल होकर आईं और हिंदी सीखने के लिए लोगों को प्रलोभन दिया। हिंदी के प्रचार कार्य में 'चंद्रकांता' और 'चंद्रकांता-संतति' का बहुत बड़ा स्थान है। कहते हैं कि न जाने कितने ही उर्दूदाँ लोगों ने इन्हीं पुस्तकों को पढ़ने के लिए हिंदी सीखी और इस प्रकार के उपन्यासों की माँग बहुत बढ़ चली। देखादेखी बहुत लोगों को लिखने का भी शौक हुआ और लेखकों की संख्या बढ़ी।

चंद्रकांता-संतति और उस जैसी अन्य पुस्तकों के प्रति जनता की यह अभिरुचि कई विचारों से महत्त्वपूर्ण थी। लेखकों और प्रकाशकों के द्रव्य-लाभ के अतिरिक्त उससे यह भी सिद्ध होता है कि

जनता काव्य-वाङ्मय की कृत्रिमता और परिमिति से ऊबकर खुले मैदान में आने के लिए उत्सुक थी। भाषा और व्यंजना के अधिक निकट होने के अतिरिक्त वह यह भी चाहती थी कि साहित्यिक विषय का विस्तार हो और शृंगार-उपवन की झुरमुटों से निकलकर वह बाहर के संसार को भी देखे। यद्यपि चंद्रकांता-संतति में किया हुआ विषय-विस्तार बहुत अस्वाभाविक है परंतु रीति-वाङ्मय की एकांगिता से ऊबी हुई जनता ने उस अस्वाभाविकता का भी स्वागत किया।

स्वर्गीय प्रेमचंदजी का "अनुमान है कि बाबू देवकीनंदन खत्री ने चंद्रकांता और चंद्रकांता-संतति का बीजांकुर 'तिलस्म होशरुबा' से ही लिया होगा"।❊ 'तिलस्म होशरुबा' फारसी का एक बड़ा पोथा है, जिसके रचयिता अकबर के दरबारी फैजी कहे जाते हैं। इस पोथे का उर्दू में भी अनुवाद हो गया है। कम से कम २०००० पृष्ठों की पुस्तक होगी। बाबू देवकीनंदन खत्री ने बीजांकुर चाहे जहाँ से भी लिया हो परंतु चंद्रकांता और चंद्रकांता-संतति उनकी मौलिक रचनाएँ हैं, इसमें संदेह नहीं। बाबू देवकीनंदन से मिलनेवालों का कहना है कि उनकी स्मरण-शक्ति अद्भुत थी। वे पुस्तक लिखते जाते थे और प्रेस में भेजते जाते थे। कभी कभी तो यदि एकाध पेज का मैटर कम होता था तो देवकीनंदनजी राह चलते थोड़ी देर के लिए बैठकर लिख दिया करते थे। चुनार की पहाड़ियों में न जाने कहाँ से देवकीनंदनजी को तहखानों की अनंत परंपरा मिल गई और फिर तो उन्हीं तहखानों को लेकर इन्होंने ये बृहद् ग्रंथ रच डाले। देवकीनंदनजी ने ऐयारी या तिलस्म का कोई फन न छोड़ा होगा।

यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि इन ऐयारी या तिलस्मी उपन्यासों का लक्ष्य केवल घटना-वैचित्र्य रहा; रस-संचार, भाव-विभूति या चरित्र-चित्रण नहीं। ये उपन्यास दादी-नानीवाली कहानियों के

❊ देखिए स्वर्गीय प्रेमचंद का 'उपन्यास' नामक निबंध।

विकसित रूप ही हैं, जिनका प्रधान उद्देश्य हमारी सहज कुतूहल-वृत्ति को ही जागरित और शांत करना है। चंद्रकांता-संतति में हम लोगों का आकर्षण राजा गोपालसिंह, इंद्रजीतसिंह, आनंदसिंह या भैरो, भूतनाथ आदि पात्रों के प्रति नहीं होता परंतु उनके द्वारा किए गए अद्भुत एवं अलौकिक कार्यों के प्रति होता है। इन पात्रों का अपना कोई अस्तित्व नहीं है और सभी प्रायः एक से हैं। ऐसा लगता है मानो वे लेखक के हाथ की पुतली मात्र हैं। लेखक के इशारे पर वे ऊँची से ऊँची अट्टालिका फाँद जा सकते हैं, पानी पर दौड़ सकते हैं और भयानक भूगर्भ में भी अपना कौतुक दिखला सकते हैं। लेखक के एक बार छू मंतर करते ही बिलकुल एक ही रूप-रंग के अनेक पुरुष एक ही स्थान पर एकत्र हो सकते हैं। कहा जाता है कि कृष्ण-कन्हैया के उस प्रसिद्ध शारदीय रास के समय जितनी गोपियाँ थीं उतने ही कृष्ण बनकर नाच रहे थे। भक्त इसे भगवान की महिमा समझकर मुग्ध हो जाया करते हैं परंतु ऐसे ऐसे 'एकोऽहं बहु स्याम्' वाले दृश्य देवकीनंदनजी के चंद्रकांता और चंद्रकांता-संतति में भरे पड़े हैं। जीवन की कठोर वास्तविकता से दूर यह एक निराली ही दुनिया है।

जगत के दुःख-ताप, असंतोष-हाहाकार के नीरस वातावरण से भागकर इस अद्भुत लोक में क्षणिक विश्राम की प्रवृत्ति से ही ये उपन्यास प्रेरित होते हैं। ये जीवन के चित्र नहीं, इच्छाओं के काल्पनिक मूर्त-विधान होते हैं। इनमें मानवके मूलभूत भाव रागद्वेष, क्रोध-करुणा, प्यार-घृणा आदि को उद्वेलित करने का प्रयास नहीं। इनके पात्रों के साथ हमारे हृदय का स्वर नहीं मिलता। वास्तव में हृदय का स्वर तो हृदयवालों से मिलता है, इन पात्रों में तो हृदय है ही नहीं। ये तो लेखक के हाथ के खिलौने हैं, जिसे चाहा काला रँग दिया या गुलाबी। काव्य की महत्ता तो सुंदर 'चरित्र-सृष्टि' में ही है। 'चरित्र-सृष्टि' का

अर्थ है रागों और मनोवेगों के आधार-स्वरूप मानव-पात्रों की सृष्टि। मानव-पात्रों की ऐसी सृष्टि इन उपन्यासों में ढूँढ़े भी न मिलेगी। भूतनाथ, चपला या तेजसिंह का हृदय नहीं, उनका ऐयारी झोला ही हमें आकर्षित करता है। वे काव्य के अमर सजीव पात्र नहीं, जिनमें विशाल एवं वैचित्र्यपूर्ण भावना-संसार के सार की प्रतिष्ठा हो। वे बाजीगर मात्र हैं जो अपने कर्ता और नियामक के इशारे पर नया-नया तमाशा दिखाते चलते हैं। 'अब वे क्या करेंगे ?' इसी की ताक में हमारी जिज्ञासा उद्बुद्ध रहती है। यह औत्सुक्य-तृप्ति ही इनका एकमात्र उद्देश्य है अन्यथा मानवता के मानसिक-उत्थान में इनका कोई योग नहीं—और इसी लिए साहित्य में इनका कोई स्थान भी नहीं।

पर साहित्य की दृष्टि से कोई मूल्य न रखते हुए भी ऐसे उपन्यासों का अपना महत्त्व तो होता ही है। 'चंद्रकांता' का विधाता साधारण प्रतिभा का मानव न रहा होगा। उसकी बुद्धि की प्रशंसा सभी सहृदय करते हैं और करेंगे। घटनाओं का एक जटिल, सघन, दुरूह जाल दूर तक फैलाकर, फिर अंत में अपनी विलक्षण स्मृति के बल पर इन फैले हुए तथ्यों को समेट लेना साधारण व्यक्तित्व का कार्य नहीं। इसी से आज भी ये रचनाएँ कुछ न कुछ आश्चर्य और कुतूहल का विषय बनी हुई हैं।

हिंदी-साहित्य के इतिहास में देवकीनंदन खत्री की भाषा के संबंध में पंडित रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है—"उन्होंने ऐसी भाषा का व्यवहार किया जिसे थोड़ी हिंदी और थोड़ी उर्दू पढ़े हुए लोग भी समझ लें। कुछ लोगों का यह कहना कि उन्होंने राजा शिवप्रसाद वाली उस पिछली 'आम फहम' भाषा का अनुसरण किया, जो एकदम उर्दू की ओर झुक गई थी, ठीक नहीं। कहना चाहें तो कह सकते हैं कि उन्होंने साहित्यिक हिंदी न लिखकर 'हिंदुस्तानी' लिखी, जो केवल इसी प्रकार की हल्की रचनाओं में काम दे सकती है"।

बाबू देवकीनंदन खत्री की रचनाओं में विशेष उल्लेखनीय 'चंद्रकांता' ही है। इसमें तिलस्म और ऐयारी की धूम है। इसके अतिरिक्त काजर की कोठरी, कुसुम कुमारी, नरेंद्र-मोहिनी, वीरेंद्र वीर इत्यादि अनेक उपन्यास इन्होंने लिखे हैं। इनमें वीरेंद्र वीर, कुसुम-कुमारी आदि उपन्यास खूनी हैं। खूनी, तिलस्मी और ऐयारी इन क्षेत्रों का कोना-कोना इन्होंने देख डाला था। इनमें न तो कोई अभी तक इनसे आगे बढ़ सका और न भविष्य में ही ऐसी आशा है।

बाबू देवकीनंदन खत्री के दिखाए तिलस्मी रास्ते पर उस समय कितने ही लेखक चल पड़े थे। उन सबका उल्लेख करना वांछनीय नहीं। क्योंकि उनमें कोई विशेषता नहीं। इन सबमें उल्लेखनीय बाबू हरिकृष्ण जौहर हैं जिन्होंने तिलस्म और ऐयारी के क्षेत्र में काफी जौहर दिखाए हैं।

घटना-प्रधान उपन्यासों के प्रति जनता की अत्यधिक अभिरुचि और उसकी बढ़ती हुई माँग को देखकर बाबू गोपालराम गहमरी अपने जासूसी उपन्यास लेकर साहित्य के क्षेत्र में आए। हिंदी में यह भी एक नवीन वस्तु थी और जनता ने इसका उत्साह के साथ स्वागत किया। गहमरीजी ने कुछ तो मौलिक उपन्यास लिखे और कुछ का अन्य भाषाओं से अनुवाद किया, जिसका उल्लेख हो चुका है। ये जासूसी उपन्यास पूर्ण रूप से योरप—विशेषतः इंगलैंड की देन हैं। स्काटलैंड यार्ड की पुलिस और जासूसों के साहस, निर्भयता तथा बुद्धि-चातुरी को लेकर इँगलैंड में जासूसी उपन्यासों की भरमार हो चली थी। उन दिनों वास्तव में इँगलैंड के हत्यारों और डाकुओं के दमन के लिए सरकार को पुलिस और जासूसों की बड़ी कड़ी व्यवस्था करनी पड़ती थी। बड़े बड़े जासूसों ने अपनी बुद्धि-चातुरी के द्वारा भयंकर डाकुओं के भी छक्के छुड़ा दिए थे। इन कथानकों में उपन्यासकारों

गोपालराम गहमरी

की प्रतिभा के लिए पर्याप्त सामग्री थी। अतः ऐसे उपन्यास धड़ाधड़ निकलने लगे। फिलिप ओपेनहम, शरलाक होम्स, एडगर वैलेस आदि उपन्यासकारों ने इन विषयों पर बड़ी मनोरंजक रचनाएँ कीं। ब्लेक सीरीज, सिक्स पेंस सीरीज, फोर पेंस सीरीज आदि कई पुस्तकमालाएँ जासूसी उपन्यासों के लिए ही निकाली गईं। स्टेशन की 'स्टाल' पर चार-छः आने में खरीदी हुई ये पुस्तकें रेलयात्रा आसानी से समाप्त करने का अच्छा साधन होती थीं। अँगरेजी साहित्य की यह प्रवृत्ति हिंदी में गहमरीजी के द्वारा व्यक्त हुई और खूब सफल भी रही।

गहमरीजी ने जासूसी उपन्यासों का 'जासूस' नामक एक पत्र ही निकालना आरंभ कर दिया जो अब तक चला जा रहा है। इस पत्र में गहमरीजी के जासूसी उपन्यास धारावाहिक रूप में निकलते रहे हैं। ये उपन्यास भी घटना-प्रधान ही थे। यद्यपि चरित्र-चित्रण आदि की दृष्टि से इन उपन्यासों का भी विशेष मूल्य नहीं है परंतु इनसे यह लाभ अवश्य हुआ कि जनता को उपन्यास पढ़ने का और भी चस्का लग गया।

बाबू देवकीनंदन खत्री और गहमरीजी के उपन्यासों के अंतर स्पष्ट लक्षित होते हैं। ऐयारी उपन्यासों में घटनाओं का एक जमघट सा होता है और ये घटनाएँ प्रायः एक दूसरे से संबद्ध नहीं होतीं। उनका नायक ही बिखरी हुई घटनाओं में संबंध स्थापित करता है, जिससे ये एक संबद्ध कहानी का रूप धारण कर पाती हैं। परंतु जासूसी उपन्यासों में यह बात नहीं होती। उनमें पूर्वापर संबंध होता है और प्रत्येक घटना का एक निश्चित क्रम होता है। घटनाओं के इस तरह कार्य-कारण रूप में गुथे होने के कारण इनके द्वारा पाठकों में ऐयारी उपन्यासों की अपेक्षा आशा, निराशा, भय, आशंका आदि की तीव्रतर भावनाएँ उद्दीप्त कराई जा सकती हैं। इस कार्य-कारण संबंध के अभाव से ही 'चंद्रकांता' जैसे उपन्यास बिलकुल ही कपोल-कल्पना से लगते

हैं। पर जासूसी उपन्यास कुतूहलपूर्ण होते हुए भी बिलकुल हवाई ही नहीं जान पड़ते। उनकी बहुत सी बातें बुद्धिग्राह्य भी होती हैं।

जासूसी उपन्यासों का क्षेत्र ऐयारी की अपेक्षा अधिक परिमित होता है। ऐयारी उपन्यासों की भाँति जासूसी उपन्यासों में कल्पना के पंख उन्मुक्त नहीं होते। उसके परों में बुद्धि का बंधन होता है, जो उसे अधिक मानवीय बनाता है। यहाँ जासूस वहीं तक अपना कौशल दिखला सकते हैं जहाँ तक वह मानव बुद्धिगम्य हो—अलादीन के चिराग की तरह वे सर्वशक्तिमान् नहीं हैं। उनकी बुद्धि वहीं तक काम करती है जहाँ तक आधुनिक विज्ञान उन्हें सुविधाएँ देता है। उनके ओवरकोट के पाकेट में तेजसिंह के झोले सी शक्ति नहीं। इसके अतिरिक्त इन उपन्यासों में चंद्रकांता-संतति आदि की भांति पात्र-बाहुल्य भी नहीं होता। गहमरीजी के अधिकतर उपन्यास आधुनिक समाज-संबंधी ही होते हैं, जिनमें थोड़ा-बहुत चरित्र-चित्रण भी मिलता है पर यह चरित्र-चित्रण उतना ही होता है जितना घटनाएँ अपेक्षा करती हैं। पात्रों में साहस, निर्भयता, चालाकी आदि गुणों का अवस्थान करके उसे निभाने का प्रयत्न किया जाता है। इसमें मानव के क्रिया-कलाप मानव शक्ति के भीतर ही होते हैं, दानव से नहीं। इसीलिए ऐयारी की अपेक्षा ये उपन्यास हमारे अधिक निकट हैं, यद्यपि उनका भी प्रधान ध्येय घटना-वैचित्र्य ही होता है। एक छोटे से रहस्य-बीज के द्वारा बड़ी बड़ी घटनाओं और भेदों का पता लगाने की चातुरी में ही इन उपन्यासों का प्रधान आकर्षण होता है। एक सनसनी फैलानेवाली घटना—किसी खून, किसी डकैती के मूल में किसका हाथ है इन बातों के उद्घाटन में ही जासूसी उपन्यासों की सफलता होती है। इनमें अधिकतर जासूसों के चरित्र का उत्कर्ष दिखाया जाता है और इनका उद्देश्य ऐयारी उपन्यासों की अपेक्षा अधिक उपयोगी होता है।

आज भी गहमरीजी अपने पुराने जासूसों के साथ जनता

का मनोरंजन कर रहे हैं और साधारण पाठकों को बहुत प्रिय भी हैं। इनकी भाषा भी बड़ी चटपटी और वक्रतापूर्ण होती है। ये गुण लाने के लिए कहीं कहीं उन्होंने पूर्वी शब्दों और मुहावरों का बेधड़क प्रयोग किया है। उनके लिखने का ढंग बहुत ही मनोरंजक है।

देवकीनंदन खत्री आदि के समय तक, जैसा अनुवादों का विवेचन करते हुए बताया जा चुका है, बँगला भाषा में सामाजिक उपन्यासों की परंपरा चल निकली थी और प्रसिद्ध सामाजिक उपन्यासों का हिंदी में भी अनुवाद होने लगा था। इन अनुवादित कला-कृतियों में घटनाओं के अतिरिक्त समाज के चित्रों और चरित्रों के दिग्दर्शन का प्रयत्न भी होता था, जिसके कारण लेखक इनकी ओर आकृष्ट हुए। स्वर्गीय पंडित किशोरीलाल गोस्वामी ने बँगला के सामाजिक उपन्यासों के ढंग पर मौलिक रचनाएँ आरंभ कीं और उनका कुछ न कुछ प्रचार भी हुआ।

किशोरीलाल गोस्वामी

संख्या और परिमाण की दृष्टि से गोस्वामीजी ने जितना उपन्यास-वाङ्मय प्रस्तुत किया, उतना आजकल का कोई भी लेखक नहीं कर पाया। संवत् १९५५ में इन्होंने 'उपन्यास' मासिक पत्र निकाला और अपने जीवन-काल में ६५ छोटे-बड़े उपन्यास लिखकर प्रकाशित किए। अतः साहित्य की दृष्टि से इन्हें हिंदी का पहला उपन्यासकार कहना चाहिए। इस आरंभयुग के पूर्वार्ध के भीतर उपन्यासकार इन्हीं को कह सकते हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने हिंदी-साहित्य के इतिहास में लिखा है—"और लोगों ने भी उपन्यास लिखा, पर वे वास्तव में उपन्यासकार न थे। और चीजें लिखते-लिखते वे उपन्यास की ओर भी जा पड़ते थे। पर गोस्वामीजी वहीं घर करके बैठ गए। एक क्षेत्र उन्होंने अपने लिए चुन लिया और उसी में रम गए।"

उपन्यास-कला की दृष्टि से गोस्वामीजी के इस भांडार का अधिक मूल्य नहीं। गोस्वामीजी की लगन सच्ची और उत्साह असीम होने पर

की प्रतिभा इतनी मौलिक नहीं थी कि अपने लिए कोई नया मार्ग बना सकती। अतः घटना-प्रधानता के उस युग की परिस्थितियों से वे अपने को स्वतंत्र न रख सके और उनके उपन्यासों में चरित्र-चित्रण की ओर आग्रह स्पष्ट होने पर भी घटनाओं का ही बोलबाला रहा। पर गोस्वामीजी की कृतियों का यदि साहित्यिक मूल्य नहीं तो उनका ऐतिहासिक मूल्य बहुत बड़ा है। उनके उपन्यास गहमरीजी के जासूसी उपन्यासों और स्वर्गीय प्रेमचंदजी के नाटकीय उपन्यासों के बीच की कड़ी हैं। चरित्र-चित्रण की ओर थोड़ा उत्साह दिखाकर नवीन उत्थान के लिए उन्होंने भूमि को उर्वर बनाया।

पंडित किशोरीलाल गोस्वामी के कुछ उपन्यासों के नाम ये हैं—चपला वा नव्य समाज-चित्र, लखनऊ की कब्र वा शाही महलसरा, तारा, रजिया बेगम, मल्लिका देवी वा वंग-सरोजिनी, लीलावती वा आदर्श सती, राजकुमारी, स्वर्गीय कुसुम वा कुसुम-कुमारी, तरुण तपस्विनी वा कुटीरवासिनी, हृदय-हारिणी वा आदर्श रमणी, लवंगलता वा आदर्श बाला, याकूती तख्ती वा यमज सहोदरा, कटे मूड़ की दो दो बातें वा तिलस्मी शीशमहल, कनककुसुम वा मस्तानी, सुख-शर्वरी, पुनर्जन्म वा सौतियादाह, प्रेममयी, गुलबहार, इंदुमती वा वन-विहंगिनी, लावण्यमयी, प्रणयिनी परिणय, जिंदे की लाश, चंद्रावती वा कुलटा-कुतूहल, चंद्रिका वा जड़ाऊ चंपाकली, हीराबाई वा बेहयायी का बोरका।

उपर्युक्त सूची से पता चलता है कि गोस्वामीजी ने ऐयारी, सामाजिक तथा ऐतिहासिक सभी प्रकार के उपन्यास लिखने का प्रयास किया था। परंतु जैसा ऊपर कह आए हैं उनके सामाजिक तथा ऐतिहासिक उपन्यासों में भी घटना-चमत्कार की ओर ही अधिक रुचि लक्षित होती है। यद्यपि गोस्वामीजी ने इस बात का प्रयास किया कि उपन्यास की रूढ़ियों को लाँघकर बहुरंगे संसार तक अपनी कला का विस्तार करें

पर परंपरा से चली आती हुई उस चमत्कारपूर्ण प्रेम-कहानी में इतना आकर्षण था कि वे उससे अपना पीछा न छुड़ा सके। अतएव गोस्वामी जी के हाथों उपन्यास कला की वह प्रतिष्ठा न हो सकी जो आधुनिक उपन्यासों का प्राण है और जिसके कारण यह कला आज अन्य साहित्य-कलाओं का सिरमौर हो रही है। अतएव उनके उपन्यास प्रधानतया नायक-नायिका के उपन्यास होकर ही रह गए, जीवन के अन्य पक्षों तक उनकी पहुँच न हो सकी। नर-नारी का प्रेम-संगीत किसी कलाकार को हेय नहीं बनाता क्योंकि सभी कलाओं के मूल में प्रेम की प्राण-धारा प्रवाहित होती है। हृदय की यह सुकुमार वृत्ति ही तो मानवता का बंधन है। इसी से तो मनुष्य मनुष्य है और कला कला। परंतु प्रेम के नाम पर निम्नकोटि की वासनाओं का नग्न चित्र दिखाना प्रेम और कला दोनों पर ही बलात्कार करना है। गोस्वामीजी के उपन्यासों के नामकरण से ही विदित हो जाता है कि सबके मूल में कोई न कोई स्त्री है, चाहे वह चपला, मस्तानी, प्रेममयी, वनविहंगिनी लावण्यमयी, प्रणयिनी हो अथवा कुलटा। इन उपन्यासों के पढ़ने से ऐसा विदित होता है कि गोस्वामीजी के प्रायः सभी नायक एक से कामुक और नायिकाएँ एक सी सुंदरी हैं। एक बार साक्षात्कार होने से ही हृदय में प्रेम की पीर उठने लगती है और फिर तो तड़पते ही दिन बीतते हैं। उनकी नायिकाओं में वह सलज्ज गंभीरता, वह संयत प्रेम तथा कुल की आन का वह ध्यान नहीं है जिसके कारण भारतीय नारीत्व चिरकाल से गौरवान्वित रहा है। उनका प्रेम यौवन की उद्दाम लालसा से उत्तेजित उच्छृंखल आसक्ति मात्र है, जो प्रायः नववयस्कों के अस्थिर मन को दूषित कर सकती है। उनकी 'चपला' का चपल आकर्षण युवक-हृदयों के लिए मंगलमय नहीं। उसमें उच्च वासनाएँ व्यक्त करनेवाले दृश्यों की अपेक्षा निम्नकोटि की वासना प्रकाशित करनेवाले दृश्य अधिक भी हैं और चटकीले भी। किसी किसी उपन्यास

में तो उन्होंने कामशास्त्र के अंगों से ही परिच्छेदों का नामकरण तक कर डाला है। 'मदन-मोहनी वा माधवी-माधव' में उन्होंने परिच्छेदों के नाम 'अंकुर', 'पल्लव', 'शाखा', 'पुष्प', 'सुरभि', 'पराग', 'फल', 'मधु', 'आस्वादन' और 'परितृप्ति' रखे हैं।

यह सब होते हुए भी गोस्वामीजी को तत्कालीन समाज का अच्छा ज्ञान था और उनके सामाजिक चित्रण में पर्याप्त सजीवता है। अपने सामाजिक उपन्यासों में उन्होंने देश-काल का भी ध्यान रखा है। कथोपकथन में भी उनको अच्छी सफलता मिली है यद्यपि कहीं कहीं पात्रों की अस्वाभाविक बातचीत बहुत खटक जाती है। उनके वर्णन का ढंग बहुत ही चित्ताकर्षक होता है। उपन्यास के प्राण-स्वरूप चरित्र-चित्रण में गोस्वामीजी को बहुत कम सफलता मिली है। उनकी चरित्र-सृष्टि सामान्य मानव-सृष्टि के मेल में बहुत कम आती है। फिर भी यह तो स्वीकार ही करना पड़ता है कि भले या बुरे चरित्र-चित्रण की ओर संकेत करनेवाले किशोरीलालजी ही हैं, और इसी लिए इन्हें हिंदी का पहला उपन्यासकार कहना असंगत भी नहीं।

सामाजिक उपन्यासों में तो गोस्वामीजी को कुछ सफलता मिली भी, परंतु ऐतिहासिक उपन्यासों में वे बिलकुल ही असफल रहे। अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में वे बड़े डील-डौल की घटनाएँ लेकर चले, पर ऐतिहासिक अध्ययन की स्वल्पता और समसामयिक समाज का प्रतिबिंब लाने की चेष्टा ने उनके उपन्यासों को ऐसा कर दिया मानो जहाँगीर और शाहजहाँ को कोट-पतलून पहनाया गया हो। उनके अधिकतर उपन्यास मुसलमान शासनकाल के ही हैं, परंतु उनका आधार इतिहास की अपेक्षा गोस्वामीजी की हवाई कल्पना ही अधिक मालूम पड़ती है। उनके उपन्यासों से भिन्न-भिन्न समयों की सामाजिक और राजनीतिक अवस्था का अध्ययन और संस्कृति के स्वरूप का अनुसंधान नहीं सूचित होता। कहीं कहीं तो कालदोष तुरंत ध्यान में आ

जाता है—जैसे वहाँ जहाँ अकबर के सामने हुक्का या पेचवान रखे जाने की बात कही गई है।

'तारा' गोस्वामीजी की एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक कृति है। इसकी नायिका तारा महाराणा अमरसिंह की पुत्री है; वे उन दिनों राजनीतिक कारणों से आगरे में ही रहते थे। इसमें शाहजहाँ के अंतिम दिनों के आगरे और शाही परिवार का चित्रण किया गया है। इस उपन्यास में ऐतिहासिक पात्रों की पूरी दुर्दशा की गई है। आगरे का राजमहल, जिसमें परम प्रेमी विश्वविख्यात बूढ़ा शाहजहाँ निवास करता था, कुत्सित वासनाओं के रहस्यमय अखाड़े के रूप में चित्रित किया गया है। दारा के साथ उसके भाइयों ने ही पर्याप्त अत्याचार किया था, परंतु उसके उज्ज्वल चरित्र पर गाढ़ी स्याही पोतकर जो दुर्दशा गोस्वामीजी ने की है वह अधिक चिंतनीय है। किले के कुत्सित वातावरण में शाहजादियों की उच्छृंखल इश्कमिजाजी और उनकी दूतियों की ऐयारी का जैसा वासनामय चित्र तारा में अंकित किया गया है उसे देखकर उस काल का साक्षी इतिहास भी शर्म से आँखें झुका लेगा। राजपूत-गौरव की उज्ज्वलता दिखाने जाकर भी अपनी अनभिज्ञता के कारण गोस्वामीजी ने राजपूत-आदर्श को कलंकित ही किया, अन्यथा वे मेवाड़-बालिका तारा के कामुक मुसलमान आशिकों को छकाने, धोखा देने और छिपकर उनकी प्रेमोक्तियों में आनंद लेने की उत्सुकता चित्रित न करते। तारा की सहेली रंभा मानवी है या दानवी, पता नहीं। एक छोटे से नवविकसित बालिका-मस्तिष्क में इतना छल-छंद, इतनी दूर की सूझ और चालाकी देखकर दंग रह जाना पड़ता है। 'तारा' में चमत्कारिक, ऐयारी से भरी हुई घटनाओं की इतनी प्रधानता है कि इसे ऐयारी उपन्यास मान लेना भी असंगत नहीं। जो बातें 'तारा' के विषय में कही गई हैं वे ही प्रायः गोस्वामीजी के सभी उपन्यासों के विषय में कही जा सकती हैं। उनके प्रायः सभी ऐतिहासिक पात्र

देश-काल का बंधन तोड़ लेखक के मौजी मन के इशारे पर नाचनेवाली पुतलियाँ हैं। शतरंज के खिलाड़ी की तरह लेखक कह जाता है—

"चाल शतरंज की चली कैसी, आप देखें ये तमाशा बैठे"*

ऐतिहासिक उपन्यास लिखने में जिस सहृदयता, निष्पक्षता और उदारता की आवश्यकता होती है गोस्वामीजी में उसकी भी बड़ी कमी थी। उन्होंने मुसलमान पात्रों को सदैव हिंदुओं की अपेक्षा स्याह रँगने की चेष्टा की है और उसमें भी कहीं कहीं अति कर दी है। कलाकार की भाँति निष्पक्ष होकर उन्होंनें मानव का चित्र, उसकी समस्त दुर्बलताओं और सबलताओं के साथ अंकित न करके अपने संकुचित राग-द्वेष से सांप्रदायिकता का पुट देकर कला के गौरव को च्युत कर दिया है।

पात्रों के कथोपकथन में गोस्वामीजी ने पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग करने का प्रयत्न किया है। 'तारा' में एक ओर तो तारा वेशधारिणी रंभा दारा से बिलकुल उस समय की प्रचलित उर्दूए-मुवल्ला में बात करती है और दूसरी ओर महारानी चंद्रावती विशुद्ध साहित्यिक हिंदी में। दोनों का एक-एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

"तारा—जनाब शाहजादे साहब! अगर नाजनियाँ नाजोनखरे या रुखाई न जाहिर करें तो फिर आशिकों के सच्चे इश्क का जौहर क्योंकर मालूम हो।"

और दूसरी ओर रानी चंद्रावती अपने भाई से कहती हैं—

"भारतवर्ष के भाग्य-विपर्यय का प्रत्यक्ष इतिहास आँखों के आगे नाच रहा है, तौ भी स्वार्थ से अंधे होकर तुमने यवनों पर अंधविश्वास कर लिया है। भाई, जागो और मोह-निद्रा को छोड़ सनातनधर्म और क्षत्रिय-कुल की गौरवता पर दृष्टि डालो।"†

---

* 'तारा', पृष्ठ ४१।

† 'तारा', पृष्ठ ४१।

अपने हिंदी साहित्य के इतिहास में गोस्वामीजी की भाषा के विषय में आचार्य रामचंद्र शुक्ल लिखते हैं—

"एक बात और जरा खटकती है। वह है उनका भाषा के साथ मजाक। कुछ दिन पीछे उन्हें उर्दू लिखने का शौक हुआ। उर्दू भी ऐसी वैसी नहीं, उर्दूए-मुवल्ला। इसी शौक के कुछ आगे-पीछे उन्होंने राजा शिवप्रसाद का जीवन-चरित लिखा। उर्दू जबान और शेर सखुन की बेढंगी नकल से, जो असल से कभी कभी साफ अलग हो जाती है, उनके बहुत से उपन्यासों का साहित्यिक गौरव घट गया है। गलत या गलत मानी में लाए हुए शब्द भाषा को शिष्टता के दर्जे से गिरा देते हैं। खैरियत यह हुई कि अपने सब उपन्यासों को आपने यह मँगनी का लिबास नहीं पहनाया है। 'मल्लिका देवी वा बंग-सरोजिनी' में संस्कृतप्राय समास-बहुला भाषा काम में लाई गई है। इन दोनों प्रकार की लिखावटों को देखकर कोई विदेशी चकपकाकर पूछ सकता है—'क्या दोनों हिंदी हैं?' 'हम यह भी कर सकते हैं, वह भी कर सकते हैं' इस हौसले ने जैसे बहुत से लेखकों को पूर्ण अधिकार के साथ किसी एक विषय पर जमने न दिया, वैसे ही कुछ लोगों की भाषा को बहुत कुछ डाँवाडोल रखा, कोई एक टेढ़ा-सीधा रास्ता पकड़ने न दिया।"

पंडित किशोरीलाल गोस्वामी के उपरांत इस युग में उपन्यासों के क्षेत्र में अधिक कार्य न हो सका। जो दो-तीन लेखक हुए भी उनकी कृतियों का कलात्मक दृष्टि से अधिक मूल्य नहीं। संवत् १९५६ में हिंदी के प्रसिद्ध कवि और गद्य-लेखक पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'ठेठ हिंदी का ठाट' नामक एक उपन्यास निकाला। जैसा इसके नाम से ही प्रकट होता है यह पुस्तक प्रधानतया भाषा की दृष्टि से लिखी गई है, न कि चित्रण की दृष्टि से। जैसे अपने 'चोखे चौपदे',

अयोध्यासिंह उपाध्याय

'चुभते चौपदे' में उपाध्यायजी ने पद्य में प्रयुक्त ठेठ हिंदी का नमूना पेश किया उसी तरह इस 'ठेठ हिंदी का ठाट' में भी उन्होंने सरल से सरल ठेठ हिंदी का प्रयोग किया। 'वेनिस का बाँका' और 'ठेठ हिंदी का ठाट' दोनों पुस्तकों को सामने रखने पर पहला ख्याल यही होता है कि उपाध्यायजी क्लिष्ट, संस्कृत-प्राय भाषा भी लिख सकते हैं और सरल से सरल ठेठ हिंदी भी। इस पहले उपन्यास के आठ वर्ष बाद उपाध्यायजी ने संवत् १९६४ में एक दूसरा उपन्यास 'अधखिला फूल' निकाला, परंतु इसमें भी चरित्र-चित्रण आदि की ओर कोई विशेष आग्रह नहीं दिखाई पड़ता, अधिकतर भाषा-वैचित्र्य ही पर ध्यान जाकर रह जाता है। इसमें भी उपाध्यायजी को ठेठ हिंदी का नमूना दिखलाने की ही धुन थी।

लज्जाराम मेहता

इस समय के उपन्यास-लेखकों में हम पं० लज्जाराम मेहता को भी नहीं भूल सकते। अखबार-नवीसी के बीच-बीच में इन्हें भी कभी-कभी उपन्यास लिखने का शौक हो जाता था और इस शौक में इन्होंने कई छोटे-बड़े उपन्यास लिखे। इनमें धूर्त रसिकलाल (सं० १९५६), हिंदू-गृहस्थ, आदर्श दंपति (१९६१), बिगड़े का सुधार (१९६४) और आदर्श हिंदू (१९७२) मुख्य हैं। ये उपन्यास अधिकतर सोद्देश्य होते थे। इनमें कोई न कोई नैतिक तथ्य हृदयंगम कराने का प्रयत्न ही प्रबल दिखाई पड़ता है। इन उपन्यासों का प्रधान उद्देश्य पुरानी हिंदू मर्यादा, हिंदू धर्म और हिंदू पारिवारिक व्यवस्था की सुंदरता और समीचीनता दिखाना ही होता था। वास्तव में उपाध्यायजी और मेहताजी दोनों ही उपन्यासकार नहीं हैं। इन लोगों में उपन्यास लिखने की न तो प्रतिभा ही है न मौलिकता ही। अपने क्षेत्र के ही ये लोग सम्राट हैं, उपाध्यायजी कविता-क्षेत्र के और मेहताजी संपादन-क्षेत्र के।

अभी तक हिंदी में जो उपन्यास लिखे गए उनका प्रधान लक्ष्य घटना-वैचित्र्य ही रहा। चरित्र-चित्रण का भी थोड़ा-बहुत प्रयास दिखाई पड़ता है, पर अभी तक शुद्ध साहित्य की कोटि में आनेवाले भावप्रधान उपन्यास जिनमें भावों या मनोविकारों की प्रगल्भ और वेगवती व्यंजना का ही लक्ष्य प्रधान हो बिलकुल ही नहीं लिखे गए थे। वंगभाषा में ऐसे उपन्यासों की प्रचुरता थी। संभवतः इसी को लक्ष्य करके बाबू ब्रजनंदन सहाय बी० ए० इस क्षेत्र में उतरे और 'सौंदर्योपासक', 'राधाकांत', 'राजेंद्रमालती' आदि उपन्यासों की रचना की। जैसा 'सौंदर्योपासक' के उपसंहार में स्वयं ही ब्रजनंदन सहायजी ने स्वीकार किया है, इनके उपन्यासों से साधारण जनता का रंजन अधिक नहीं हो सकता। 'सौंदर्योपासक' तो केवल एक व्यक्ति की अनुभूतियों की व्यंजना मात्र है। किस प्रकार उसके सौंदर्य-प्रेमी मन ने उसे कभी चैन न लेने दिया और सदैव हृदय में एक टीस बनी रही, इस उपन्यास में उसी की अभिव्यक्ति है। भाव, घटनाएँ और चरित्र तीनों के सम्यक् योग में ही उपन्यास की सफलता है, क्योंकि जीवन में तीनों का योग है। इनमें से किसी भी तथ्य की उपेक्षा से इस कला में पूर्णता न आ सकेगी। परंतु हिंदी के बालकाल में इन तथ्यों के सामंजस्य के स्थान पर एकांगिता की ही ओर अधिक दृष्टि रही और प्रधानतया घटनाओं का ही बोलबाला रहा। बाबू ब्रजनंदन सहाय का प्रयत्न भी एकांगी ही रहा और इसी लिए उपन्यास-कला की दृष्टि से उसका बहुत अधिक महत्त्व नहीं। जैसा बाबू ब्रजनंदन सहाय ने स्वयं ही स्वीकार किया है, अधिकतर पाठक घटना-वैचित्र्य ही के लिए उपन्यास पढ़ते हैं। उसमें भावों या मनोविकारों का विश्लेषण करने कुछ थोड़े से विज्ञजन ही जाते हैं, इसी लिए जिस उपन्यास में घटनाओं का बिलकुल ही अभाव हो वह जन-मन-रंजन कभी नहीं हो सकता। यही कारण है

ब्रजनंदन सहाय

कि बाबू व्रजनंदन सहाय कभी उपन्यासकार के रूप में प्रसिद्ध नहीं हुए।

उपसंहार

हिंदी के आदिकाल के उपन्यासों और उपन्यासकारों का विवेचन हो चुका। संख्या की दृष्टि से तो उस बालकाल ने हिंदी-संसार को बहुत कुछ दिया, परंतु उस काल की तोतली बोली की प्रेम-लपेटी अटपटी अभिव्यंजना के द्वारा मानव-मन की चमत्कारप्रियता को ही उत्कर्ष मिला और उसकी कुतूहल-वृत्ति को ही शांति। उस शिशुसुलभ बोली में अभी तक कोई ऐसी बात नहीं थी जो सहृदयों के सोचने-समझने का विषय होती। जीवन के नाना रूपों से अनभिज्ञ उस युग की अपरिपक्व रुचि और अविकसित मस्तिष्क ने जीवन की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। वास्तविक जगत से दूर, किसी कल्पना-लोक के चेतना-विहीन प्राणियों का क्रीड़ा-कौतुक दिखाने में ही वह युग प्रसन्न रहा। उस समय के उपन्यासों के चरित्रों में से किसी का प्रतिरूप हम वास्तविक संसार में नहीं बतला सकते। नाटकों में नाटकीय वातावरण बनाने के लिए चरित्रों में एक कृत्रिम महत्ता देना आवश्यक होता है, परंतु उपन्यास के क्षेत्र में प्रजा-तंत्र का प्रवेश है। उसके पात्र जितने ही जग-जीवन के निकट होंगे उतने ही अधिक प्रिय होंगे। पर हिंदी-उपन्यासों के आरंभकाल में यह संभव नहीं था। यदि कोई भावुक मानव-चरित्रों का स्वाभाविक चित्रण, अंतर्द्वंद्व के मर्मस्पर्शी सच्चे चित्र और समाज की वास्तविक अवस्था देखने को इस समय के उपन्यासों की ओर लपकेगा तो उसे निराश ही होना पड़ेगा।

आरंभ-काल के उपन्यासकार गोस्वामीजी आदि की कृतियों को पढ़ने से यह विदित होता है कि ये लेखक उपन्यास का कोई गंभीर उद्देश्य नहीं समझते थे। ताश और शतरंज की तरह अवकाश के समय मनोरंजन करना ही उनका उद्देश्य होता था। उनका ध्यान इस ओर कभी न जाता था कि उनकी कला से किसी भटके

हुए जीवन को मार्ग मिले, निराश को आशा बँधे अथवा मानवता के संपन्न तथा सुखी अंश की विपन्न अथवा दुखी अंश के लिए सहानुभूति जागरित हो। लाला श्री नवासदास, भट्टजी तथा मेहताजी आदि ने इस उद्देश्य को लक्ष्य किया भी परंतु वहाँ कला दब गई और उपदेशों की ही प्रधानता हो गई। कला का उद्देश्य हमारी प्रवृत्तियों को लाठी लेकर हाँकना नहीं होता, वरन् अपने सुकुमार सरल नेत्रों से उस ओर संकेत कर देना मात्र होता है।

अतः यह स्पष्ट है कि उस आरंभ-युग में उपन्यास-क्षेत्र में बीज-वपन मात्र हो सका, अभी उस समय की प्रतीक्षा ही थी जब वह बीज प्रस्फुटित होकर इस नाना-रूपात्मक जगत में अपनी शाखाएँ फैलाकर छा जाता। कला के क्षेत्र में शीघ्र ही किसी ऐसे युगांतरकारी परिवर्तन की आवश्यकता थी जिसके फल-स्वरूप कलाकृतियाँ मनोरंजन मात्र की वस्तु न रह जाएँ, मानव-जीवन में उनका कुछ उपयोग हो। उसमें समाज का सच्चा चित्र हो, उसकी समस्याओं के साथ सहानुभूति दिखाई गई हो और उनका हल सुझाया गया हो। कहना न होगा कि स्वर्गीय प्रेमचंद ने 'देर आयद दुरुस्त आयद' की तरह उपन्यास-क्षेत्र में पदार्पण करके इन सारी आवश्यकताओं को पूरा किया।

चतुर्थ प्रकरण

हिंदी-उपन्यासों का आधुनिक काल

पिछले प्रकरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिंदी का प्रारंभिक उपन्यास-वाङ्मय केवल मनोरंजन को ही अपना ध्येय बनाकर चला। अतएव वह तिलस्मी कहानियों, भूत-प्रेत की गप्पों, प्रेम-वियोग के आख्यानों और उपदेश-धर्म की कथाओं के भीतर ही उछल-कूद करता रहा। परंतु यह अवस्था अधिक दिन चलनेवाली न थी। ज्ञान-विज्ञान की उन्नति से जीवन का वह सरल प्रवाह अपेक्षाकृत अधिक जटिल और संघर्षपूर्ण हो गया। समाज के प्रतिबिंब-स्वरूप साहित्य को भी अपनी प्राचीन परंपरा को छोड़ नवीन पथ का अवलंबन करने की आवश्यकता हुई। हिंदी-साहित्य में भारतेंदु ने उदित होकर इस नवीन पथ का निर्देश भी कर दिया। नाटक, कविता और निबंध आदि ने धीरे धीरे अपनी रूढ़ियों को छोड़ना आरंभ किया। शृंगार-उपवन की झुरमुटों को छोड़ कवि ने अपनी मोहन बाँसुरी में देश और जाति के गान गुनगुनाना आरंभ किया। यद्यपि भारतेंदु-काल में उपन्यास-वाङ्मय का वांछित विकास न हो सका परंतु उस समय अनुवादों का जो ढर्रा चला उसका बड़ा शुभ प्रभाव पड़ा। हिंदी के बाल उपन्यास-वाङ्मय ने अन्य भरे-पूरे साहित्यों का दर्शन किया और उनकी देखादेखी अपने पैरों पर खड़े होने का उपक्रम किया। इस तरह हिंदी लेखकों की परिमित दृष्टि अधिक विस्तृत हुई और उपन्यास के नवीन रूप तथा आदर्श की प्रतिष्ठा हुई। हिंदी ने आश्चर्य-विमुग्ध होकर कला के इस नवीनतम रूप को देखा और समझने का प्रयत्न किया।

विकासोन्मुख हिंदी-साहित्य ने किंचित क्षोभ के साथ ही अनुभव किया कि प्राणविहीन गुड़ियों से खेलनेवाले बचपन के वे दिन निकल गए। अब तो सामने एक संघर्षपूर्ण विस्तृत संसार अपने कठोर यथार्थ का प्रदर्शन करता हुआ खड़ा था। अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए हिंदी-संसार को इस चेतन-जगत के अधिक समीप आने की आवश्यकता हुई।

इस आवश्यकता ने ही प्रेमचंद को जन्म दिया। सारे रूढ़ि-बंधनों को तोड़कर उन्होंने उपन्यास-वाङ्मय में युगांतरकारी परिवर्तन कर दिया और हिंदी में नवीन आदर्श की प्रतिष्ठा हुई। काव्य के चित्रों में मानव के भिन्न भिन्न अनुभवों और वृत्तियों का प्राचुर्य ही उत्कृष्ट काव्य की कसौटी है। जो काव्य जीवन के हर्ष और शोक, शक्ति और दुर्बलता, कुरूपता और सुरूपता सभी पक्षों का प्रतिनिधि है वह अवश्य ही उस काव्य की अपेक्षा अधिक महान है जिसमें चित्रित जीवन एकांगी हो। आधुनिक उपन्यास-वाङ्मय जीवन की व्यापकता से होड़ लेता है। मानव की एक एक वृत्ति, समाज का एक एक अंग तथा युग की एक एक समस्या के चित्रण को ध्येय बनाकर ही आधुनिक उपन्यास आगे बढ़ता है। यही नहीं, बल्कि इस कोरे चित्रण से भी आगे आकर उपन्यासकार अपनी विशेष प्रतिभा से मानव तथा समाज को पथ प्रदर्शित करता, उसकी वृत्तियों को मोड़ता तथा उसकी गुत्थियों को सुलझाता भी है। अपनी रचनाओं में उपन्यास के उपर्युक्त आदर्शों की स्थापना करके प्रेमचंदजी ने अन्य लेखकों के लिए पथ प्रदर्शित किया। इसके उपरांत तो फिर हिंदी उपन्यास की धारा बड़े वेग से चल पड़ी। अच्छे-बुरे सभी प्रकार के उपन्यास प्रचुर मात्रा में धड़ाधड़ निकलने लगे। पाठक तो श्रीयुत देवकीनंदन ने पहले से ही तैयार कर रखे थे इसलिए इन उपन्यासों के प्रचार में भी कोई रुकावट न पड़ी। प्रेमचंदजी के अतिरिक्त 'प्रसाद', 'कौशिक', वृंदावनलाल वर्मा,

जैनेंद्रकुमार, चतुरसेन शास्त्री, ऋषभचरण जैन, 'उग्र' आदि ने उत्कृष्ट कोटि की रचनाएँ करके हिंदी-साहित्य का गौरव बढ़ाया। अभी तक उपन्यास-रचना की उस गति में शिथिलता नहीं आई है और दिनों-दिन नए नए लेखक निकलते चले आ रहे हैं। 'निराला', भगवतीचरण वर्मा, सियारामशरण गुप्त, ठाकुर श्रीनाथसिंह आदि इधर के अच्छे लेखक हैं।

प्रेमचंद

१८८०-१९३६

साहित्य के ऐतिहासिक विकास का अध्ययन करने से यह पता चलता है कि कुछ दिन साथ-साथ चलने के उपरांत समाज प्रायः साहित्य से आगे बढ़ जाया करता है जब कि साहित्य विगत युग की परंपरा को ही अपनाए हुए चला चलता है। किंतु साहित्य तथा युग का यह विच्छेद अधिक दिनों तक नहीं रहता, रह ही नहीं सकता। जब जब साहित्य तथा युग के बीच ऐसी विषमता उत्पन्न होती है तब तब कोई न कोई प्रातिभ साहित्यकार अवतरित होकर इस वियुक्त-प्राय साहित्य का युग की जनरुचि से योग कराता है। इसी लिए कवि समाज का प्रतिबिंब और जनता का स्वर कहा गया है। अतएव साहित्य का इतिहास समाज का इतिहास होता है और संक्रांतिकालीन कवि युग विशेष के दिशा-दर्शक स्तंभ। इस तरह से चंद, कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, बिहारी, हरिश्चंद्र और प्रेमचंद हमारी विभिन्न साहित्यिक परंपराओं के प्रवर्तक ठहरते हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है भारतेंदु ने एक नवीन युग के आरंभ में अवतरित होकर साहित्य को नवीन शक्ति दी। सूर और बिहारी की परंपरा का निर्वाह करते हुए उन्होंने वाणी को अन्य विषयों की ओर उन्मुख किया किंतु सामाजिक एवं

राजनीतिक परिस्थितियाँ इतने वेग से बदल रही थीं कि शृंगार परंपरा का भार लादकर उनका पूरी तरह साथ नहीं दिया जा सकता था। समय के आवर्त ने भारतीय समाज एवं उसकी मनोवृत्तियों में कितनी ही गुत्थियाँ डाल दी थीं। सुख-साधनों के यांत्रिक आविष्कारों एवं भूतवादी योरोपीय सभ्यता के प्रचार ने जीवन में पर्याप्त विषमता उत्पन्न कर दी थी। आवश्यकता इस बात की थी कि कृत्रिम नाटकीय रंगस्थली से आगे आकर हिंदी-साहित्य प्रतिदिन परिवर्तित होते हुए जीवन की जटिलता, विषमता और विविधता का लेखा ले। प्रेमचंद के ऊपर यह गुरु भार पड़ा और इन्होंने उसका वांछित निर्वाह किया।

प्रेमचंद के पूर्व का साहित्य विलास-प्रधान है। वह जनता के सुख-दुःख की वाणी नहीं केवल एक वर्ग विशेष के रूढ़ि-शिथिल विषयानंद की व्यंजना है। वर्तमान पूँजीवादी सभ्यता से पूर्व शतियों तक भारत में राजतंत्र का प्रभुत्व था। अतएव साहित्य भी अधिकांश इन प्रभुओं की ही विरुदावली बखानता रहा। कवि-समाज इस राजरोग से इतना ग्रस्त था कि उसकी दृष्टि इस संकुचित घेरे से बाहर जाती ही न थी। किंतु पूँजीवाद के उत्कर्ष ने परिस्थिति पलट दी। मनुष्य मनुष्य के बीच भारी अंतर पड़ गया। वह एक ओर आर्त श्रमजीवी और दूसरी ओर निरंकुश धनपति रह गया। साहित्य के सामने यह समस्या थी कि वह अब भी इन थोड़े से पूँजीपतियों का समर्थन करे या हाहाकार करते हुए उन अधमरे नर-कंकालों का।

प्रेमचंद ने इस विशाल जनसमूह को ही अपनाया, उनकी शोकार्त वाणी को ऊँचा उठाया, उनकी कठिनाइयों का समाधान सुझाया और इस तरह उनकी कृतियाँ भारतीयों के लिए धर्मग्रंथ बन गईं। इस दृष्टि से हम प्रेमचंद-साहित्य को 'प्रोलेटेरियन' या आर्त मानवता का साहित्य कह सकते हैं। आजकल पाश्चात्य देशों में जिसे 'प्रोलेटेरियन'

साहित्य कहा जाता है वह अधिकांश में दलित मानवता और उसके प्रयत्नों का इतिहास होता है । * प्रगतिशील विश्वसाहित्य की प्रवृत्ति वर्गवैषम्य से उत्पन्न समस्याओं के अंकन की ओर अधिक लक्षित होती है। इस प्रयोग का उद्गम प्रधानतया रूस है । क्रांति के पूर्व रूस की प्रायः वही अवस्था थी जो प्रेमचंद के युग के भारत की । जारशाही शासन की विषम परिस्थितियों ने ही गोर्की, टालस्टाय तथा डास्टाय-वस्की आदि को जन्म दिया जिनकी कृतियों से वहाँ की उठती हुई जनभावना को उत्तेजना मिली । विश्व-साहित्य की यह प्रवृत्ति भारत में प्रेमचंद के द्वारा व्यक्त हुई जिसने यहाँ के शोषित, दलित तथा पीड़ित किसानों की मूकता को मुखर किया । एक दृष्टि से उनका महत्त्व उपर्युक्त रूसी साहित्यकारों से अधिक है । गोर्की, टालस्टाय, डास्टाय-वस्की का युग उनसे आगे था । प्रेमचंद अपने युग के साथ थे । उन्हें भारतीय समाज एवं उसकी बहुविध समस्याओं का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त था और उन्होंने अपने कल्पना-जगत में इन समस्याओं का कुछ न कुछ समाधान भी ढूँढ़ निकाला था । जहाँ तक उनकी कृतियों से संकेत मिलता है उनके समाधान हमारे नेताओं की कल्पना से अधिक स्थिति-सापेक्ष थे ; क्योंकि संकीर्ण घरेलू परिस्थितियों से लेकर समाज एवं राष्ट्र का कोई भी पक्ष उनकी दृष्टि से परे न था । वे उन बुराइयों से पूर्ण परिचित थे जो हमारे पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन में घुन की भाँति लग गई हैं और हमें दिन दिन खोखला करती जा

---

* ऐट दी प्रेजेंट टाइम दैट व्हिच इज़ नोन ऐज़ दो प्रोलेटेरियन लिट्रेचर डील्स, परफोर्स लार्जली विथ दी मिज़री एंड रेचेडनेस आफ दी पूअर एंड देअर स्ट्रगिल फौर ए वेटर लाइफ़ । बाइ इटस् वेरी नेचर इट मस्ट बी ए लिट्रेचर आफ कौनफ्लिक्ट एंड बिटरनेस ।"

—फिलिप हैंडरसन कृत 'नौवेल टु डे'

रही हैं। साथ साथ उस महान साहित्यकार ने मानव की दुर्बलताओं को सहानुभूति एवं समवेदना के साथ देखने की साधना की थी। चाहे ईश्वर पर उनका विश्वास न रहा हो किंतु मनुष्य पर अडिग विश्वास था। मानवता के लिए उनके हृदय में बड़ी ममता, बड़ा मोह था—वह मोह जो विश्वात्सवाद की भित्ति है। इस मोह ने ही उन्हें दलित वर्ग का पैगंबर बना दिया। वेश्याओं, विधवाओं, भिखमंगों, किसानों तथा मजदूरों—जिन्हें भारतीय समाज और राष्ट्र शताब्दियों से ठुकराता आया है—की मूकता को उन्होंने स्वर दिया। लगातार अत्याचार का बोझ वहन करते करते समाज की उपर्युक्त श्रेणियाँ चेतनाविहीन होती जा रही थीं। अपनी स्थिति को वे नियति की अनिवार्य व्यवस्था मान चले थे। असह्य दुःख के समय अभ्यासानुसार भगवान मुख में आता तो था किंतु उस पर से लोगों का विश्वास उठने सा लगा था। प्रेमचंद ने इसे देखा; देखा ही नहीं वरन उन मुसीबतों को स्वयं झेला भी। उनका सारा जीवन कठिनाइयों के साथ सतत संघर्ष का एक प्रयत्न रहा है और उनके उपन्यास इन्हीं प्रयत्नों के इतिहास हैं।

प्रेमचंद का पहला उपन्यास 'सेवासदन' है। यद्यपि इसके पहले भी १९०५ ई० में 'प्रेमा' नामक उपन्यास निकल चुका था, परंतु इस छोटी सी किताब को एक बड़ी सी कहानी कहना ही अधिक उपयुक्त लगता है। यह उपन्यास इनके उर्दू 'हमखुरमा व हमसवाब' का अनुवाद है। विधवाओं के प्रति इनकी समवेदना इसमें व्यक्त हुई है। इस तरह हिंदू-समाज के एक बहुत बड़े पीड़ित वर्ग को लेकर ये क्षेत्र में आए और 'विधवा-विवाह' के रूप में इस समस्या का समाधान बताया। कलात्मक दृष्टि से बहुत उच्च कोटि का न होते हुए भी 'प्रेमा' एक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। आदि से ही प्रेमचंद की विचार-धारा किस दिशा में प्रवाहित हो रही थी इसका हमें स्पष्ट

संकेत इस आरंभिक कृति से मिलता है। आरंभ से ही वे एक उद्देश्य लेकर साहित्य-क्षेत्र में उतरे और कला को मानव मंगल का ही साध्यम बनाया। 'सेवासदन' में उनका उद्देश्य और भी स्पष्ट हो जाता है। इसमें दहेज-प्रथा से कितना भयंकर अनर्थ हो सकता है, इसी का मार्मिक चित्रण है। मनुष्य की एक क्षणिक दुर्बलता उसके जीवन में कितना उलट-फेर उपस्थित कर देती है, दारोगा कृष्णचंद्र इसके जीवित उदाहरण हैं। काल अपनी द्रुत गति से आगे बढ़ता जाता है पीछे मुड़कर देखता तक नहीं। अतीत जीवन के सारे स्वर्गोज्ज्वल चित्र वर्तमान की एक ही भूल में धो दिए जाते हैं। न कोई ईश्वर उनका लेखा लेता है न मनुष्य ही। मनुष्य को पशु बनाने का बहुत कुछ दायित्व मनुष्य को ही है। संसार ने, समाज ने, धर्म ने लाला कृष्णचंद्र को पाप की कमाई करने को बाध्य किया। जवान बेटी को घर में रखना संसार, समाज और धर्म सभी दृष्टियों से निंदनीय है। किंतु उसी संसार ने, उसी समाज ने और उसी धर्म ने उनका सोने का घर मिट्टी में मिला दिया। स्वयं जेल गए, स्त्री दारिद्रय की ज्वाला में भस्म हो गई, बड़ी लड़की 'सुमन' अपात्र के हाथों पड़कर विपथगामिनी बनी और छोटी शान्ता बहुत दिनों तक दुःख झेलती रही। और इन सबका मूल कारण क्या है ? दहेज। एक साधारण हिंदू घर में जन्म लेने के कारण यह स्वाभाविक ही था कि प्रेमचंद की उदार दृष्टि इस कुप्रथा पर पड़ी। 'सेवासदन' के द्वारा उन्होंने बेटों को बेचनेवाले पैसे के गुलाम हिंदू-समाज को दिखला दिया कि 'देखो, तुम्हारी इस लोभ-वृत्ति के कारण घर के घर चौपट हो जाते हैं'। इसके उपरान्त दरिद्र पति द्वारा अपमानित और निर्वासित सुमन को कुछ दिनों के लिए वेश्यालय में बिठाकर उन्होंने सभ्यताभिमानी समाज को उसके सबसे जघन्य कलुष का दर्शन कराया। अनमेल विवाह, पारिवारिक कलह आदि अनेक कारणों से

बहुत सी स्त्रियों को बाध्य होकर वेश्यावृत्ति ग्रहण करनी पड़ती है। अनुकूल परिस्थितियों में ये ही स्त्रियाँ सफल गृहिणी भी हो सकती हैं। गजाधर ने जब एक छोटे से अपराध पर सुमन को घर से निकाल दिया तो वह पंडित पद्मसिंह शर्मा के पास आश्रय माँगने गई किंतु उनमें इतना साहस न था कि उसको अपने यहाँ रख लेते। अंत में भोली रंडी के यहाँ ही उसे आश्रय मिला। वह सुंदर तो थी ही नाचना-गाना भी आरंभ कर देती है और विलास के सारे उपकरण उसके चारों ओर एकत्र हो जाते हैं। समाज के एक बहुत बड़े सरदार स्वयं पद्मसिंह का भतीजा उसका प्रेमिक बनकर आता है। जब उसका इस प्रकार पतन हो जाता है तो समाज के कुछ सुधारक चलते हैं उसका उद्धार करने किंतु वह समाज के खोखलेपन का पर्याप्त अनुभव कर चुकी है। विट्ठलदास सुधारक से वह कहती है "मेरा तो यह अनुभव है कि जितना आदर मेरा अब हो रहा है उसका शतांश भी तब नहीं होता था। एक बार मैं सेठ चिम्मनलाल के ठाकुरद्वारे में झूला देखने गई थी, सारी रात बाहर खड़ी भींगती रही। किसी ने मुझे भीतर न जाने दिया। लेकिन कल उसी ठाकुरद्वारे में मेरा गाना हुआ तो ऐसा जान पड़ा मानों मेरे चरणों से वह मंदिर पवित्र हो गया।" वस्तुस्थिति का कितना भयंकर किंतु यथार्थ चित्र सुमन ने अनावृत कर दिया है। समाज ऊपर से वेश्याओं की जितनी ही निंदा करता है, भीतर ही भीतर उतना ही उन्हें चाहता भी है। विट्ठलदास सुमन के इन अकाट्य तर्कों का भला क्या उत्तर देते! समाज ने तो अपने को इतना विकृत कर रखा है कि उस पर विश्वास ही नहीं जमता।

'सेवासदन' का महत्त्व इस बात से और भी बढ़ जाता है कि वेश्या और वेश्यालय के चित्रण में भी कहीं निम्नकोटि की वासना प्रदर्शित करनेवाले दृश्य नहीं आ पाए हैं। बल्कि युगों से ठुकराई

जानेवाली इन पतिताओं के प्रति सहानुभूति से लेखक का हृदय भरा है। वह उन्हें देख घृणा से आँखें नहीं फेर लेता बल्कि करुणा से आर्द्र हो उठता है। पद्मसिंह के शब्दों में—"हमें उनसे घृणा करने का कोई अधिकार नहीं है। यह उनके साथ घोर अन्याय होगा। यह हमारी ही कुवासनाएँ, हमारे ही सामाजिक अत्याचार, हमारी ही कुप्रथाएँ हैं जिन्होंने वेश्याओं का रूप धारण किया है। यह दालमंडी हमारे ही कलुषित जीवन का प्रतिबिंब, हमारे ही पैशाचिक अधर्म का साक्षात स्वरूप है। हम किस मुँह से उनसे घृणा करें। उनकी अवस्था बहुत शोचनीय है। हमारा कर्त्तव्य है कि हम उन्हें सुमार्ग पर लावें, उनके जीवन को सुधारें।" यह है उनके प्रति प्रेमचंदजी की दृष्टि। मिथ्या यथार्थवादियों की भाँति उन्होंने इन वेश्याओं का नग्न उद्घाटन नहीं किया। करुणार्द्र समवेदना के द्वारा ही उन्होंने मृतकों में जीवन डालने का प्रयत्न किया है। वेश्याएँ भी हृदय रखती हैं, उन्हें भी सुख-दुख की अनुभूति होती है, उनके भीतर भी मानापमान की भावना हो सकती है, इसे कितने लोग अनुभव करते हैं? समाज ने आज तक उन्हें अपनी वासना-तृप्ति का साधन समझने के अतिरिक्त उनके लिए और किया ही क्या है? फिर यदि वे पुरुष को निर्ममता-पूर्वक फाँसकर उसे चूसती हैं तो इसमें उनका दोष ही क्या है?

जिस समय द्वार पर आई हुई बारात यह जानकर कि 'शांता' 'सुमनबाई' की छोटी बहन है लौट जाती है उस समय का दृश्य सचमुच ही बड़ा करुण है। निर्दय समाज किसका दोष किसके सिर मढ़ देता है। यदि 'शांता' की बहन पतित हो जाती है, उसका पिता जेल काट चुका है तो इससें उसका क्या दोष था? किंतु छिद्रान्वेषी समाज तो जैसे ऐसा अवसर ढूँढ़ा करता है। 'शांता' की पवित्रता तथा उसके धैर्य ने उस सामाजिक अत्याचार की भयंकरता और भी बढ़ा दी है। 'शांता' के रूप में प्रेमचंद ने भारत की चिरंतन नारी

का दर्शन कराया है जिसमें प्रेम का आदर्श बहुत ऊँचा है। यह उसके प्रेमजन्य तप का ही परिणाम था कि सदन जैसा अस्थिरचित्त युवक इतना संयमी बन जाता है। अंत में वेश्या बालिकाओं के लिए 'सेवा-सदन' की स्थापना करके लेखक ने मानो समाज को इस समस्या का हल सुझा दिया।

रचना-कौशल की दृष्टि से सर्वप्रथम उपन्यास होते हुए भी 'सेवा-सदन' प्रेमचंद के अन्य उपन्यासों से बढ़ कर है। उसकी सी पूर्णता अन्य उपन्यासों में न आ पाई। सारी कथा का केंद्र बिंदु 'सुमन' है और उसके व्यक्तित्व के साथ उपन्यास की सारी घटनाएँ बड़ी दृढ़ता से जुड़ी हैं। अथ से इति तक हमारी दृष्टि उस पर से नहीं हटती। बड़ी विषम परिस्थिति में उसका विवाह होता है, गृह-कलह और विपन्नता में ही विवाहित जीवन बीतता है, पति द्वारा गृह-निष्कासन से वेश्या-वृत्ति ग्रहण करने को बाध्य होती है और फिर आन्तरिक प्रेरणा से अनाथाश्रम की स्थापना कर सेवावृत्ति में उसके जीवन का अवसान होता है। आदि से अंत तक एक अखंड अविरल धारा है जिसकी गति में एक लय है। 'शांता' की प्रासंगिक कहानी का परिचालन भी 'सुमन' की मूल कथा से ही होता है। चरित्र, घटना और परिस्थिति में असामान्य सामंजस्य है। परिस्थिति और घटना चरित्र का निर्माण करते हैं तथा चरित्र के द्वारा नवीन परिस्थितियों की उद्भावना होती है। उपन्यास के आरंभ में ही दारोगा कृष्णचंद्र ऐसी परिस्थिति में चित्रित किए गए हैं कि उन्हें कन्या के विवाह के लिए घूस लेना और परिणाम स्वरूप जेल जाना पड़ता है। यदि कोई दूसरा व्यक्ति होता तो संभवतः उस भयंकर परिणाम को अपने कौशल से बचा ले जाता किंतु सीधे सादे कृष्णचंद्र परिस्थिति को सम्हाल नहीं पाते। इस घटना का उनके परिवार पर अनिवार्य प्रभाव पड़ता है और यहीं से 'सुमन' की विपत्तियों का आरंभ होता है। वह एक ऐसी परिस्थिति

में डाल दी जाती है जो उसके लिए बिल्कुल नवीन है और जिसकी वह अभ्यस्त नहीं। परिणाम स्वरूप उसके चरित्र में असंतोष बड़े वेग से बढ़ने लगता है। पद्मसिंह के घर का सुखी वातावरण, शहर की चहल-पहल आदि 'सुमन' की अभावानुभूति को और भी तीव्र कर देते हैं। पड़ोसी भोली रंडी की ओर से इस अभावपूर्ति का एक अव्यक्त संकेत मिलता है और अंत में निरपराध गृहनिष्कासन उसे पतन-पथ पर द्रुतगति से अग्रसर कर देता है। इस पतन में उसके पति, पद्मसिंह शर्मा, भोली रंडी आदि सबका कुछ न कुछ हाथ है। इस तरह वेश्यावृत्ति से वह अपने तन और मन की भूख को तृप्त करना चाहती है। किंतु इस नवीन वातावरण की भी उसके व्यक्तित्व पर बड़ी प्रबल प्रतिक्रिया होती है जिससे परवर्ती परिस्थितियों का निर्माण होता है। इस प्रकार 'सुमन' की वैयक्तिक चेष्टाओं एवं परिस्थितियों का घात-प्रतिघात बराबर चला चलता है जिनका एक निश्चित दिशा में अंत होता है।

'सेवा-सदन' की एक बहुत बड़ी विशेषता है वातावरण एवं व्यक्तियों के चित्रण की सजीवता। शहर के रईसों, सेठ-साहूकारों समाज सुधारकों आदि के बड़े ही यथार्थ रेखा-चित्र खींचे गए हैं। इन चित्रों को उतारने की व्यंग्य परिपाटी प्रेमचंद की अपनी प्रतिभा थी। शहर की गलियाँ, सड़कें, घाट, उपवन आदि के बीच 'सुमन' और भी प्रस्फुटित हो उठी है। वातावरण का इतना ब्योरेवार चित्रण आज भी अन्यत्र नहीं मिलता।

'सेवा-सदन' के उपरांत हिंदी-जगत को प्रेमचंदजी का एक छोटा सा 'वरदान' मिला। परंतु 'सेवा-सदन' का आनंद लेनेवाले सहृदय इससे अधिक संतुष्ट न हो सके। लेखक की वृत्तियाँ क्रमशः उसकी विचार-धारा की परिचायिका होती हैं। परंतु 'वरदान' में जब हम इस विचार-धारा की रेखाएँ देखने का प्रयत्न करते हैं तो हमें निराश ही

होना पड़ता है। वस्तु की संघटना और चित्रण की दृष्टि से सुंदर होते हुए भी 'वरदान' में हमें 'सेवा-सदन' के लेखक की वह उन्मुक्त प्रतिभा नहीं दिखायी पड़ती। इसका कारण है। 'प्रेमा' की ही भाँति 'वरदान' की रचना भी 'सेवा-सदन' के बहुत पहले हो चुकी थी, यद्यपि हिंदी में आया वह इसके पीछे। 'सेवा-सदन' के पहले ही उर्दू में इन्होंने एक बहुत बड़ा परिहास-प्रधान उपन्यास लिखा था—जो कहीं छप न सका और अब जिसकी पांडुलिपि का भी कही पता नहीं है। उसी की मूल कथा-वस्तु लेकर उन्होंने इस उपन्यास की रचना की। इसमें उनकी रचना-शैली का सौंदर्य उतना निखरा नहीं है।

इस 'वरदान' के प्रति जनता का असंतोष 'प्रेमाश्रम' के दर्शन कर संतोष में परिणत हो गया। 'प्रेमाश्रम' में 'सेवा-सदन' के लेखक की प्रतिभा और भी निखर आई, उसकी मनोवृत्ति और भी स्पष्ट हो गई। इस बार उन्होंने अपने उपन्यास के लिए ऐसा क्षेत्र चुना जो उनका सबसे अधिक जाना पहचाना था। 'प्रेमाश्रम' में किसानों की दुरवस्था, जमींदारों के अत्याचार, पुलिस के हथकंडे, अफसरों और उनके मातहतों की धाँधली, वकीलों की नमकहरामी, न्यायाधीशों का अंधापन आदि का बड़ा ही सजीव चित्रण किया गया है। 'प्रेमा' के उपरांत 'सेवा-सदन' और फिर 'प्रेमाश्रम' का क्रम बिलकुल घर के उपरांत समाज और समाज के उपरांत देश का क्रम है। यह स्वाभाविक है। जिसका अपने घर से ही पूरा परिचय नहीं वह बाहर का चित्रण कर ही कैसे सकता है। 'प्रेमाश्रम' भारत के दो प्रधान वर्गों—किसान और जमींदार—के अधिकार-युद्ध की एक मार्मिक कथा है। "बथुये की भाँजी और जौ की रोटियाँ खानेवाले किसानों का खस्ता की कचौरियाँ और सोने के पत्र लगे हुए पान के बीड़े" का आनंद उठानेवाले जमींदारों के साथ, अपने अधिकारों के लिए, लड़ने को तैयार

हो जाना हमारी राष्ट्रीय जागर्ति का संदेश है। आज देश भर में कृषकों की अधिकार-रक्षा की जो चर्चा चल पड़ी है 'प्रेमाश्रम' उसका अग्रदूत होकर आया। इसमें प्रेमचंदजी ने भारतीय ग्रामीणों की दरिद्रता के मूल की ओर संकेत किया और उसके निराकरण का उपाय भी सुझाया। 'प्रेमशंकर' के शब्दों में इन किसानों की "दरिद्रता का उत्तरदायित्व उनपर नहीं बल्कि उन परिस्थितियों पर है जिनके अधीन उनका जीवन व्यतीत होता है और ये परिस्थितियाँ क्या हैं ? आपस की फूट, स्वार्थ-परायणता और एक ऐसी संस्था का विकास जो उनके पाँव की बेड़ी बनी हुई है। लेकिन जरा और विचार कीजिए तो यह तीनों टहनियाँ एक ही शाखा से फूटी हुई प्रतीत होंगी, और यह वही संस्था है जिसका अस्तित्व कृषकों के रक्त पर अवलंबित है। आपस में विरोध क्यों है ? दुरवस्थाओं के कारण, जिनकी इस वर्तमान शासन ने सृष्टि की है। परस्पर प्रेम और विश्वास क्यों नहीं ? इसलिए कि यह शासन इन सद्भावों को अपने लिए घातक समझता है और उन्हें पनपने नहीं देता। इस परस्पर विरोध का सबसे दुःखजनक फल क्या है ? भूमि का क्रमशः अत्यंत अल्प भागों में विभाजित हो जाना और उसके लगान की अपरिमित वृद्धि।"* इससे स्पष्ट हो जाता है कि आज दिन कृषकों की इस हीनावस्था का प्रधान कारण इन जमींदारों की सृष्टि है, जो अँगरजों की देन है। इस व्यवस्था के प्रति प्रेमचंदजी के हृदय में न जाने कितना असंतोष निहित था। इस असंतोष ने उन्हें पक्का साम्यवादी बना दिया। 'मायाशंकर' के मुख से वे बोलते हैं—"भूमि या तो ईश्वर की है जिसने इसकी सृष्टि की या किसान की जो ईश्वरीय इच्छा के अनुसार इसका उपयोग करता है। राजा देश की रक्षा करता है, इसलिए उसे किसानों से कर

* प्रेमाश्रम, पृष्ठ ३११।

लेने का अधिकार है, चाहे प्रत्यक्ष रूप में ले या इससे कम आपत्ति-जनक व्यवस्था करे। अगर किसी अन्य वर्ग या श्रेणी को मीरास, मिल्कियत, जायदाद, अधिकार के नाम पर किसानों को अपना भोग्य पदार्थ बनाने की स्वच्छंदता दी जाती है तो इस प्रथा को वर्तमान समाज-व्यवस्था का कलंक-चिह्न समझना चाहिए। जमींदार को समझना चाहिए कि वह प्रजा का मालिक नहीं वरन् उसका सेवक है। यही उसके अस्तित्व का उद्देश्य और हेतु है, अन्यथा संसार में उसकी कोई जरूरत न थी, उसके बिना समाज के संगठन में कोई बाधा न पड़ती। वह इसलिए नहीं है कि प्रजा के पसीने की कमाई को विलास और विषय-भोग में उड़ाए, उनके टूटे-फूटे झोपड़ों के सामने अपना ऊँचा महल खड़ा करे, उनकी नम्रता को अपने रत्न-जटित वस्त्रों से अपमानित करे, उनकी संतोषमय सरलता को अपने पार्थिव वैभव से लज्जित करे, अपनी स्वाद-लिप्सा से उनकी क्षुधा-पीड़ा का उपहास करे। अपने स्वत्वों पर जान देता हो, पर अपने कर्तव्य से अनभिज्ञ हो। ऐसे निरंकुश प्राणियों से प्रजा की जितनी जल्द मुक्ति हो, उनका भार प्रजा के सिर से जितनी ही जल्द दूर हो, उतना ही अच्छा है।"*

जमींदारों, उनके कारिंदों तथा प्यादों के द्वारा इन निरीह कृषकों पर अत्याचार होते देख प्रेमचंद की आत्मा तड़प उठती थी। वे सदैव उस स्वर्णयुग का स्वप्न देखा करते थे जब भारतीय गाँवों से इस क्रूर पैशाचिकता का अंत होगा और फिर वे गाँव बनेंगे जहाँ पर शांति, सुख और श्री का प्रसार होगा। उनके मनोजगत के इस आदर्श गाँव का दर्शन हमें 'प्रेमाश्रम' के लखनपुर में होता है। अपनी निरीह प्रजा की व्यापक दरिद्रता और दीनता से द्रवित होकर जिस समय माया-

---

* प्रेमाश्रम, पृष्ठ ६४२।

शंकर ने अपने उन अधिकारों और स्वत्वों का त्याग किया जो प्रथा-नियम और समाज-व्यवस्था ने उसे दिए थे उसके केवल दो वर्ष बाद जब हम लखनपुर गाँव में प्रवेश करते हैं तो हमें एक नवीन अनुभूति होती है। हम देखते हैं कि वही लखनपुर, जो तबाही और बरबादी की रंगभूमि था, अब स्वर्ग को लजानेवाला हो गया है। वहाँ खूब रौनक और सफाई है। प्रायः सभी द्वारों पर सायबान थे, उनमें बड़े बड़े तख्ते बिछे हुए थे। अधिकांश घरों में सुफेदी हो गई थी। फूस के झोपड़े गायब हो गए थे, अब सभी घरों पर खपरैल थे। द्वारों पर बैलों के लिए पक्की चरनियाँ बनी हुई थीं और कई द्वारों पर घोड़े बँधे हुए दिखाई देते थे। पुराने चौपाल में पाठशाला थी और उसके सामने एक पक्का कूआँ और धर्मशाला थी। सुक्खू चौधरी के मंदिर पर इस समय बड़ी बहार थी। चौतरे पर बैठे हुए चौधरी रामायण पढ़ रहे थे और कई स्त्रियाँ बैठी सुन रही थीं।

गाँवों की आर्थिक स्थिति का भी कायापलट हो गया है। कादिर मियाँ मायाशंकर से सहर्ष अपनी हालत बयान करते हैं—

"बेटा और क्या दुवा दें ! रोएँ रोएँ से तो दुवा निकल रही है। मुंशी को देखो, पहले २० बीघे का काश्तकार था, १०० रुपए लगान देने पड़ते थे। दस-बीस साल नजराने में निकल जाते थे। अब जुमला २०) लगान है और नजराना नहीं लगता। पहले अनाज खलियान से घर तक न आता था। आपके चपरासी-कारिंदे वहीं गला दबाकर तुलवा लेते थे। अब अनाज घर में भरते हैं और सुभीते से बेचते हैं। दो साल में कुछ नहीं तो तीन-चार सौ बचे होंगे। डेढ़ सौ की एक जोड़ी बैल लाए, घर की मरम्मत कराई, सायबान डाला। हाँडियों की जगह ताँबे और पीतल के बर्तन लिए और सबसे बड़ी बात यह है कि अब किसी की धौंस नहीं। मालगुजारी दाखिल करके चुपके से घर चले आते हैं; नहीं तो जान सूली पर चढ़ी रहती थी।

अब अल्लाह की इबादत में भी जी लगता है; नहीं तो नमाज भी बोझ मालूम होती थी।"—(प्रेमाश्रम, पृष्ठ ६४३)।

यही देहातियों का वह स्वर्ग है जिसके स्वप्न प्रेमचंद देखा करते थे। आज हमारे जमींदारों में एक भी मायाशंकर निकलता तो प्रेमचंद को अपनी जीवन-साधना में निराश होकर 'गोदान' न लिखना पड़ता।

इस स्वर्गीय स्वप्न को प्रत्यक्ष करने की चेष्टा ने ही 'प्रेमाश्रम' को थोड़ा काल्पनिक और कृत्रिम बना दिया। 'प्रेमाश्रम' का पूर्वार्ध तो बड़े सुंदर और सहज रूप से नियोजित हुआ है परंतु उसके उत्तरार्ध में प्रेमचंदजी स्पष्ट सुधारक बन बैठे हैं। ऐसा लगता है मानों सबको वे त्यागी और आदर्शवादी बनाने पर तुले हुए हैं। प्रेमशंकर तो अमेरिका से साम्यवादी भावनाएँ लेकर आए ही थे उन्होंने जमींदारी में अपना हक तक छोड़ दिया और ग्रामीणों की सेवा में जीवन बिताने लगे, परन्तु इनका जादू कुछ ऐसा चला कि जीवन भर पाप की कमाई करनेवाले लोग भी धीरे धीरे 'प्रेमाश्रम' की बागवानी करते हुए नजर आने लगे। डाक्टर इर्फान अली, जो स्वार्थ-लोभ से लखनपुर के कितने ही अभागों को मृत्यु की वेदी पर छोड़कर चले गए थे, डाक्टर प्रियानाथ जिन्होंने पुलिस के दबाव और ज्ञानशंकर के रुपयों के लोभ से बीसों आदमियों के सिर खून करने का अपराध जड़ दिया था तथा बाबू दयाशंकर थानेदार जिसने जीवन भर सिवाय लूट-खसोट के कुछ किया ही नहीं—आदि सज्जनों को जब हम अपना अपना पेशा छोड़ कर 'प्रेमाश्रम' में सेवा और परिश्रम करते हुए देखते हैं तो जैसे चौंक उठते हैं। इसी तरह लखनपुर में सुक्खू चौधरी और बिसेसर साह भी बिलकुल साधु बन जाते हैं। उधर राय कमलानंद, जो जीवन भर अपनी वासनाओं की तृप्ति में ही लगे रहे, आत्मदर्शी साधु होकर हरद्वार की घाटियों में घूमते हुए दिखलाई पड़ते हैं और उनकी सुपुत्री रानी गायत्री जो बड़ी शीघ्रता से पतन की ओर चली जा रही थी

एकाएक राजपाट छोड़ तीर्थाटन की ओर देख पड़ती हैं। मायाशंकर के अधिकार-त्याग ने ज्ञानशंकर को डूब मरने के अतिरिक्त कोई उपाय ही न छोड़ा। इस तरह पुस्तक का अंत होते होते हम देखते हैं कि जितने दुष्ट पात्र थे या तो उनके विचारों ने इतना पलटा खाया कि वे बिलकुल सज्जन बन बैठे अथवा वे मर गए या मार डाले गए। प्रेमचंदजी का यह सत्ययुग-निर्माण उनकी कल्पना और आदर्श-प्रियता को भले ही संतुष्ट कर ले परंतु साधारण पाठक तो उसे सुधार समझ कर संदेह की दृष्टि से अवश्य देखने लगेंगे। यद्यपि 'प्रेमाश्रम' के पात्रों के जितने विचार-परिवर्तन दिखाए गए हैं उनके लिए बड़े सबल कारण भी दिए गए हैं तो भी हम मनुष्यों को इन देवताओं की बस्ती से श्रद्धा भले ही हो परंतु विश्वास नहीं होता।

एक बात और है जो 'प्रेमाश्रम' में खटकती है। वह है बहुत से पात्रों की आत्महत्या। ऐसा लगता है कि प्रेमचंदजी जब किसी पात्र के भावी जीवन की पूरी पूरी व्यवस्था नहीं कर पाते तो उनके लिए केवल एक ही उपाय रह जाता है और वह यह है कि वे इस विश्व-नाटक के रंगमंच पर से हटा दिए जायँ। विद्यावती, रानी गायत्री तथा ज्ञानशंकर की मृत्यु उसके उदाहरण हैं। फिर भी इन पात्रों की आत्महत्या बहुत कुछ युक्तियुक्त है, परंतु लाला प्रभाशंकर के दोनों लड़कों—पद्म और तेज—की बलि तो निर्दय क्रूरता सी लगती है। समझ में नहीं आता कि यदि इन निरीह प्राणों की बलि न दी जाती तो कहानी के विकास में कहाँ तक रुकावट पड़ती। इस बलिदान का कारण यह हो सकता है कि इसी दुख से दुखी होकर दयाशंकर ने सज्जनता ग्रहण की तथा मायाशंकर के त्याग को प्रोत्साहन मिला, परंतु इसके लिए अन्य सदय उपाय बिना किसी व्याघात के निकाले जा सकते थे। इसका एकमात्र यही उद्देश्य हो सकता है कि हमारे मन पर भूत-प्रेत, देवी-देवता आदि के जो संस्कार या कुसंस्कार पड़े

हुए हैं उनका निवारण किया जाय। परंतु इन अंधविश्वासों का निवारण ऐसी क्रूरता के साथ होते देख हृदय दहल जाता है।

जब हम 'प्रेमाश्रम' की रूप-रचना पर विचार करने लगते हैं तो लगता है उनमें अभी तक 'कर्मभूमि', 'गबन' और 'गोदान' वाली रचनात्मक प्रतिभा का पूर्ण विकास नहीं हुआ है। उपन्यासों का प्रकार भेद बताते हुए हम कह चुके हैं कि इनका सबसे कलात्मक और उत्कृष्ट रूप वह है जिसे नाटकीय उपन्यास कहा जाता है। ऐसे उपन्यास के पात्रों और घटनाओं में, कार्य-कारण-संबंध होता है। पात्रों के द्वारा घटनाओं की सृष्टि होती है और फिर इन घटनाओं की प्रतिक्रिया पात्रों के चरित्र पर होती है। इस तरह नाटकीय उपन्यासों के पात्र सतत विकासमान रहते हैं। परंतु 'प्रेमाश्रम' के सभी पात्रों में हम देखते हैं कि उनके चरित्र पर नवीन घटनाओं की प्रतिक्रिया बहुत कम होती है। वे मानो बने-बनाए पात्र हैं जो अपनी इच्छा-शक्ति से घटनाओं का निर्माण तो करते चलते हैं परंतु उनमें बँधते नहीं। ज्ञानशंकर, प्रभाशंकर, प्रेमशंकर इन तीनों पात्रों में चरित्र की ही प्रधानता दिखलाई पड़ती है। ज्ञानशंकर को पहले पहल देख उनके विषय में हम जो अपनी धारणाएँ बना लेते हैं उसकी उत्तरोत्तर पुष्टि ही होती जाती है। परिस्थितियाँ बदलती हैं, परंतु ज्ञानशंकर नहीं बदलते। उनकी स्वार्थपरता तथा लोभवृत्ति अंत तक समान रूप से चली चलती है। राय कमलानंद तथा रानी गायत्री की संपत्ति पा जाने पर अवश्य वे थोड़े से सदय और उदार हो जाते हैं, जिसे लेखक ने स्वयं परिस्थितियों का प्रभाव कहा है। परंतु उसे उनके चरित्र की क्षणिक भावुकता समझना चाहिए, उसका नित्य अंग नहीं। ज्ञानशंकर को जब हम अंतिम दृश्य में खोया हुआ सा नदी के किनारे आत्महत्या के लिए तत्पर देखते हैं तो हम उन्हें तुरंत पहचान लेते हैं। परिस्थितियों के घात-प्रतिघात ने उनमें रत्ती भर भी परिवर्तन

नहीं किया है। इसी तरह प्रभाशंकर और प्रेमशंकर भी एकरस पात्र हैं। दयाशंकर का एकाएक परिवर्तन तो हो जाता है परंतु वह इसलिए नहीं कि परिस्थितियाँ आग्रह करती हैं, बल्कि इसलिए कि लेखक आग्रह करता है। यही बात डाक्टर इर्फान अली, डाक्टर प्रियानाथ और ईजाद हुसेन के विषय में भी कही जा सकती है। राय कमलानंद का व्यक्तित्व निराला है और वह प्रेमचंदजी की कल्पना पर पूरी तरह आश्रित है। उसमें स्वाभाविकता की अपेक्षा काल्पनिकता ही अधिक है, परंतु जितना है वह बड़ा सबल है। किंतु 'प्रेमाश्रम' से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचंद धीरे धीरे अपने पात्रों पर से अपना नियंत्रण हटाने की चेष्टा में अवश्य थे जो 'गबन' और 'गोदान' में आकर सफल हुई।

'प्रेमाश्रम' के ठीक दो वर्ष बाद संवत् १९८१ में ९३० पृष्ठों का 'रंगभूमि' उपन्यास निकला। इस बार प्रेमचंद जातीय 'सेवा-सदन' या 'प्रेमाश्रम' के बाहर संपूर्ण भारतीय रंगस्थली में आए। उस समय तक देश में सन् १९२० का सत्याग्रह-संग्राम छिड़ चुका था। महात्मा मोहन के 'पांचजन्य' की पुकार देश के कोने कोने में गूँज उठी थी। हिंदू, मुसलमान और ईसाई, हिंद के ये तीनों ही भाई अपनी सजला, सफला, श्यामला मातृभूमि के उद्धार के लिए सन्नद्ध हो चुके थे। शासकों की कूटनीति, अधिकारियों का स्वेच्छाचार तथा भारतीय नरेशों की ठकुरसुहाती सभी की आँखों में खटक रही थी। कौंसिल के मेंबरों का भाषण सरकार के लिए अरण्यरोदन ही होता था। दीन प्रजा पर दिन-दहाड़े अत्याचार होते थे। परंतु भारतीयों के गांडीव में वह शक्ति न थी जो पुनः धर्मराज्य की स्थापना करती। अतएव पशुबल का सामना करने के लिए आधुनिक युग के सबसे बड़े महात्मा ने आत्मबल के शस्त्र का आविष्कार किया। महात्मा गांधी के इस अहिंसात्मक सत्याग्रह की प्रणाली ने प्रेमचंद के हृदय में घर कर लिया, वे भी गांधीवाद या गांधी-दर्शन के कायल हो गए। उन्होंने अनुभव किया कि भारत के उद्धार का एक मात्र

उपाय यह सत्याग्रह ही है। अतएव समय की आवश्यकताओं से प्रभावित होकर उन्होंने इस सत्य-सुंदर रंगभूमि की रचना की। एक भिखारी सूर की आँखों को नूर देकर उन्होंने पशुबल और आत्मबल का बड़ा ही सुंदर संघर्ष चित्रित किया। वह सूरदास इस रंगभूमि का एक खेलाड़ी था—"वह खेलाड़ी जिसके माथे पर कभी मैल नहीं आई, जिसने कभी हिम्मत नहीं हारी, जिसने कभी कदम पीछे नहीं हटाए, जीता तो प्रसन्नचित्त रहा, हारा तो प्रसन्नचित्त रहा, हारा तो जीतनेवालों से कीना नहीं रखा, जीता तो हारनेवालों पर तालियाँ नहीं बजाईं, जिसने खेल में सदैव नीति का पालन किया, कभी धाँधली नहीं की, कभी द्वंद्वी पर छिपकर चोट नहीं की। भिखारी था, अपंग था, अंधा था, दीन था, कभी भरपेट दाना नहीं नसीब हुआ, कभी तन पर वस्त्र पहनने को नहीं मिला; पर हृदय धर्म और क्षमा, सत्य और साहस का अगाध भंडार था। देह पर मांस न था, पर हृदय में विनय, शील और सहानुभूति भरी हुई थी।

"हाँ, वह साधु न था, महात्मा न था, देवता न था, फरिश्ता न था; एक क्षुद्र, शक्तिहीन प्राणी था, चिंताओं और बाधाओं से घिरा हुआ, जिसमें अवगुण भी थे और गुण भी। गुण कम थे, अवगुण बहुत। क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार ये सभी दुर्गुण उसके चरित्र में भरे हुए थे, गुण केवल एक था। किंतु ये सभी दुर्गुण उस एक गुण के संपर्क से, नमक की खान में जाकर नमक हो जानेवाली वस्तुओं के समान, देवगुणों का रूप धारण कर लेते थे—क्रोध सत्क्रोध हो जाता था, लोभ सदनुराग, मोह सदुत्साह के रूप में प्रकट होता था और अहंकार आत्माभिमान के वेश में। और वह गुण क्या था? न्याय-प्रेम, सत्य-भक्ति, परोपकार, दर्द, या उसका जो नाम चाहे रख लीजिए। अन्याय देखकर उससे न रहा जाता था, अनीति उसके लिए असह्य थी।"* यही कारण

---

* रंगभूमि, पृष्ठ ८९२।

था कि उसकी हार में भी जीत थी, मौत में भी जीवन। वह जीत यह थी कि शत्रुओं को भी उससे शत्रुता न थी। उसकी मृत्यु के शोक-समारोह में उसके सबसे बड़े विरोधी महेंद्रकुमार, जान सेवक, यहाँ तक कि उसके प्राणहंता मिस्टर क्लार्क भी थे और उसकी सदाशयता ने उनके मुख से 'सूरे' के प्रति आदर के शब्द निकलवा ही लिए। राजा महेंद्र सिंह से क्लार्क ने स्वीकार किया—"हमें आप जैसे मनुष्यों से भय नहीं है, भय ऐसे ही मनुष्यों से है जो जनता के हृदय पर शासन करते हैं। यह राज्य करने का प्रायश्चित्त है कि इस देश में हम ऐसे आदमियों का वध करते हैं, जिन्हें इँगलैंड में हम देवतुल्य समझते।"* परंतु वहाँ तो साम्राज्यरक्षा की भावना मनुष्यता तक का नाश कर देती है। साम्राज्यरक्षा के लिए व्यक्तियों के जीवन की कोई हस्ती नहीं समझी जाती। वास्तव में 'रंगभूमि' के द्वारा हमारे सारे पारस्परिक, सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन की बड़ी ही मनोवैज्ञानिक व्याख्या की गई है। मृत्यु की सेज पर पड़ा हुआ उन्माद की अवस्था में सूरदास कहता है—"बस-बस अब मुझे क्यों मारते हो, तुम जीते मैं हारा। यह बाजी तुम्हारे हाथ रही, मुझसे खेलते नहीं बना। तुम मँजे हुए खिलाड़ी हो, और तुम्हारा उत्साह भी खूब है। हमारा दम उखड़ जाता है, हाँपने लगते हैं, खिलाड़ियों को मिलाकर नहीं खेलते, आपस में झगड़ते हैं, गाली-गलौज, मार-पीट करते हैं। कोई किसी की नहीं मानता। तुम खेलने में निपुण हो, हम अनाड़ी हैं। बस, इतना ही फरक है। तालियाँ क्यों बजाते हो, यह तो जीतनेवालों का धरम नहीं? तुम्हारा धरम तो है हमारी पीठ ठोकना। हम हारे तो क्या, मैदान से भागे तो नहीं, रोए तो नहीं, धाँधली तो नहीं की। फिर खेलेंगे, जरा दम ले लेने दो, हार-हारकर तुम्हीं से खेलना सीखेंगे और एक न एक दिन हमारी

---

* वही, ८९३।

जीत होगी, अवश्य होगी।"* क्या ही अच्छा होता यदि जीवन के साथ जल-जलकर खेलनेवाले 'प्रेमचंद' स्वयं अपने जीवन में यह जीत देख सकते।

'रंगभूमि' की कथा-वस्तु का प्रधान अंग सत्याग्रह-संग्राम और उसमें निष्काम भाव से अग्रसर होनेवाले वीरों की आध्यात्मिक विजय होते हुए भी इसमें जीवन की अनेक मार्मिक दशाओं का ऐसा विशद वर्णन है कि इसे अपना राष्ट्रीय महाकाव्य कहना अत्युक्ति न होगी। पाँड़ेपुर गाँव के बजरंगी, जगधर, भैरो, सूरदास, ताहिर अली आदि के पारस्परिक एवं पारिवारिक जीवन के चित्रण से लेकर पादरी ईश्वर सेवक, कुँवर भरतसिंह, राजा महेंद्रसिंह, मिस्टर क्लार्क और यहाँ तक कि जसवंतनगर के दीवान और महाराजा के अंतरंग, पारिवारिक एवं राजनीतिक जीवन का भी बड़ा मनोवैज्ञानिक चित्रण मिलता है। इस तरह इस 'रंगभूमि' में हिंदू भी हैं, मुसलमान भी हैं, ईसाई भी हैं; रंक भी हैं, राव भी हैं; जमींदार भी हैं, किसान भी हैं; मिल मालिक भी हैं, मजदूर भी हैं, पंडे-गुंडे भी हैं; देश-सेवक भी हैं, देशद्रोही भी हैं तथा आत्मसेवी भी हैं और आत्मदर्शी भी। एक ओर 'सूरे' का मिठुआ के प्रति वात्सल्य प्रेम है तो दूसरी ओर सोफिया और विनय का पुनीत प्रणय-बंधन; एक ओर नायक राम की हासोक्तियाँ हैं तो दूसरी ओर इंद्रदत्त और विनय की वीरोक्तियाँ। पुरुषों से अधिक साहस और उत्साह दिखानेवाली स्त्रियों का समर-क्षेत्र में उतरना हमारी राष्ट्रीय जागर्ति का एक पुनीत परिचय है। देश के सत्याग्रह-संग्राम में महिला-स्वयंसेविकाओं के सदुत्साह को देखकर ही संभवतः प्रेमचंद ने सोफिया, इंदु और रानी जाह्नवी की अवतारणा की। इन तीनों चरित्रों में अनुपम शक्ति और सजीवता है। सोफिया

*वही, ८९०।

आदर्शवादी है और आदर्शवादी सदैव आनंद के स्वप्न ही देखा करता है। वह भावना-जगत की रानी है; जिसके लिए प्रेम एक भावनागत विषय है, भावना से ही वह जीवित रहता है और भावना से ही उसका पोषण होता है। वह भौतिक वस्तु नहीं। सोफिया के लिए जीवन का चरम उत्कर्ष सेवा, सहानुभूति तथा देशानुराग है। उसने प्रेम की क्षणिक शीतलता के मोह को छोड़ उसकी ज्वाला का ही वरण किया। वह ईसाई होते हुए संस्कारों और भावनाओं से एक आर्य-बालिका है। और सोफिया की बाल्य सहेली इंदु का जीवन पातिव्रत धर्म तथा सेवाधर्म का परस्पर संघर्ष है। इस देशसेविका इंदु तथा उस अमर शहीद विनय की माता रानी जाह्नवी आदर्श क्षत्राणी हैं, जिनसे राजपूत जाति गौरवान्वित होती है। इनमें मातृवेदना के साथ मातृगौरव भी है; एकांत मोह के साथ देश-मोह भी है। बलिदान और त्याग के अर्थ को समझनेवाली यह रानी हमारे साहित्य की अमर संपत्ति है। और उनका 'विनय' एक साथ ही शील, शक्ति और सौंदर्य की समन्वित मूर्ति है। उसकी दुर्बलता में भी सबलता है, मोह में भी मुक्ति। वह जीना जानता है और मरने को भी मानता है। देश को आज ऐसे ही युवकों की आवश्यकता है।

'रंगभूमि' के रचनात्मक कौशल का विचार करने पर हमें 'प्रेमाश्रम' के रचयिता के इस असाधारण कलात्मक विकास पर श्रद्धा हो जाती है। हो सकता है कि 'प्रेमाश्रम' पर जो कटु आलोचनाएँ निकलीं उनका यह शुभ प्रभाव हो। 'रंगभूमि' में किसी 'प्रेमाश्रम' की स्थापना करने के लिए न तो जबर्दस्ती दुर्जन पात्र सुजन बनाए गए हैं और न घटना की ही अनावश्यक खींचतान हुई है। 'रंगभूमि' में चरित्र और घटनाएँ एक दूसरे के समानांतर चलती चली गई हैं। लेखक ने अपनी ओर से उनमें व्याघात पहुँचाने का तनिक भी प्रयत्न नहीं किया है। यदि 'प्रेमाश्रम' एक 'कामेडी' है, तो 'रंगभूमि' जीवन की 'ट्रैजेडी'। 'प्रेमाश्रम' में

लेखक ने स्वयं परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करके एक भावनागत 'राम-राज्य' स्थापित करने का प्रयत्न किया है। 'रंगभूमि' में ऐसा कुछ नहीं है इसमें लेखक ने यथार्थ की ओर से आँखें बंद कर लेने का प्रयत्न नहीं किया। इसमें सूरदास, विनय और इंद्रदत्त की मृत्यु में भी नवजीवन की सूचना है। 'रंगभूमि' में जितने धीरोदात्त पात्रों की सृष्टि हुई है उतने प्रेमचंदजी के अन्य किसी उपन्यास में नहीं मिलते। 'रंगभूमि' संसार के श्रेष्ठ उपन्यासों में से है। इसमें एक साथ ही काव्य, मनोविज्ञान, जीवन-दर्शन का ऐसा सुंदर पुटपाक है कि इसके द्वारा राष्ट्र युग-युगांतर तक शक्ति का संचय करता रहेगा।

'रंगभूमि' के उपरांत इनकी कल्पना का अद्भुत कायापलट हुआ और परिणाम-स्वरूप 'कायाकल्प' की उद्भावना हुई। 'कायाकल्प' में जिस अलौकिक कथा-वस्तु का विस्तार किया गया है उसमें मन चाहे रम जाय पर विश्वास नहीं जमता। प्रेमचंदजी की इस विलक्षण कल्पना के मूल में जब हम पैठते हैं तो हमें पता चलता है कि यह मानव और उसके अनुभवों के प्रति श्रद्धा और विश्वास का ही परिणाम है। "प्रेमचंदजी के मन में यों मूल तत्व अर्थात् ईश्वर के संबंध में चाहे अनास्था ही हो, लेकिन मानव-जाति द्वारा अर्जित वैज्ञानिक हेतुवाद पर और उसके परिणामों पर उनकी पूरी आस्था थी। वह कुछ भी हों कट्टर नहीं थे। दूसरों के अनुभवों के प्रति उनमें ग्रहणशील वृत्ति थी।"* यही कारण है कि उन्हें सामुद्रिक विद्या, जड़ी-बूटी, शक्ति तथा योग की क्रिया और उसके फल आदि परंपरा-प्राप्त बातों पर विश्वास था। 'प्रेमाश्रम' के राय कमलानंद शक्ति की उपासना से विष भी पचा लेते हैं तथा 'रंगभूमि' का विनय सोफिया को संमोहन बूटी से मोहित करता है। 'कायाकल्प' भी युगों से प्रतिष्ठित तथा प्रतिपादित पुनर्जन्म की भावना में विश्वास का फल है। तिब्बत के महात्मा के द्वारा डारविन के विकास-सिद्धांत का भी पोषण किया गया

*देखिए 'हंस' का 'स्मृति-अंक', पृष्ठ ७८०।

है। प्रेमचंदजी की आत्मा जैसे मानवज्ञान और उसके परिणामों की उपेक्षा करने को प्रस्तुत न थी। उनका कहना तो था—"इतने लोग इतने काल से ईमानदारी के साथ इस ओर लगे रहे, उनके परिणामों की मैं उपेक्षा करूँ?" उनके अनुसार तो "तिब्बत में आज भी ऐसी महान आत्माएँ हैं जो माया का रहस्य खोल सकती हैं।" परंतु इन परंपरा-प्राप्त विश्वासों में प्रेमचंद की कितनी ही आस्था क्यों न रही हो, उपन्यासों में इनका प्रतिपादन देखकर बुद्धि अविश्वास की दृष्टि से अवश्य देखने लगती है।

'कायाकल्प' में आकर्षण का प्रधान केंद्र आध्यात्मिक है। उसमें पात्रों के इस जीवन की घटनाएँ तो एक-दूसरी से संबद्ध हैं ही, इसके अतिरिक्त उनके जन्म-जन्मांतर के पारस्परिक संबंध भी एक-दूसरे के साथ आकर इस तरह जुड़ गए हैं कि सीधी तरह समझ में आते ही नहीं। प्रेमचंद ने उसमें इतने अधिक रहस्यों की उद्भावना कर दी है कि कहीं कहीं पढ़नेवालों की बुद्धि चकरा जाती है। रानी देवप्रिया और उसके जन्म-जन्मांतर के जीवन-स्वामी की बातें इतनी अलौकिक हैं कि पौराणिक कथाओं को भी मात करती हैं। रानी देवप्रिया तो 'कायाकल्प' की मायाविनी है। परंतु इतनी अलौकिक, इतनी मायाविनी और इतनी रहस्यमयी होने पर भी हम उसे जानते हैं, पहचानते हैं, क्योंकि लेखक ने उसे पूर्ण लौकिक बनाने का प्रयत्न किया है, उसके प्राणों में सजीवता, स्वाभाविकता भरी है। यदि कहीं प्रेमचंदजी को पुनर्जन्म की गुत्थी सुलझाने का शौक न होता तो क्या भाव, क्या भाषा, क्या चरित्र-चित्रण में 'कायाकल्प' 'रंगभूमि' के आगे बढ़ जाता। फिर भी इस आध्यात्मिक तत्व की त्रुटियों को छोड़ देने पर जो बच रहता है वह कलात्मक दृष्टि से उत्कृष्ट कोटि का है।

'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम' तथा 'रंगभूमि' में हमारे पारिवारिक, सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन की अधिकतर समस्याओं का चित्रण

हो चुका था परंतु आजकल का सबसे प्रधान राजनीतिक प्रश्न, हिंदू-मुस्लिम वैमनस्य, जिसके सुलझाने में बड़े बड़े नेताओं की बुद्धि चकरा रही है अछूता सा ही रहा। प्रेमचंद ने 'कायाकल्प' में इस समस्या को भी लिया और प्रेम के आधार पर इसे सुलझाने का प्रयत्न किया। जब तक दोनों संप्रदायों में ख्वाजा महमूद और यशोदानंद जैसे उदार दृष्टिवाले व्यक्ति न उत्पन्न होंगे तब तक इस संकुचित धार्मिकता का नग्न तांडव चलता ही रहेगा। हिंदू मुस्लिम-एकता के प्रश्न के अतिरिक्त बेगार में पकड़े जानेवाले मजदूर-किसानों की विपद्-कथा का भी मार्मिक चित्रण हुआ है। 'कायाकल्प' की मनोरमा का मूक अनुराग और आत्मत्याग अनुपम है। कर्तव्य और त्याग के सौंदर्य से प्रेम की शोभा बढ़ानेवाली यह मनोरमा ही 'कायाकल्प' की कलात्मक मार्मिकता है। 'रंगभूमि' की सोफिया का प्रेम भी इतना नीरव, इतना निस्पृह, इतना करुण नहीं जितना कि इसका।

'कायाकल्प' के उपरांत प्रेमचंदजी ने 'निर्मला' और 'प्रतिज्ञा' नामक दो छोटे छोटे उपन्यास लिखे। 'निर्मला' अधिक वय में विधुर-विवाह करने के दुष्परिणाम की करुण कहानी है। तीन तीन बच्चों के रहते हुए भी लाला तोताराम ने केवल वासना-तृप्ति के लिए एक कोमल-प्राण बालिका से ब्याह कर अपने ही हाथों अपने सुखमय संसार को उजाड़ दिया। इस उपन्यास में प्रधान पात्रों का मनोविकास बड़े ही वैज्ञानिक ढंग से हुआ है परंतु अत्यधिक करुण बनाने की धुन ने इसे थोड़ा कृत्रिम बना दिया है। 'निर्मला' की भाँति ही 'प्रतिज्ञा' भी एक छोटा सा सामाजिक उपन्यास है। इसमें प्रेम-साधना और कर्तव्य-निष्ठा का सुंदर सामंजस्य अंकित किया गया है। इसे 'प्रेमा' का ही एक नवीन रूप समझना चाहिए। थोड़े से पात्रों को लेकर यह छोटा सा मनोवैज्ञानिक चित्रण पर्याप्त सरस और सुंदर बन पड़ा है।

इन छोटे छोटे उपन्यासों के उपरांत बड़ा सा 'गबन' निकला जो कि राई जैसे कारणों के द्वारा पर्वत से परिणामों का प्रसार लेकर आया। इसने हमें दिखलाया कि मानव कितना दुर्बल, कितना असमर्थ है। उसकी छोटी से छोटी भूल उसे सतत नीचे की ओर ही लिए जाती है। परिस्थितियों के बहाव में निरुपाय सा मनुष्य उठता-गिरता चला जाता है। परिस्थितियाँ ही उसका उद्धार कर सकती हैं और उन्हीं में वह संपूर्ण विलीन भी हो जा सकता है। जालपा के आभूषण-अनुराग तथा रमानाथ के मिथ्या अहंकार और आत्म-प्रशंसा में अंकुरित होकर कहानी पुलिस के मायालय में नग्न अठखेलियाँ करने लगती है। जिसकी व्यवस्था केवल जन-धन की रक्षा और त्राण के लिए है वही पुलिस स्वार्थ के प्रलोभन से किस तरह निरीह प्रजा पर जाल बिछाया करती है और उसमें उन निरपराधों को फँसाकर कैसे घर के घर चौपट कर देती है इसका दर्शन 'गबन' से अच्छा अन्य कहीं न हो सकेगा।

'गबन' में प्रेमचंद की रचनात्मक प्रतिभा का पूर्ण विकास दिखाई पड़ता है। इस उपन्यास की कथा-वस्तु अन्य उपन्यासों की अपेक्षा अधिक सुगठित और तर्कसंगत है। घटना, चरित्र और परिस्थिति की सापेक्षता इसमें पूरी पूरी तरह चरितार्थ हुई है। प्रारंभ से ही घटना और चरित्र एक दूसरे पर घात प्रतिघात करते हुए चलते हैं और अंत तक यह अन्योन्याश्रित संबंध बना रहता है। बिसातीवाली एक छोटी सी घटना ने 'जालपा' के बाल-स्वभाव को प्रभावित किया और यह छोटा सा प्रभाव ही घर और गाँव के वातावरण में पल्लवित होकर उत्कट आभूषण-प्रेम के रूप में प्रकट हुआ। इस आभूषण-प्रेम ने ही 'जालपा' और 'रमानाथ' के सारे कष्टों का सर्जन किया। परंतु यह आभूषण-प्रेम परिस्थितियों की ही सृष्टि थी। परिस्थितियों के बदलते ही पति-परायणा 'जालपा' के चरित्र ने भी दूसरा पहलू बदला और इस परिवर्तन ने घटनाओं पर नियंत्रण आरंभ किया। इस तरह हम देखते हैं कि

घटना और चरित्र की यह आँखमिचौनी अथ से इति तक चली चलती है। 'रमानाथ' के चरित्र में यह घात-प्रतिघात और भी स्पष्ट है। वह जब तक पढ़ता रहा योग्य विद्यार्थी रहा। पढ़ाई छूट जाने पर जब परिस्थिति ने उसे आवारों और शोहदों के वातावरण में ला खड़ा किया तो बड़ी तेजी से उस पर वही रंग चढ़ चला और वह पूरी तरह से फैशन और मिथ्या-प्रदर्शन का गुलाम बन गया। इस मिथ्या-प्रदर्शन के फेर में पड़कर ही उसे स्त्री के गहनों की चोरी करनी पड़ी। इस चोरी की घटना ने 'जालपा' के चरित्र पर जो प्रतिक्रिया की उसके प्रतिकार की अभिलाषा ने ही 'रमानाथ' जैसे व्यक्ति को भी नौकरी करने के लिए विवश किया। परिस्थिति के दबाव से यहाँ भी उसने सरकारी रुपया खर्च किया और इस घटना के काल्पनिक भय ने उसके चरित्र को नवीन रूप प्रदान किया और उसने अपने लिए नवीन परिस्थितियों का निर्माण किया। यदि 'जालपा' ने अपनी सबल आत्मिक शक्ति से 'रमानाथ' का उद्धार न कर लिया होता तो वह न जाने कितने नीचे तक बह जाता। इस तरह 'गबन' के प्रधान पात्रों और घटनाओं का विश्लेषण करने पर हम देखते हैं कि प्रत्येक चरित्र-परिवर्तन के मूल में कोई न कोई घटना है और प्रत्येक घटना चरित्र की विशेषता का फल है। इस उपन्यास में लेखक ने अपने को अधिक से अधिक निरपेक्ष रखने का प्रयत्न किया है और इसी कारण इसका कलात्मक मूल्य भी बहुत बढ़ गया है।

इस उपन्यास का केंद्रबिंदु 'रमानाथ' है। उसके चरित्र का कोई स्थायी पहलू नहीं। विवाह के पूर्व तक वह साधारण विद्यार्थी रहा जिसमें कुसंगति के प्रभाव से मिथ्या-प्रदर्शन और डींग हाँकने की प्रवृत्ति जोर पकड़ती जा रही थी। विवाह के उपरांत वह स्त्री पर इतना अनुरक्त हो गया कि उसे प्रसन्न रखना ही उसके जीवन का सबसे बड़ा लक्ष्य हो गया। उसने अपने घर की वास्तविक स्थिति को 'जालपा' तक से छिपा रखा और उसके सामने सदैव अपने पिता के ऐश्वर्य के

कल्पित चित्र खींचता रहा। उसकी इच्छाओं को पूरा करने में उसने सदैव कल्पना से काम लिया और उसे प्रसन्न रखने की चेष्टा में ही वह घूस लेता है, कर्ज लेता है और कर्ज चुकाने के लिए एक दिन दफ्तर के कुछ रुपए भी ले लेने के लिए बाध्य होता है। यदि उसमें तनिक भी व्यवहार-कुशलता होती तो परिस्थिति को सँभाल ले जाता, किंतु उसके अस्थिर चित्त की कल्पनाएँ उसे इतना भयभीत कर देती हैं कि उसे मुँह छिपाकर भागना ही पड़ता है। वह कुछ दिनों तक छिपकर कलकत्ते के एक विश्वसनीय खटिक परिवार में दिन बिताता है, किंतु उसके पीछे दिन-रात जो एक भय का भूत लगा रहता है वह एक दिन अनायास उसे पुलिस के चंगुल में फँसा देता है। कर्मकुशल पुलिस-कर्मचारी तो एक ऐसी ही कठपुतली की तलाश में थे। उसे बड़े बड़े प्रलोभन दिए गए जिसे दंडभय से स्वीकार करके वह 'मुखबिर' बन जाता है। इसी एक मार्ग से उसे अपने मनःकल्पित अभियोग से मुक्ति तथा सांसारिक उन्नति दिखाई पड़ी। यदि बीच में 'जालपा' न आ जाती तो उस पाप-पंक से वह अपने को कभी उबार न पाता और कितने ही निरीह व्यक्तियों की हत्या का भागी बनता। जालपा के सबल व्यक्तित्व का पुलिस-अधिकारियों से अधिक प्रभाव पड़ा और उसने अपना बयान बदल डाला। सच पूछा जाय तो उसका अपना कोई व्यक्तित्व ही नहीं है और इसलिए वह परिस्थितियों की धारा में डूबता उतराता बहता चला जाता है।

इसके विपरीत उसकी स्त्री 'जालपा' का व्यक्तित्व बड़ा ही सबल है। जब हम आरंभ में उसे देखते हैं तो वह बिलकुल सामान्य देहाती लड़की सी लगती है। किंतु रमानाथ के अदृश्य होते ही वह एकाएक बिलकुल असाधारण हो उठती है। जिन बातों को हमने उसके चरित्र का स्थायी पहलू समझा था, परिस्थिति बदलते ही वे हमें बिलकुल अस्थायी सी लगती हैं। स्थिति की यथार्थता से अवगत होते ही

उसने अपनी भूल समझी और फिर प्राणपण से उसके प्रायश्चित के लिए तैयार हो गई। अपनी कर्तव्य-परायणता से ही वह अपने डूबते हुए पति का उद्धार कर लेती है। 'जालपा' में लेखक ने अपनी संपूर्ण सबलताओं दुर्बलताओं के साथ एक भारतीय नारी का मंगलमय रूप सजीव कर दिया है।

'जालपा' की सहेली 'रतन' का चरित्र भी कम महिमामय नहीं है। उसका सदनुराग, सरल प्रेम, धर्मपरायणता, पति-भक्ति, स्वार्थत्याग, सेवानिष्ठा सब अनुपम हैं।

इस संपूर्ण उपन्यास में 'देवीदीन' खटिक तथा उसकी स्त्री 'जग्गो' का चरित्र बड़ा ही सहज, स्वाभाविक एवं सुंदर बन पड़ा है। संसार के विषय में उस अपढ़ 'देवीदीन' का अनुभव बड़ा खरा है। 'रमा' को देखते ही उसे वास्तविक स्थिति का आभास मिल गया था और 'गबन' की बात जानकर भी वह उसे आश्रय देने में न हिचका। अपने जवानी के दिनों में स्त्री का मन रखने के लिए ही वह स्वयं 'जेहल' काट चुका है। देश-भक्ति उसकी नस-नस में प्रवाहित होती है। विदेशी वस्त्र की दूकानों पर धरना देते देते उसके दो जवान बेटे गोली से उड़ा दिए गए। "उस बखत ऐसा जान पड़ता था कि मेरी छाती गज भर की हो गई है, पाँव जमीन पर न पड़ते थे; यही उमंग आती थी कि भगवान ने औरों को पहले न उठा लिया होता तो उन्हें भी भेज देता।" 'रमानाथ' से यह कहते समय गर्व से उस बुड्ढे की छाती फूल उठी थी। भद्र समाज की उसकी आलोचना बड़ी अनुभवसिद्ध है। "वह शहीदों की शान से बोला—इन बड़े बड़े आदमियों के किए कुछ न होगा, इन्हें बस रोना आता है; छोकरियों की भाँति विसूरने के सिवा इनसे कुछ नहीं हो सकता! बड़े बड़े देस-भगतों को बिना बिलायती सराब चैन नहीं आता। उनके घर में जाकर देखो तो एक भी देसी चीज न मिलेगी। दिखाने को दस-बीस कुरते गाढ़े के बनवा

लिए और सब सामान विलायती है।" कंबल बँटवानेवाले सेठ 'करोड़ीमल' के विषय में उसकी राय है, "उसे पापी कहना चाहिए, महापापी। दया तो उसके पास से होकर भी नहीं निकली। उसकी जूट की मिल है। मजूरों के साथ जितनी निर्दयता इसकी मिल में होती है और कहीं नहीं होती। आदमियों को हंटरों से पिटवाता है, हंटरों से! चरवी-मिला घी वेचकर इसने लाखों कमा लिए। यदि साल में दो चार हजार दान न कर दे तो पाप का धन पचे कैसे।" किंतु भीतर से इस अनुभवी खटिक का हृदय नवनीत की तरह स्निग्ध है। वह आदमी पहचानता है और प्रेम के मूल्य को जानता है। मानव की महत्ता उसकी आँखों में पैसे से कहीं अधिक है और इसी लिए तो भोले 'रमानाथ' के लिए उसके हृदय में इतनी ममता है। बुढ़िया 'जग्गो' उसे चाहे प्रतिदिन ऊपर से कितनी ही फटकार सुनाए किंतु उसे जानती है। 'जग्गो' के सामने दुनिया का अनुभव रखनेवाला 'देवीदीन' भींगी बिल्ली बन जाता है। इस दंपति के वाह्य आवरण को भेदकर प्रेमचंद ने इनके अंतरतर के जिस आलोक का आभास दिया है वह अलौकिक है।

'गबन' के अंत में भी प्रेमचंद ने अपनी प्रवृत्ति के अनुसार एक स्वर्ग का निर्माण किया है जहाँ पर सभी पात्र कर्मयोग में, अविरत उद्योग में, सुख-संतोष और शांति का अनुभव करते हैं। यहाँ पर भी 'जोहरा' की कोई व्यवस्था न कर सकने के कारण प्रेमचंद उसे नदी की लहर में ढकेल देने के लिए वाध्य हुए हैं।

प्रेमचंद के उपन्यासों का विश्लेषण करने से पता चलता है कि उन्होंने प्रायः सभी में समाज के किसी न किसी अत्याचारी वर्ग की धाँधलियों को अनावृत करने का प्रयत्न किया है। इस दृष्टि से हम देखते हैं कि भारतीय पुलिस की कार्यवाहियों का खोखलापन दिखाने के लिए इससे वढ़कर दूसरा उपन्यास न मिलेगा। भारतीय पुलिस सच्चे अपराधियों की खोज नहीं करती, वल्कि अपनी कार्यवाही दिख-

लाने के लिए कुछ लोगों को अपराधी सिद्ध कर देने में ही अपनी सफलता समझती है। इसके लिए वह उचित अनुचित सभी उपायों का अवलंबन कर सकती है।

'गबन' की उत्कृष्टता का एक और कारण भी है। 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि' या 'कायाकल्प' आदि में जो सुधारवादी आंदोलन खड़े किए गए हैं वे अपने अनावश्यक प्रसार के कारण कभी कभी पाठक को विरक्त कर देते हैं और उसमें अत्यधिक सुधार की प्रवृत्ति देखकर वह कुढ़ उठता है, परंतु 'गबन' सोद्देश्य होते हुए भी किसी 'सेवा-सदन', 'सेवा-भवन' या 'प्रेमाश्रम' की स्थापना को ध्येय बनाकर नहीं चला है। इसके अतिरिक्त 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कायाकल्प' तथा 'कर्मभूमि' की इतनी अधिक घटनाएँ एक सी हैं कि एक को पढ़ लेने के उपरांत बिलकुल उन्हीं ब्योरों के साथ दूसरा पढ़ने पर पाठक उसमें तन्मय नहीं होता। उपन्यास का एक प्रधान उद्देश्य मनोरंजन भी है अतएव लेखक को यह ध्यान में रखना चाहिए कि वह बिलकुल एक सी मिलती-जुलती कहानियों की रचना न करे, अन्यथा पाठक का उनसे पर्याप्त मनोरंजन न होगा। कहना न होगा कि वस्तु-वैभिन्य के कारण 'सेवा-सदन' 'निर्मला', 'प्रतिज्ञा', 'गबन' और 'गोदान' में जी कुछ अधिक रमता है और विशेषतया 'रंगभूमि' आदि आंदोलनवाले उपन्यासों के पढ़ चुकने के उपरांत।

'निर्मला', 'प्रतिज्ञा' और 'गबन' यद्यपि समय की माँग से प्रभावित होकर समाज और शासन-व्यवस्था के किसी न किसी दुर्बल अंग का ही प्रदर्शन करते हुए आए थे परंतु 'रंगभूमि', 'प्रेमाश्रम' आदि के समान उनमें किसी विस्तृत आंदोलन का प्रयास नहीं मिलता। 'गबन' के द्वारा देश के विभिन्न राजनीतिक षड्यंत्र के मुकदमों में पुलिस की धाँधली का संकेत अवश्य कराया गया है, परंतु वह प्रधान विषय नहीं है। सन् १९३७ में एक बार पुनः देश ने 'प्राणों की बाजी' लगाई और सविनय

अवज्ञा का दौरदौरा चला। इस स्वतंत्रता-युद्ध में पुलिस ने विभिन्न प्रांतों में बड़े बड़े अमानुषीय अत्याचार किए। छोटी छोटी बातों पर गोलियाँ चलीं और बेचारे किसान तंगदस्ती के कारण लगान न चुकाने पर विद्रोही समझे जाकर सख्तियों के शिकार बने। पुरुषों की तो बात ही क्या पिकेटिंग करती हुई परदे में रहनेवाली हिंदू तथा मुसलमान महिलाएँ भी गिरफ्तार हुईं और उन पर मानवता के समस्त नियमों के विरुद्ध दिन-दहाड़े अत्याचार किए गए।* इन सबको देखकर समय के साथ चलनेवाले प्रेमचंद एक बार पुनः 'कर्मभूमि' में आए और देश के इस वीर प्रयत्न का विशद चित्रण किया। 'कर्मभूमि' भी 'रंगभूमि' तथा प्रेमाश्रम की भाँति दलित किसानों एवं मजदूरों की मूक वाणी का स्वर है। इसमें शिक्षा-संस्थाओं की अर्थव्यवसायी नीति, म्युनिसिपल कर्मचारियों की स्वार्थपरता, सेठ-साहूकारों के धनार्जन के घृणित उपाय, मठाधीश-महंत तथा जमींदारों की विलासिता एवं क्रूरता तथा राजकर्मचारियों के आत्मपतन तथा स्वेच्छाचार आदि की कलात्मक दृष्टि से सुंदर व्याख्या हो गई। इस उपन्यास में 'सुखदा', 'मुन्नी', 'रेणुका देवी', 'नैना', 'सकीना' तथा 'पठानिन' आदि महिलाओं ने पुरुषों की अपेक्षा अधिक सफलता के साथ सत्याग्रह-संग्राम का संचालन करके देश की जागर्ति और सजीवता का आदर्श परिचय दिया। उपन्यास के अंत में जब इस 'कर्मभूमि' के सभी नायक और नायिकाएँ जेल में आ जाती हैं तो सेठ 'समरकांत' के मुख से 'गवर्नर साहब' की यह आज्ञा कि 'सारे कैदी छोड़ दिए जायँ और एक कमेटी करके निश्चय कर लिया जाय कि हमें क्या करना है' सुनकर हमें १९३१ में किए गए गांधी-इरविंग-समझौते की बात याद आ जाती है। 'कर्मभूमि' के इस समझौते के उपरांत प्रेमचंद

---

* देखिए 'कांग्रेस का इतिहास'—श्री पट्टाभि सीतारामैया।

पुनः इस झगड़े में पड़ने न गए। उन्होंने मानों समझ लिया कि ऐसे आंदोलनों से "सैकड़ों घर बरबाद हो जाने के सिवा और कोई नतीजा नहीं निकलता।"* "इनसे प्रेम की जगह द्वेष बढ़ता है। जब तक रोग का ठीक निदान न होगा, उसकी ठीक औषधि न होगी, केवल बाहरी टीम-टाम से रोग का नाश न होगा।"† इस रोग का नाश करने के लिए उन्होंने बताया कि "हमें प्रजा में जाग्रति और संस्कार उत्पन्न करने की चेष्टा करते रहना चाहिए। हमारी शक्ति पूरी जाति की आत्मा को जगाने में लगनी चाहिए।"†

'रंगभूमि' और उसके उपरांत 'गबन' में प्रेमचंदजी ने जिस उत्कृष्ट कोटि की रचनात्मक प्रतिभा का परिचय दिया था 'कर्मभूमि' में उसका पूरी तरह से निर्वाह किया गया है। यद्यपि पात्रों की बहुलता हो जाने के कारण कुछ के चरित्र पूरी पूरी तरह परिस्फुट नहीं हो सके हैं तो भी इन पात्रों का जितना चित्रण हुआ है वह बड़ा ही सजीव, स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक है। परंतु 'रंगभूमि' के उत्तरार्ध में भी 'प्रेमाश्रम' की भाँति प्रेमचंद की सुधारक वृत्ति प्रबल हो उठी है अतएव इसका उत्तरार्ध उतना सुंदर नहीं जितना पूर्वार्ध।

'सेवा-सदन' के बाद से ही छिद्रान्वेषी आलोचकों ने प्रेमचंद पर आदर्शवादी, सुधारवादी और न जाने कौन कौन वादी होने का दोषारोपण आरंभ कर दिया था। यद्यपि अपने जीवनकाल में प्रेमचंद ने इन आलोचनाओं की कभी परवाह नहीं की, फिर भी 'कर्मभूमि' तक पहुँचते पहुँचते जीवन की सतत पराजय ने इस आशावादी सैनिक को भी थोड़ा-बहुत विचलित किया ही। वे जितना ही आदर्श की ओर बढ़ते गए आदर्श उनसे उतना ही दूर होता गया और कम से कम

---

* कर्मभूमि, पृष्ठ ६२१।

† वही, पृष्ठ ६२०।

उनके जीवन काल में तो उनके स्वप्न स्वप्न ही रह गए। अतएव मृत्यु की ओर बढ़ते हुए प्रेमचंद ने 'गोदान' देकर किंचित क्षोभ के साथ ही उठ-उठकर गिर जानेवाले जीवन की नैराश्यपूर्ण कठोर वास्तविकता का नग्न परिचय कराया। इस उपन्यास में न तो 'रंगभूमि' की भाँति जीवन का कोई निर्दिष्ट आशावादी दार्शनिक संदेश है, न प्रेमाश्रम की भाँति किसी 'रामराज्य' का आदर्श स्वप्न और न 'सेवा-सदन' की भाँति समाज-सेवा का स्पष्ट कार्यक्रम। इसमें तो केवल जीवन के जीते-जागते चित्र हैं और उसकी अनेक समस्याएँ। अन्य उपन्यासों की भाँति इन समस्याओं का समाधान बताने का तनिक भी प्रयास नहीं किया गया है और इसी लिए यह उपन्यास अपूर्ण सा लगता है, परंतु इस अपूर्णता में भी पूर्णता के प्रति एक आकांक्षा है, एक संकेत है। 'गोदान' के होरी की पराजय में व्यक्ति की आत्मा की विजय का वह सुखद संदेश नहीं है जो 'रंगभूमि' के 'सूरदास' या 'विनय' में है। यही 'गोदान' की अपूर्णता है। परंतु यह अपूर्ण उपन्यास भी हमारे ग्रामीण जीवन के अंधकार-पक्ष का एक महाकाव्य है।

'गोदान' में ग्रामीण जीवन के उपर्युक्त अंधकार-पक्ष को संवेदना-पूर्वक ग्रहण करने के लिए ही प्रेमचंद को नागरिक जीवन भी साथ साथ लेकर चलना पड़ा और इस तरह उसकी भी अच्छी सी व्याख्या हो गई। 'गोदान' में एक ओर 'होरी' और उसके गाँववालों की संघर्ष-पूर्ण करुण कहानी है, तो दूसरी ओर 'मालती-मेहता' के मित्रों का आमोद-प्रमोद, शिकार-थियेटर से पूर्ण विलासमय जीवन। निराशा और अंधकार से भरे हुए इस ग्रामीण जीवन की पार्श्वभूमि पर नागरिकता का विनोद, समाज-सेवा, शिक्षा-संस्कृति तथा वाणी-विलास सब अपने अहंकार के साथ खड़े हैं। उस अंधकार में इनका प्रकाश कोढ़ सा चमकता है। इन दो प्रकार के जीवनों को साथ साथ रख देने से एक के सहारे दूसरे की शक्ति और दुर्बलता के बोध में सहायता तो मिलती

है परंतु दोनों कहानियों के बीच अत्यंत क्षीण संबंधसूत्र होने के कारण कथा में प्रभाव की अन्विति का अभाव खटकता है। आपस में कोई निसर्ग संबंध न होने के कारण दोनों कहानियाँ स्पष्टतः चिपका-कर रखी हुई सी ज्ञान पड़ती हैं। यह उपन्यास का एक दोष है। कलाकार चाहे कितने ही प्रकार के जीवनों का चित्रण क्यों न करे परंतु उसको चाहिए कि वह उनके चुने हुए अंशों को लेकर कहानी को ऐसा सुगठित रूप दे कि वह एक अविच्छिन्न समष्टिवत् दिखाई पड़े और समस्त मिलकर एक ही प्रभाव पाठक पर डाले। इस दृष्टि से 'गोदान' का कथानक बिखरा सा लगता है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है 'गोदान' केवल वर्तमान का एक निष्पक्ष चित्र है। उसमें आगत 'भविष्य की संभावनाओं' की झाँकी नहीं कराई गई है। इसमें तो एक चरित्र को लेकर उसे अनेक परि-स्थितियों में डालकर तथा अन्य बहुत से पात्रों और चरित्रों के संसर्ग में लाकर समाज का एक जीवित चित्र निर्माण किया गया है। इसमें भी 'गबन' की भाँति कथा-वस्तु और चरित्र में भेद नहीं रह गया है। 'होरी' के चरित्र की थोड़ी सी विशेषता दिखाकर और उसे एक विशेष वातावरण में रखकर लेखक तटस्थ होकर स्वयं द्रष्टा बन जाता है। 'होरी' अपने जातिगत स्वभाव से ही नवीन परिस्थितियाँ उत्पन्न करता है और फिर बेबस सा स्वयं भी उनके अनुसार ही ढल जाता है। इस तरह परिस्थितियों की तरंगों में डूबता-उतराता, नियति के हाथों का खिलौना वह कृषक जीवन-यात्रा के अंतिम छोर तक चला जाता है। परंतु नगरवाले कथानक में यह बात इतनी स्पष्ट नहीं है। वहाँ पर परिस्थितियों की प्रतिक्रिया व्यक्ति पर इतनी सरलता से नहीं होती। राय साहब, मिर्जा खुरशेद तथा मेहता आदि प्रायः सभी में अपनी वैयक्तिकता है। परंतु यह वैयक्तिकता इतनी सबल भी नहीं है कि वह परिस्थितियों को तोड़-मरोड़ सके। गाँववाली कहानी का विकास

नगरवाली कहानी की अपेक्षा अधिक क्रमिक तथा संगत है। इसकी गंभीरता के सामने नगरवाली कहानी बहुत ही हल्की लगती है। ग्रामवाली कहानी की अपेक्षा नगरवाली कहानी में घटनाएँ कुछ अधिक हैं और एक-आध तो निरर्थक सी भी हैं। बेचारे खन्ना की मिल में बैठे-बिठाए आग लगा देने से कथा के विकास में कहाँ तक सहायता मिली समझ में नहीं आता। सिवाय इसके कि गोविंदी के दिन फिर जायँ—धन-मद से विरक्त होकर खन्ना उसे प्यार करने लगे—इस घटना का कोई उद्देश्य लक्षित नहीं होता। इसके अतिरिक्त नगर के सभी सभ्य नागरिकों के बीच "नंगी देह, केवल जाँघिए पहने हुए" कबड्डी के मैदान में डाक्टर मेहता और खुरशेद का उतर आना थोड़ा असंगत सा लगता है, परंतु वहाँ तो प्रेमचंद मेहता को पूरा 'फिलासफर' सिद्ध करने को हाथ धोकर पीछे पड़े थे।

गाँववाली कहानी का नायक 'होरी' है जो व्यक्ति नहीं वर्ग है। वह भारतीय किसान का एक जीता जागता चित्र है। उसमें गुण भी हैं दुर्गुण भी। वह अपने कुटुंब से प्रेम करता है, ईश्वर से डरता है, सामाजिक मर्यादा को स्वीकार करता है। दुनिया की मार ने उसे अनुभवी बना दिया है। वह जानता है कि, "जब दूसरों के पाँवों तले अपनी गर्दन दबी हुई है तो उन पाँवों को सहलाने में ही कुशल है।" उसकी विनम्रता इसी अनुभूति का परिणाम है, और इस विनम्रता के कारण ही वह इस गाँव के मुखिया लोगों का आजीवन उत्पीड़न सहता रहा। किंतु अत्यंत विषम परिस्थिति में भी उसकी ग्रामीण सहृदयता सजग रही। जिस समय रात को खेत पर आकर 'धनिया' समाचार देती है कि 'गोबर' द्वारा छोड़ी हुई गर्भवती 'झुनिया' उसके दरवाजे पर आश्रय माँगने आई है तो वह क्रोध से तमतमा उठता है और उसे हाथ पकड़कर दूर कर देने की बात कहता है। किंतु पैरों पर पड़ी हुई झुनिया से वह यही कह सका—"डर मत बेटी, डर मत।

तेरा घर है, तेरा द्वार है, तेरे हम हैं। आराम से रह।" इस झुनिया के लिए समाज के ठेकेदारों ने उस पर कम अत्याचार नहीं किए किंतु वह सब कुछ मूक भाव से सहता हुआ उसे ओट में किए रहा। जब तक कुटुंब संमिलित था वह अपने छोटे भाइयों 'हीरा' और 'शोभा' को पुत्रवत् पालता रहा, अलग हो जाने पर भी उनकी मर्यादा को अपनी ही मर्यादा समझता है। यह जानते हुए भी कि भाई ने ही उसकी गाय को विष दिया वह यह सहन नहीं कर सकता कि पुलिस उसके घर की तलाशी ले। क्योंकि सामाजिक दृष्टि से इसमें उसकी भी हेठी है। भाई के भाग जाने पर वह यथासाध्य अनाथा भावज की सहायता करता है। यदि उसे कष्ट होता तो दुनियावाले तो 'होरी' पर ही उँगली उठाते। किंतु उसमें स्वार्थ की मात्रा कम नहीं है। लोगों की दृष्टि बचाकर छोटे मोटे स्वार्थ साध लेना उसकी दृष्टि में अनुचित नहीं। "घर में दो चार रुपए पड़े रहने पर भी महाजन के सामने कसमें खा जाता था कि एक पाई भी नहीं है। सन को कुछ गीला कर देना और रूई में बिनौले भर देना उसकी नीति में जायज है।" अपने भाई के ही दो चार रुपए दबा लेने के लिए वह 'दमड़ी' बँसोर को ज्यादा लाभ देने को तैयार हो जाता है क्योंकि उस पर बाहरवालों की दृष्टि नहीं पड़ती। व्यक्तिगत सदाचार की अपेक्षा सामाजिक सदाचार का उसे अधिक ध्यान रहता है। इस 'होरी' का जीवन अथ से इति तक कठिनाइयों के साथ सतत संघर्ष में ही बीता है। वह एक दुख सुलझा नहीं पाता कि दूसरा उपस्थित हो जाता है। वंशमर्यादा की रक्षा में वह दिन दिन महाजनों के जाल में फँसता जाता है और एक दिन ऐसा आता है कि उसका घर-बार, हल-बैल सब कुछ उन्हीं के पेट में समा जाता है और 'महतो' मजदूर बन जाते हैं। ग्रीष्म की दुपहरिया में अपनी चिंता-जर्जर काया को लिए हुए यह मजदूर काम में लगा है। उस खोखले शरीर में लू लग गई और वह बीमार पड़ गया।

अवस्था बिगड़ जाने पर हीरा ने कहा—"भाभी, दिल कड़ा करो, गोदान करा दो दादा चले"। और कई आवाजें आईं 'हाँ गोदान करा दो यही समय है'। धनिया यंत्र की भाँति उठी, आज जो सुतली बेची थी उसके बीस आने पैसे लाई और पति के ठंढे हाथ में रखकर सामने खड़े दातादीन से बोली—"महाराज, घर में न गाय है, न बछिया, न पैसा। यही पैसे हैं, यही इनका गोदान है। और पछाड़ खाकर गिर पड़ी।"

यह है गोदान का अंत। "किसान मुर्दा है, और उसकी स्त्री मूर्च्छित, और सूदखोर दातादीन पुरोहित के रूप में अब भी हाथ पसारे सामने खड़े हैं।"

वास्तव में 'गोदान' में साहूकारों द्वारा किसान के शोषण की ही कहानी है। ये साहूकार भी कई प्रकार के हैं। एक हैं झिंगुरीसिंह। "वह पक्का कागज लिखाते थे, नजराना अलग लेते थे, दस्तूरी अलग, स्टांप की लिखाई अलग। उस पर एक साल का व्याज पेशगी काटकर रुपया देते थे। पचीस रुपए का कागज लिखो तो मुश्किल से सत्रह रुपए हाथ लगते थे।" इसी तरह पंडित दातादीन और लाला पटेश्वरी थे जिनके दिए हुए रुपए हैजे के कीटाणु की तरह फैलते थे। दुलारी सहुआइन अलग थी जो नोन, लकड़ी, तेल बेचती थी किंतु लेन-देन में बड़ी पक्की थी। साहूकार के अतिरिक्त जमींदार और सरकार के अत्याचार का भी गोदान में साधारण दिग्दर्शन कराया गया है। किंतु साहूकार, जमींदार और सरकार सबसे बढ़कर किसानों के सिर पर बिरादरी का भूत होता है। बिरादरी से पृथक् जीवन की वह कोई कल्पना ही नहीं कर सकता। शादी-व्याह मूड़न छेदन, जन्म-मरण सब कुछ बिरादरी के हाथ में है। बिरादरी उसके जीवन में वृक्ष की भाँति जड़ जमाए हुए है जिसकी नसें उसके रोम रोम में बिछी हुई हैं। गाँवों की यह बिरादरी भी खूब होती है। आप बड़े से बड़े

पाप-कर्म करते जाइए किंतु बिरादरी तब तक सिर न उठाएगी जब तक आप उसके द्वारा निर्धारित कृत्रिम मर्यादा का पालन करते जा रहे हैं। इसका एक उदाहरण है दातादीन का लड़का मातादीन। वह "एक चमारिन से फँसा हुआ था। इसे सारा गाँव जानता था; पर वह तिलक लगाता था, धर्म-संस्कार कराता था। उसकी प्रतिष्ठा में ज़रा भी कमी न थी। वह नित्य स्नान-पूजा करके अपने पापों का प्रायश्चित कर लेता था।"

जो इन कृत्रिम सामाजिक बंधनों के निर्वाह में तनिक भी चूका उसके लिए वह ग्रामीण समाज कठोर से कठोर दंड की व्यवस्था करता है। हमारे किसानों ने धर्म का एक बड़ा ही विकृत रूप अपनाया है। प्रेमचंदजी ने थोड़े से शब्दों में इस विकृत धर्म की बड़ी सुंदर व्याख्या की है—"हमारा धर्म है हमारा भोजन। भोजन पवित्र रहे फिर हमारे धर्म पर कोई आँच नहीं आ सकती। रोटियाँ ढाल बनकर अधर्म से हमारी रक्षा करती हैं।" किंतु अब धीरे धीरे गाँवों में भी उष्ण रक्त इन कृत्रिमताओं का विरोध करने लगा है। 'गोदान' के गोबर, मातादीन, सिलिया, झुनिया आदि इसके उदाहरण हैं।

प्रेमचंदजी में भारतीय संस्कृति के प्रति बड़ी श्रद्धा, बड़ा मोह था। उन्होंने अपने उपन्यासों में इसका जगह जगह प्रतिपादन किया है। भारतीय संस्कृति के प्रतिपादन के साथ ही साथ वे मर्यादा और आदर्शवाद की स्थापना में भी दत्तचित्त थे, क्योंकि उनका अटल विश्वास था कि किसी समाज और राष्ट्र की उन्नति तभी हो सकती है जब वह अपनी संस्कृति, सदाचार एवं आदर्श को सदैव अपनाने की चेष्टा करता रहे। वर्तमान भारतवर्ष में पूर्वी और पश्चिमी संस्कृतियों का संघर्ष चल रहा है। इस संघर्ष में हम बार बार, बाह्य प्रलोभनों की तड़क-भड़क से पूर्ण पश्चिमी सभ्यता की ओर लालायित होकर बढ़ते हैं परंतु उसकी अनुपयुक्तता और खोखलापन देखकर संकुचित हो जाते

हैं। आजकल शिक्षित भारतीय नारी-समाज में भी पश्चिम की अंधी नकल चल पड़ी है। वे भी पुरुषों से समान अधिकार का दावा करती हैं। इस दावे का उत्तर प्रेमचंद ने दर्शनाचार्य मिस्टर मेहता के मुँह से दिलाया है। स्त्रियों के साथ पुरुषों ने अन्याय किया है इस बात को स्वीकार करते हुए मि० मेहता कहते हैं—"अन्याय को मिटाइए, पर अपने को मिटाकर नहीं।" और भी—"संसार में सबसे बड़े अधिकार सेवा और त्याग से मिलते हैं और वह आपको मिले हुए हैं। × × × मुझे खेद है हमारी बहनें पश्चिम का आदर्श ले रही हैं, जहाँ नारी ने अपना पद खो दिया है और स्वामिनी से गिरकर विलास की वस्तु बन गई हैं। पश्चिम की स्त्री स्वच्छंद होना चाहती है, इसलिए कि वह अधिक विलास कर सके। हमारी माताओं का आदर्श कभी विलास नहीं रहा। उन्होंने केवल सेवा के आदर्श से सदैव गृहस्थी का संचालन किया है। पश्चिम में जो चीजें अच्छी हैं वह लीजिए। संस्कृति में सदैव आदान-प्रदान होता आया है। लेकिन अंधी नकल तो मानसिक दुर्बलता का ही लक्षण है। पश्चिम की स्त्री आज गृहस्वामिनी नहीं रहना चाहती। भोग की विदग्ध लालसा ने उसे उच्छृंखल बना दिया है। वह अपनी लज्जा और गरिमा को, जो उसकी सबसे बड़ी विभूति थी, चंचलता और आमोद-प्रमोद पर होम कर रही है। जब मैं यहाँ की सुशिक्षित बालिकाओं को अपने रूप या भरी हुई गोल बाहों का या अपनी नग्नता का प्रदर्शन करते देखता हूँ, तो मुझे उन पर दया आती है। उनकी लालसाओं ने उन्हें इतना पराभूत कर दिया है कि वे अपनी लज्जा की भी रक्षा नहीं कर सकतीं। नारी की इससे अधिक और क्या अधोगति हो सकती है।"* कहना न होगा कि 'गोदान' में मेम मालती को श्रीमती मालती देवी बनाकर प्रेमचंद ने पाश्चात्य संस्कृति के ऊपर भारतीय संस्कृति की विजय घोषित की है।

* देखिए 'गोदान'।

'गोदान' में हमें जगह जगह पाश्चात्य साम्यवाद की भी झलक मिलती है परंतु प्रेमचंद का साम्यवाद पाश्चात्य साम्यवाद से कुछ भिन्न है। यह साम्यवाद नहीं, बल्कि सामंजस्यवाद है। 'गोदान' का लेखक अपनी भारतीय संस्कृति की रक्षा करता हुआ एक सामान्य मानव-धर्म के विकास की ओर बढ़ रहा था और संभव था कि वह इस विकसित युगधर्म को लेकर हमारे सामने आता, परंतु दुर्भाग्य-वश वह हमें मझधार में छोड़ सहसा अंतर्धान हो गया।

'प्रेमा' से लेकर 'गोदान' तक के उपर्युक्त परिचय से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचंद ने आधुनिक जीवन की अधिक से अधिक समस्याओं तथा परिस्थितियों के चित्रण को अपनी कला का उपकरण बनाया। परिवार की छोटी से छोटी घटनाओं को लेकर समाज और देश की बड़ी से-बड़ी समस्याओं को मूर्तरूप देने का उन्होंने प्रयास किया और उसमें सफल भी रहे। इस सफलता का प्रधान कारण उनकी अलौकिक पर्यवेक्षण-शक्ति तथा सांसारिक अनुभव की प्रचुरता है। उनकी सूक्ष्मदृष्टि ने अपने समाज और देश के प्रत्येक पहलू को देखा है और उसमें पलनेवाले मानव-स्वभाव के एक एक अंग को भली भाँति पहचाना है। परंतु अन्य पक्षों की अपेक्षा ग्राम और ग्रामीणों के चित्रण में उनकी प्रतिभा विशेष उद्दीप्त हुई है। ग्राम्य जीवन का एक एक कोना इन्होंने झाँक डाला और सभ्य कहलानेवाले संसार से दूर इन सरल कृषकों की मनोवृत्तियों के जैसे सुंदर चित्र इनकी रचनाओं में मिलते हैं वैसे शायद ही कहीं मिलें। स्वयं ग्रामीण होने के नाते—और उससे भी बढ़कर मनुष्य होने के नाते मानवता के प्राण-स्वरूप इन दलित किसानों के साथ उनकी पूरी सहानुभूति थी। परंतु रंकों की झोपड़ी तक ही उनकी दृष्टि को विश्राम न मिलता था उससे आगे बढ़कर उसका विस्तार राजमहलों तक भी होता था। यद्यपि दूर से परिचय होने के कारण इन राजमहलों के चित्रण में वह

सहज सौंदर्य नहीं जो प्रतिदिन के सहचर छप्परों और झोपड़ों में, तो भी, उनमें पर्याप्त यथातथ्यता और मनोमोहकता होती है। अपेक्षाकृत इन्हें निम्न और मध्य वर्ग के चित्रण में अधिक सफलता मिली है।

अपनी कला में इन जन-मन-परिचित उपकरणों का प्रयोग करने के कारण ही इनकी कथा-वस्तु से हमारी उत्सुकता में कोई नूतन आवेग नहीं आता। उसकी शांत, सरल गति में कहीं कोई रुकावट, कोई रहस्यमय उलझन नहीं होती; मानों वह हमारे अनुभव की ही अनुगामिनी हो। इनकी वस्तु-विन्यास-प्रणाली अलौकिक रंजन-शक्ति-संपन्न होती है। छोटी से छोटी घटना या स्थिति का वर्णन भी पूर्ण सजीव होता है, क्योंकि ये उसके बाह्य और अभ्यंतर दोनों का ही मार्मिक विश्लेषण करते हैं। ये घटनाएँ चाहे नई हों या पुरानी, परिचित हों या अपरिचित परंतु इनके उपन्यासों में उनका विकास बड़ा ही क्रमिक, संगत और सबद्ध होता है। एक और बात जो प्रेमचंद की विशेषता है वह है साधारण को अलौकिकता प्रदान करना, कुरूपता में सुरूपता भरना। "सुनते हैं पारस लोहे को छूकर सोना बना देता है परंतु इनकी प्रतिभा का स्पर्श कर तो मिट्टी भी सोना हो जाती है।" प्रतिभा के इसी अविचल प्रभाव के कारण इनकी वस्तु-विन्यास-कला सर्वथा दोष-शून्य न होकर भी बड़ी ही प्रौढ़, मार्मिक और मनोरंजक होती है।

वस्तु-विन्यास अथवा घटनाओं की इस संघटना में प्रेमचंदजी के पात्रों का बहुत बड़ा हाथ होता है। इसी लिए उनके उपन्यासों को न तो चरित्र-प्रधान कहा जा सकता है न घटना-प्रधान। यद्यपि चरित्र विवशता-पूर्वक घटनाओं के साथ आबद्ध हैं फिर भी उनका मनोबल इतना प्रबल है कि घटनाओं को साथ लिए चलता है। परिस्थितियों का मानव पर क्या प्रभाव पड़ता है तथा मानव स्वयं किस तरह नई

परिस्थितियों की सृष्टि करता है इसका प्रेमचंदजी ने बहुत सुंदर आभास दिया है।

प्रेमचंदजी की यह चरित्र-सृष्टि पूर्ण सजीव होती है। उनके पात्र कहीं बेगाने देश के वासी नहीं, हमारे ही दुःख-संताप-पूरित संसार के वासी होते थे। मानव की दुर्बलता-सबलता सभी की इन कल्पना चित्रों में प्राण-प्रतिष्ठा करके इस कलाकार ने अपनी सृष्टि को हमारे जगत के बहुत निकट ला दिया है। वे हमारे चिर परिचित सहचर हैं, सुख-दुख के साथी हैं। उनके सामने हृदय खोलने में हमें बिलकुल संकोच नहीं होता, क्योंकि वे हमारे बीच के ही हैं। रानी 'देवप्रिया' जैसी अलौकिक चरित्र-सृष्टि करने की क्षमता भी प्रेमचंद में है परंतु साथ ही वे उसे लौकिक गुणों से भूषित करना भी नहीं भूलते। इसीसे असाधारण होकर भी वे साधारण हो जाते हैं, दूर होकर भी निकट। परिस्थितियों के घातप्रतिघात में ढले हुए इनके चरित्र बड़े ही सुंदर होते हैं, बड़े ही सुडौल।

इन पात्रों को चित्रित करने की कला भी प्रेमचंद की अपनी है। वे इन्हें यकायक लाकर हमारे सामने खड़ा नहीं कर देते। उनके एक एक अंग को धीरे धीरे अनावृत्त करते चलते हैं। उनकी कुशल छेनी की एक एक चोट से क्रमशः इनकी मूर्तियों के रूप का उभार होता है। किसके चरित्र का कौन सा अंग दुर्बल है, किसकी कैसी मनोवृत्ति है, कलाकार के नेत्रों से वे छिपे नहीं होते और उसके अनुसार वह उनमें रंग भी भरता है। मानव-मन की प्रवृत्तियों के भीतर जितनी पैठ प्रेमचंद की है उतनी कम लोगों की होगी। इनके चरित्रों का हमारे हृदय और आचरण दोनों पर प्रभाव पड़ता है। वे हमारी सद्वृत्तियों को उत्तेजित, हमारी रुचि को परिष्कृत तथा हमारी भावनाओं को आंदोलित करते हैं।

चरित्र-निर्माण में कथोपकथन का बहुत महत्त्व होता है और

प्रेमचंदजी कला के इस रहस्य से अनभिज्ञ भी नहीं हैं। प्रेमचंद के हाथों औपन्यासिक कथोपकथन का सौंदर्य खूब निखर आया। उनके पात्रों की बातचीत जितनी स्वाभाविक, उपयुक्त और चुस्त होती है उतनी कम उपन्यासकारों के पात्रों में मिलेगी। उनके लंबे से लंबे कथोपकथन भी सरस और सजीव होते हैं। समाज के निम्न से लेकर उच्च वर्ग के सभी प्रकार के मनुष्यों से पूर्ण परिचित होने के कारण इनके पात्रों की बातचीत में कोई कमदुरूहता का अनुभव कर ही नहीं सकता। सच तो यह है कि कथोपकथन की चुस्ती और सरसता ही प्रेमचंद के उपन्यासों का प्राण है।

कथोपकथन की इस सफलता का प्रधान कारण है प्रेमचंदजी का भाषा पर अधिकार। उनकी आरंभिक कृतियों में अवश्य थोड़ी बहुत भाषा की शिथिलता मिलती है परंतु थोड़े ही दिनों बाद उनमें वह तेजस्विता और सरलता, वह भावव्यंजकता और माधुरी आ गई जो हिंदी-साहित्य में एक नई बात थी। उर्दू के साधारण शब्दों के मेल से बनी हुई जिस भाषा का प्रयोग प्रेमचंद ने किया उसमें अपनी गति है, अपना प्रवाह है और वह जन-मानस के दुकूलों को छूती हुई चलती है। पात्रों की बातचीत में अधिकतर उन्होंने पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग करने का ही प्रयास किया है। हिंदू-घरों में हिंदी और पढ़े-लिखे मुसलमानों से उर्दू ही बोलवाई गई है। गाँव का चमार अपने गाँव की भाषा बोलता है चाहे कलकत्ते से लौटकर भले ही वह 'बिलायती बोल' बोलने लगे। प्रेमचंद की भाषा में चुस्ती भी है सरसता भी, सादगी भी है शहजादगी भी, सहज माधुर्य भी और अलंकृत चमक-दमक भी। लोक-प्रचलित सुंदर मुहावरों तथा अनुभूतिमूलक उक्तियों की प्रचुरता ने इनकी भाषा-शैली को जो गरिमा, जो वैभव प्रदान कर रखा है वही इनके साहित्य को अमर कर देने के लिए पर्याप्त है।

साहित्य के क्षेत्र में कला के लिए कला मानकर उसे बिलकुल

निरर्थक ठहरा देने की अपेक्षा प्रेमचंद ने जीवन के लिए ही कला की अभिव्यक्ति को स्वीकार किया और इसी लिए केवल मनोरंजन से ऊपर उठाकर उसे आत्मपरिष्कार का साधन बनाया। उनके अनुसार "साहित्यकार का काम केवल पाठकों का मन बहलाना नहीं है। यह तो भाटों और मदारियों, विदूषकों और मसखरों का काम है। साहित्यकार का पद इससे कहीं ऊँचा है। वह हमारा पथ-प्रदर्शक होता है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है, हममें सद्भावों का संचार करता है, हमारी दृष्टि को फैलाता है। कम से कम उसका यही उद्देश्य होना चाहिए।"* उपर्युक्त आदर्श को दृष्टि में रखकर ही प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों को सेवा, समत्व, सहानुभूति, आत्मत्याग, देशानुराग आदि उच्च भावनाओं के प्रतिपादन का साधन बनाया। उनके अधिकतर पात्र प्रलोभनों में पड़कर भी उन्हें परास्त करते हैं और किसी विजयी सेनापति की भाँति शत्रुओं का संहार करके विजयनाद करते हुए निकलते हैं। प्रायः सभी उपन्यासों के अन्त में सज्जनता, विवेक, पुरुषार्थ आदि की ही विजय घोषित की गई है और इस तरह सभी एक निश्चित आदर्श की ओर संकेत करते हैं।

परंतु यह ध्यान रखना चाहिए कि आदर्श की झोंक में पड़कर उन्होंने प्राणविहीन देवताओं की सृष्टि नहीं की है। उन्होंने यथार्थ को ही आदर्श की ओर उभारने की कोशिश की। उनके साहित्य की यह खूबी नहीं कि उनका आदर्श अंतिम है अथवा सर्वथा स्वर्गीय है। उनकी विशेषता तो यह है कि उस आदर्श के साथ व्यावहारिकता का असामंजस्य नहीं। उनके देवता में भी प्राणों का स्पंदन होता है, हृदय की गति होती है। यथार्थ के पैरों खड़ा होकर ही उनका आदर्श मानवता के दर्शन करता है। मानव-मन की दुर्बलताओं के भीतर से भी सत्य-सुंदर को खोज निकालने में उपन्यासकार की प्रतिभा होती है।

* देखिए प्रेमचंद का उपन्यास नामक—निबंध।

इस प्रतिभा की प्रेमचंद में कमी न थी। चरित्र को सजीव बनाने के लिए उनकी दुर्बलताओं का दिग्दर्शन कराना वे हानिकर नहीं समझते थे ये ही कमजोरियाँ तो उस चरित्र को मनुष्य बना देती हैं अन्यथा निर्दोष चरित्र तो देवता हो जायगा और उसे हम समझ ही न सकेंगे। इस तरह हम देखते हैं कि प्रेमचंद ने लोक में रहते हुए भी लोकातीत होने की साधना की थी। उन्हीं के शब्दों में हम उन्हें 'आदर्शोन्मुख यथार्थवादी' कह सकते हैं।

लोग प्रायः शरत् और रवींद्र से प्रेमचंद की तुलना कर दिया करते हैं और कोई एक को बड़ा ठहराता है, कोई दूसरे को। प्रायः लोग कहते हुए पाए गए हैं कि बँगला-साहित्य हृदय को अधिक छूता है, उसमें अधिक तीव्रता होती है, वह मन को अधिक अटकाए रहता है। यह बात कुछ हद तक ठीक भी है। इसका प्रधान कारण यह है कि बँगला-साहित्य में स्त्री-भावना अधिक है और प्रेमचंद में उसकी कमी है। शरत् और रवींद्र दोनों ही महान हैं परंतु प्रेमचंद की महत्ता और ही तरह की है। रंगभूमि में प्रभुसेवक की कविता की सोफी द्वारा आलोचना कराकर प्रेमचंद ने अपनी स्थिति पूरी तरह स्पष्ट कर दी है। सोफी कहती है—"तुम्हारी कविता बहुत उच्च कोटि की है। मैं इसे सर्वांग-सुंदर कहने को तैयार हूँ। लेकिन तुम्हारा कर्तव्य है कि अपनी इस अलौकिक शक्ति को स्वदेश-बंधुओं के हित में लगाओ। अवनति की दशा में शृंगार और प्रेम का राग अलापने की जरूरत नहीं होती, इसे तुम भी स्वीकार करोगे। सामान्य कवियों के लिए कोई बंधन नहीं है—उन पर कोई उत्तरदायित्व नहीं है; लेकिन तुम्हें ईश्वर ने जितनी ही महत्त्वपूर्ण शक्ति प्रदान की है उतना उत्तरदायित्व भी तुम्हारे ऊपर ज्यादा है।"* सचमुच ही प्रेमचन्दजी के ऊपर बहुत बड़ा उत्तरदायित्व था। वे राष्ट्रभाषा हिंदी के प्रमुख उपन्यासकार थे। उनकी रचनाएँ हिमालय से कन्याकुमारी तक पढ़ी जायँगी। अतएव

* देखिए 'रंगभूमि', पृष्ठ १५७।

यह आवश्यकता थी कि उसमें जीवन की अधिक से अधिक मार्मिक दशाओं तथा समाज और देश की अधिक से अधिक समस्याओं का समाहार हो। वंग-साहित्य तथा प्रेमचंद-साहित्य में वही अंतर है जो सूर-साहित्य और तुलसी-साहित्य में है। एक में जीवन के कुछ चुने हुए सरस पक्षों का ही दिग्दर्शन है और दूसरे में संपूर्ण जीवन। मानव-मंगल के लिए कौन अधिक उपयोगी है इसे समझाने की आवश्यकता नहीं है। प्रेमचंद के उपन्यास हमारी राष्ट्रीय जागर्ति के इतिहास हैं। कालांतर में यदि इस समय का इतिहास लुप्त हो जाय और इनकी रचनाएँ बची रह सकें तो इन्हीं के आधार पर विचारशील निर्णायक देश की सामाजिक एवं राष्ट्रीय जागर्ति का व्यापक आभास प्राप्त कर सकता है।

जयशंकर 'प्रसाद'

जिस दिन हिंदी-जगत् के समक्ष कवि 'प्रसाद' का कंकाल नामक उपन्यास आया उस दिन किंचित आश्चर्य के साथ लोगों ने जाना अरे 'प्रसाद' जी उपन्यासकार भी हैं! उसी दिन लोगों पर विदित हो गया कि भावुक 'प्रसाद' अतीत के गड़े मुर्दे उखाड़ने में ही कुशल नहीं है, बल्कि वे वर्तमान समाज के जर्जर कंकाल से भी परिचित हैं। अभी तक लोगों ने उन्हें कवि, नाटककार या कहानी-लेखक के ही रूप में देखा था। उनकी वाणी ने या तो भारत के अतीत गौरव का अनुकीर्तन किया था या उनकी अतृप्त 'कल्पना बाला' ने इस जगत की, इस युग की उपेक्षा कर किसी 'स्वर्णिम संसार' की रचना की थी। संसार की आँखों के सामने बिछा हुआ वर्तमान उनके प्राणों को मोह न सका था। परंतु 'कंकाल' की सुंदरता और सजधज ने यह प्रकट कर दिया कि इस कुरूप वर्तमान को भी वे भूले नहीं हैं; उसके नग्न सत्य और भयानक सौंदर्य के लिए भी उनके हृदय में स्थान है। इस बहुमुखी प्रतिभा की सुंदरता देख लोग आश्चर्य-विमुग्ध हो रहे। इसके बहुत दिनों बाद जब भाव-गगन में उन्मुक्त विचरण करनेवाली 'तितली' साहित्य-उपवन की डाल

पर आ बैठी तब तो लोगों की टकटकी बँध गई। इसके बहुरंगी उन्मुक्त परों को देख लोगों ने 'प्रसाद' की विधायक कल्पना का अनुमान किया। ऐसा मालूम पड़ता है कि उस अलौकिक प्रतिभा को यह सह्य न था कि साहित्य का कोई कोना उससे अछूता रह जाय।

'गोदान' की विवेचना करते हुए जिस विकृत सामाजिक सदाचार का उल्लेख किया गया है उसके प्रति उत्कट असंतोष 'प्रसाद' के उपन्यासों की भी विशेषता है। भारतीय सभ्यता और संस्कृति के अभिमानी, धर्म के मूलतत्त्व के ज्ञाता, दर्शनों और उपनिषदों के पंडित, करुणा और समवेदना की मूर्ति 'प्रसाद' हिंदू-समाज में प्रचलित धर्म के थोथेपन और मिथ्या आडंबर तथा उसके दुष्परिणामों को देख मौन न रह सके और उसकी, कटु पर यथार्थ, आलोचना करने के लिए उठ खड़े हुए। 'कंकाल' नामक उपन्यास का आरंभ ही हरद्वार की पावन धर्मभूमि से होता है। धर्म नाम की जो एक दृढ़ चारदीवारी हिंदू समाज ने खींची है उसके पीछे कितना पाप-ताप है, कितना अन्याय-अत्याचार है तथा कितने नवविकसित निर्दोष कुसुमों के जीवन को मिथ्या विश्वास और परंपरागत रूढ़ एवं जर्जर विचारों के आघातों से असमय में ही धूल में मिल जाना पड़ता है इन्हीं सबका चित्रण इस उपन्यास का विषय है। 'मंगलदेव' अपने हृदय में खूब जानता है कि 'तारा' प्रभात-कुसुम की भाँति अनाघ्रात और निर्मल है। उसके हृदय में साहस और सदाशयता भी यथेष्ट है परंतु एक तुच्छ विचार की गुलामी कि 'तारा' दुश्चरित्रा माँ की संतान है उसके सारे साहस तथा प्रणय को छिन्न भिन्न कर देती है, यद्यपि माँ की यह काली करतूत भी उसी समाज का अपराध है स्वयं 'मंगलदेव' जिसका एक अंग है। बाल-विधवा 'घंटी' के हृदय में भी प्रेम की कितनी तीव्र उत्कंठा है। इसके पहले कि वह यह जानने के योग्य हो कि पति नाम की भी कोई प्यार करने की वस्तु होती है उस पर वैधव्य का अभिशाप लाद दिया जाता

है। यदि उसको जीवनोत्थान का अवसर दिया जाता तो प्रणय-माधुरी और हास से भरी हुई यह रसिक व्रजबाला कैसी सुंदर गृहस्थी का विस्तार करती। इधर 'विजय' का हृदय भी कितना सरल और भोला है। 'यमुना' बनी हुई 'तारा' पर उसका स्नेह भी अपार है पर उसके प्रेम में 'विजय' को निराशा होती है। वह 'घंटी' की ओर उन्मुख हो जाता है परंतु समाज अपने विद्रोहियों को किसी करवट चैन लेने देने को तैयार नहीं। 'विजय' के सरल जीवन का जैसा करुण अंत 'प्रसाद' जी ने दिखाया है वह अवश्य ही समाज की निर्ममता पर तीव्र आघात है। इस सब संघर्ष और नाश का अंत 'प्रसाद' ने 'भारत संघ' नाम की संस्था बनाकर कर दिया है, जहाँ वर्ण-व्यवस्था कर्मों के अनुसार है, जहाँ स्त्रियों को संमान प्रदान किया जाता है और भूले-भटके भाइयों को फिर से गले लगाया जाता है।

'कंकाल' में प्रसाद' जी ने जिस समाज का चित्रण किया है वह प्रेमचंद के समाज से सर्वथा भिन्न है। प्रेमचंद का आदर्श इस वर्ण-संकरी सृष्टि की ओर आँखें उठाने में भी संकोच करता। वास्तव में प्रेमचंद की दृष्टि दिन के प्रकाश में दिखलाई देनेवाले समाज की ऊपरी सतह तक ही रह गई। इस बाह्य समाज के भीतर कितना अँधेरा है, कितना खोखलापन है, उच्च अट्टालिकाओं में कितना पाप ताप कैद है इसकी ओर उन्होंने दृष्टि ही न दौड़ाई। या यह कह सकते हैं कि उस विभीषिका को देखकर भी उन्होंने अनदेखी कर दी, क्योंकि उसे जनवर्ग के सामने लाना वे मंगलमय नहीं समझते थे। तो फिर इस अमंगल को 'प्रसाद' ही क्यों लोक-मानस के समक्ष लाए? जीवन का यह कुत्सित पक्ष दिखाकर उनकी कला ने समाज का कौन सा हित किया? 'कंकाल' के द्वारा क्या जनता की कुरुचि को प्रोत्साहन नहीं मिलता? क्या उन पर भी वही आक्षेप नहीं किया जा सकता जो 'दिल्ली का दलाल' के लेखक पर किया जा सकता है?

यह तो हमें मानना ही पड़ेगा कि 'कंकाल' सबके पढ़ने की वस्तु नहीं है। अविकसित मन पर इसकी बुरी छाप पड़ सकती है, वैसे ही जैसे कच्चे गीले घड़े पर। लेकिन 'प्रसाद' जी ने सबके पढ़ने, सबके समझने की वस्तु प्रस्तुत ही कहाँ की है? उनकी कला-कृतियाँ संस्कृत मन और भावुक हृदय के ही समझने और रस लेने की वस्तु हैं। वे मानों चिल्लाकर कहती हैं—"मुझे समझना चाहते हो तो ऊँचे उठो। मैं नीचे तुम्हारे पास नहीं आ सकती।" परंतु 'कंकाल' और 'दिल्ली का दलाल' जैसे उपन्यासों में आकाश-पाताल का अंतर है। 'प्रसाद' जी के वर्णन कहीं भी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते। सारे उपन्यास में कहीं भी वासनामय कुत्सित चित्रों का नग्न प्रदर्शन नहीं मिलता। उनकी भाषा में गंभीरता और संयम का प्रवाह है। उन्होंने समाज पर व्यंग्य के छींटे डालने के लिए 'कंकाल' की रचना नहीं की। बल्कि उसके इस दलित, दुखी और कलंकित अंग को चित्रित कर मानों वे अभिमानी समाज को चेतावनी दे रहे हैं—"देखो, समाज के इस पतित-दलित अंग की ओर भी देखो। तुम्हारी अवहेलना से कितनी महत्ता नष्ट हुई जा रही है। जिनको तुम पतित कहकर ठुकराते हो उनको सहानुभूति की दृष्टि से देखो, तो मालूम होगा कि वे उनसे भी महान हैं। जिन्हें तुम पतित समझते हो उनमें जीवनोत्थान की आकांक्षा भी है परंतु तुम्हारे अत्याचार ने उनकी उन्नति के सब अवसर छीन लिए हैं। मानव की सहानुभूति से उसकी परिस्थितियों और दुर्बलताओं को समवेदना के साथ समझने में ही, मानव का उद्धार होगा। दैव ने विपत्ति नहीं बनाई है, समाज ने स्वयं अपने लिए काँटे बो लिए हैं, जिनको वह स्वयं ही नष्ट भी कर सकता है।" यही 'प्रसाद' जी का आशावादी संदेश है।

परंतु 'कंकाल' में चित्रित जीवन एकांगी सा लगता है। जीवन में सोने के दिन और स्याही की रातें दोनों ही तो लिपटे हुए हैं, फिर

उसकी कालिमा का चित्रण करके क्या जीवन को छोटा बनाना नहीं है ? 'कंकाल' की यह त्रुटि संभवतः स्वयं 'प्रसाद' जी को भी खटकी और इसी लिए उनकी 'तितली' इस अँधेरी दुनिया से उड़कर खुली हवा और प्रकाश में आई। 'तितली' में किया गया विषय विस्तार हमारे अधिक समीप है। 'कंकाल' की दुनिया महंतो के अखाड़ों और नगर के गलीवाले घरों तक ही परिमित थी। 'तितली' उड़कर खेतों और खलियानों में भी आई। संभवतः प्रेमचंदजी के ग्रामीण चित्रों की मनोहरता देखकर 'प्रसाद' जी भी इस लोभ को संवरण न कर सके और उनकी कल्पना भी उसी ओर दौड़ पड़ी।

'तितली' उनका द्वितीय उपन्यास है। उसके भीतर भारतीय नारीत्व और सतीत्व को मूर्तिमान करके उन्होंने भारतीय दांपत्य जीवन के माधुर्य और स्निग्धता के बड़े ही सुंदर चित्र अंकित किए हैं। जीवन की स्वर्णिम घड़ियों में ही प्रियतम 'मधुवन' से बिछुड़कर 'तितली' संसार के अंधड़ के झकोरों से छिन्न भिन्न होकर खो नहीं गई बल्कि उस 'मधुवन' और अतीत की उन थोड़ी सी मधुमय घड़ियों की स्मृति को हृदय में छिपाए हुए कर्मसंग्राम में जुटी रही और उस दिन की प्रतीक्षा करती रही जब उसका देवता आएगा और उसकी इस तपस्या को वरदान के वैभव से भर देगा। 'प्रसाद' जी के हृदय की नारी-भावना 'तितली' के रूप में अवतीर्ण हुई है। 'तितली' के साथ ही साथ 'शैला' को चित्रित करके उन्होंने भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों के संस्कारों की बड़ी सुंदर तुलना की है और 'शैला' का 'इन्द्रदेव' से परिणय कराकर यह दिखला दिया है कि सच्चा प्रेम देश, जाति और वर्ण सबके बंधनों से ऊँचा है। 'इंद्रदेव' के परिवारवालों की कूटनीति और असंतोष का चित्रण करके 'प्रसाद' ने आधुनिक संमिलित कुटुंब की विषमताओं का सुंदर दिग्दर्शन कराया है। 'तितली' उपन्यास को देखकर ऐसा पता चलता है कि 'प्रसाद' पर प्रेमचंद का रंग चढ़ चला

था। प्रेमचंद के प्रायः सभी प्रिय पक्षों का समाहार 'तितली' में हो गया है। केवल एक सत्याग्रह आंदोलन मात्र छूट गया है।

परंतु 'प्रसाद' जी के ऐतिहासिक नाटकों की भाँति 'तितली' में भी कथानक की बहुलता हो गई, जिसके कारण चरित्रों के विकास का पूरा अवकाश नहीं मिलता। ऐसा मालूम पड़ता है कि इस एक उपन्यास में ही वे भारतीय वातावरण के अधिक से अधिक चित्र रँगने के प्रयास में थे। भारतीय ही नहीं, अँगरेजी वातावरण और अँगरेजों के भी खंडचित्र देने का प्रयास किया गया है। परंतु विषय के इसी विस्तार ने 'तितली' के अधिकतर चित्रों को अपूर्ण ही रखा। यद्यपि इसके पात्रों के चरित्र-चित्रण में 'प्रसाद' को यथेष्ट सफलता मिली है परंतु चरित्र को मूर्तिमान कर देनेवाली प्रेमचंद की सी सूक्ष्म प्रतिभा का इसमें अभाव खटकता है। 'प्रसाद' जी ने चरित्रों के भीतर इतना पैठकर नहीं देखा जितना प्रेमचंदजी ने देखा।

कथा-वस्तु का चयन, उसकी संघटना तथा निर्वाह की दृष्टि से 'प्रसाद' जी के उपन्यास निर्दोष ठहरते हैं। प्रेमचंद के विशालकाय उपन्यासों—विशेषतया 'रंगभूमि', 'प्रेमाश्रम' और 'कर्मभूमि'—में कहीं कहीं ऐसा लगता है कि अनावश्यक कलेवर-वृद्धि की गई है। 'प्रसाद' में यह निरर्थक भरती की प्रवृत्ति नहीं मिलती। वे उतना ही कहते हैं जितना कहना चाहिए और बड़े ही नाटकीय ढंग से उपयुक्त स्थल पर कहानी शेष भी कर देते हैं। कथानक का उत्थान, विकास और उसकी समाप्ति सभी बड़े क्रमिक तथा कलात्मक होते हैं। नाट्यकला के नियमों के पंडित 'प्रसाद' ने अपने औपन्यासिक कथानकों का विस्तार भी बड़े ही वैज्ञानिक ढंग से किया है। क्या 'कंकाल' क्या 'तितली' दोनों ही का प्रभाव हमारे मन पर बड़ा पूर्ण और स्थायी पड़ता है। 'गोदान' की भाँति कथा के विभिन्न अंगों में सामंजस्य का अभाव कहीं नहीं खटकता। यह अवश्य है कि 'कंकाल' में गोस्वामी कृष्ण-

शरण तथा 'तितली' में बाबा रामनाथ के द्वारा संस्कृति-प्रतिपादन या धर्म-विषयक लंबे लंबे उपदेशों के कारण कहानी की गति में थोड़ा व्याघात पहुँचता है। परंतु ऐसे स्थल इने-गिने ही हैं।

'प्रसाद' जी के पात्रों पर जब हमारी दृष्टि जाती है तो हम देखते हैं कि इनके चरित्र प्रेमचंदजी के चरित्रों की अपेक्षा एक बड़े समाज से लिए गए हैं और यद्यपि प्रेमचंद जैसी चरित्र-विवेचना की सूक्ष्मता नहीं है, परंतु उनको विकास-स्वातंत्र्य अधिक दिया गया है। फिर भी इनके पात्रों में प्रेमचंद के पात्रों की अपेक्षा स्वाभाविकता कम और काल्पनिकता अधिक मिलती है। यह बात 'तितली' में अधिक लक्षित होती है। इसके 'इंद्रदेव', 'शैला', 'मधुवन', 'तितली' आदि जितने भी प्रधान पात्र हैं उन सभी में भावुकता की प्रधानता दिखाई पड़ती है। कवि 'प्रसाद' के पात्रों का ऐसा होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। प्रेमचंद और 'प्रसाद' में चरित्र-संबंधी जो दूसरा अंतर स्पष्ट लक्षित होता है वह यह है कि 'प्रसाद' के अधिकतर पात्र व्यक्ति होते हैं और प्रेमचंद के वर्गों के प्रतीक। जहाँ पर प्रेमचंद व्यक्तियों का निर्माण करने चलते हैं वहाँ वे कुछ हल्के पड़ जाते हैं। यद्यपि 'सूरदास' जैसे कुछ महान व्यक्तियों का भी उन्होंने निर्माण किया है परंतु उनकी कल्पना वर्गगत पात्रों के चित्रण में ही अधिक उद्दीप्त हुई है। परंतु 'प्रसाद' उतनी सजीवता के साथ वर्गों के प्रतीकों का निर्माण नहीं कर पाए हैं। उनके प्रधान पात्रों में प्रायः अपनी वैयक्तिक विभूतियाँ होती हैं और उन्हीं के द्वारा हम उन्हें (पात्रों को) जानते-पहचानते हैं।

कुछ कला-पारखी 'प्रसाद-स्कूल' और 'प्रेमचंद-स्कूल' की चर्चा किया करते हैं। इस स्कूल-विभाजन का मूल आधार दृष्टिभेद ही हो सकता है, क्योंकि दोनों कलाकारों की कृतियों में कोई विशिष्ट रूपभेद अर्थात् रचना-पद्धति की विभिन्नता नहीं पाई जाती। दोनों की शैली में अवश्य कुछ अंतर है। 'प्रसाद' में प्रेमचंद की अपेक्षा कुछ गंभीरता

और कवित्व का पुट अधिक है परंतु इस क्षीण आधार को ही लेकर 'स्कूल' खड़ा कर देना युक्तियुक्त नहीं लगता। अतएव केवल दृष्टिभेद का आधार ही बच रहता है। संकीर्ण अर्थ में प्रेमचंद या 'प्रसाद' कोई भी यथार्थवादी नहीं। दोनों में से एक भी नग्न यथार्थवाद का समर्थक नहीं। दोनों अधिकतर जीवन को उसके वांछित रूप में ही दिखाते हैं। यदि दोनों में कुछ और भेद है तो दृष्टि में नहीं केवल मात्रा में। प्रेमचंद आदर्श की ओर अधिक बढ़ जाते हैं और सदाचार-प्रतिपादन की तीव्र भावना से प्रेरित होकर कहीं स्पष्ट उपदेशक बन बैठते हैं, परंतु 'प्रसाद' में ऐसा आग्रह ही नहीं मिलता। वे पूरी तरह कला का कर्म समझते हैं और उसका अनुसरण करते हैं। उनकी कृतियों में केवल आदर्श की ओर संकेत मात्र होता है। पाठक की वृत्तियों को डंडा लेकर खदेड़ने का प्रयास 'प्रसाद' ने कहीं नहीं किया है। इन छोटे छोटे भेदों के अतिरिक्त हमारे साहित्य के इन दो महान कला-कारों में कोई मौलिक अंतर नहीं। दोनों ही मानवता के प्रेमी थे और मानव-मंगल के लिए समय की आवश्यकताओं के अनुसार सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन चाहते थे। अतएव एक ही नगर के इन सहचरों को दो अलग अलग 'स्कूलों' में न बिठाकर इन्हें काशी के सहयोगी कलाकार कहना ही अधिक संगत होगा।

'प्रसाद' जी के दोनों उपन्यासों को पढ़कर उनकी कुछ विशेषताएँ स्पष्ट लक्षित होती हैं। सबसे पहिली बात जो 'प्रसाद' के उपन्यासों में हमें आकर्षित करती है वह यह है कि इस क्षेत्र में आकर उन्होंने अपने नाटकीय और काव्य-भाषा की कृत्रिमता को बिलकुल भुला दिया है। उनके ऐतिहासिक नाटकों की भाषा बड़ी क्लिष्ट और बोझिल है परंतु 'कंकाल' और 'तितली' दोनों में ही भाषा अजनबीपन हटाकर वास्तविक जीवन के अधिक निकट आ गई है। देखिए—

"गुलेनार कुछ बोला ही चाहती थी कि अम्मा बीच ही में बोल

उठी—अपने अपने भाग होते हैं बाबू साहब, एक ही बेटी, इतने दुलार से पाला-पोसा फिर भी न जाने क्यों रूठी रहती है—कहती हुई बुड्ढी के दो बूँद आँसू भी निकल पड़े। गुलेनार की वाक्‌शक्ति जैसे बंदी होकर तड़फड़ा रही थी। मंगल ने कुछ कुछ समझा। कुछ उसे संदेह हुआ, परंतु वह सम्हलकर बोला, सब आप ही ठीक हो जायगा अभी अल्हड़पन है।"*

"अहा! तुम तो मेम और साहब दोनों ही हो न? अच्छा यह तो बताओ, तुम्हारे ठहरने का प्रबंध करूँ? आज रात को तो मोटर से शहर लौट जाने न दूँगी, अभी माँ पूजा कर रही हैं, एक घंटे में खाली होंगी, फिर घंटों उनको देखने में लग जायगा। बजेगा दस, और जाना है तीस मील! आज रात तो तुमको रहना ही होगा।"†

दूसरी विशेषता—जिस पर 'प्रसाद' के उपन्यासों में ध्यान जाना आवश्यक है—है उनके मानसिक द्वंद्व के शब्दचित्र। समाज के बंधनों से उन्मुक्त केवल मानव-हृदय का मर्मस्पर्शी चित्र खींचने में 'प्रसाद' बहुत सफल रहे हैं। वर्तमान युग के साहित्य में घटनाओं की प्रधानता कम होकर मानसिक अंतर्द्वंद्व के चित्रण का प्रभाव बढ़ रहा हैं। मनोभावों के द्वंद्व से जिस प्रकार हृदय व्याकुल हो उठता है उसी प्रकार उसके व्यक्त प्रभाव से शरीर भी उद्विग्न, अव्यवस्थित और चंचल। तन और मन की उस गूढ़ दशा का सुंदर चित्रण 'प्रसाद' के उपन्यासों में बहुतायत से मिलता है। 'कंकाल' उपन्यास में हरद्वार की सिकता-भूमि पर जिस समय 'रंजन' नाम का युवक साधु अपनी बाल्य सहेली 'किशोरी' को युवती के रूप में देखता है उस समय उसके हृदय में पुरानी स्मृतियाँ जागरित होकर कोलाहल करने लगती हैं। उस समय का चित्र देखिए—

---

* 'कंकाल', पृष्ठ २६। † 'तितली', पृष्ठ ३४।

"परंतु किशोरी के नाम ने उसे बारह वर्ष की प्रतिज्ञा का स्मरण दिला दिया। उसने हरद्वार आते हुए कहा था—किशोरी तेरे लिए गुड़िया ले आऊँगा, क्या यह वही किशोरी है? अच्छा, यदि है तो इसे खेलने के लिए गुड़िया मिल गई। उसका पति है ही। वह उसे बहलावेगा। मुझ तपस्वी को इससे क्या? जीवन का बुल्ला विलीन हो जावेगा। ऐसी कितनी ही किशोरियाँ अनंत समुद्र में तिरोहित हो जावेंगी।

"परंतु प्रतिज्ञा! ओह, वह स्वप्न था, खिलवाड़ था। मैं कौन हूँ किसी को देनेवाला, वही अंतर्यामी सबको देता है। मूर्ख निरंजन सम्हल, कहाँ मोह के थपेड़े में झूमना चाहता है? परंतु यदि वह कल गई तो।"

तीसरी बिशेषता तो 'प्रसाद' के उपन्यासों में देखने योग्य है। वह है उनका दृश्य वर्णन। नाटकों में दृश्य-वर्णन प्रायः नहीं पाया जाता। नाट्यकला के प्रतिबंधों के कारण उनमें दृश्यों की सटीक योजना करने का अवकाश नहीं रहता। परंतु उपन्यासों के क्षेत्र में दृश्यों की संश्लिष्ट योजना द्वारा बिंब-ग्रहण कराने का बड़ा सुंदर प्रयत्न किया गया है। दृश्य प्राकृतिक भी हैं सामाजिक भी, नगर के भी हैं और ग्राम के भी।

"अन्नों को पका देनेवाला पश्चिम पवन सर्राटे से चल रहा था। जौ गेहूँ के कुछ कुछ पीले बाल उसकी झोंक में लोट-पोट हो रहे थे। वह फागुन की हवा मन में नई उमंग बढ़ानेवाली थी। कुतूहल से भरी ग्रामवधुएँ एक-दूसरे की आलोचना में हँसी करती हुई, अपने रंग बिरंगे वस्त्रों में ठीक ठीक शस्यश्यामल खेतों की तरह तरंगायित और चंचल हो रही थीं। वह जंगली पवन वस्त्रों से उलझता था। युवतियाँ उसे समेटती हुई, अनेक प्रकार से अपने अंगों को मरोर लेती थीं। गाँव की सीमा में निर्जनता थी। पीली पीली धूप तीसी और सरसों

के फूलों पर पड़ रही थी। सिंचाई से मिट्टी की सोंधी महक, बनस्पति की हरियाली और फूलों की गंध इस वातावरण में उत्तेजना भरी माद-कता ढाल रही थी।"

'तितली' में ग्रामीण जीवन के चित्रण की एक सुंदर झलक देखिए—

"निर्धन किसानों में किसी ने अपनी चादर को पीले रंग से रँग लिया, तो किसी की पगड़ी ही बचे हुए फीके रंग में रँगी है। आज वसंतपंचमी है। सबके पास कोई न कोई पीला कपड़ा है। दरिद्रता में भी पर्व और उत्सव तो मनाए ही जायँगे। मँहगू महतो के अलाव के पास भी ग्रामीणों का एक ऐसा ही झुंड बैठा था। जौ की कच्ची बालों को भूनकर गुड़ मिलाकर लोग 'नवान' कर रहे थे। चिलम ठंडी नहीं होने पाती थी। एक लड़का जिसका कंठ सुरीला था वसंत गा रहा था—

'मदमाती कोयलिया डार डार'

× × × ×

बूढ़े मँहगू के मन में भी गुदगुदी होने लगी। उसने कहा, दुल-रवा ढोल ले आ, दूसरी जगह तो सुनता हूँ तू बजाता है, अपने घर आज त्योहार के दिन बजाने में लगता है क्या रे?"

इसके अतिरिक्त चित्रमय सूक्तियों का प्रयोग, आधुनिक सम-स्याओं का प्रतिबिंब, कला और संस्कृति विषयक विचार आदि बहुत सी बातें हैं जो इन दोनों उपन्यासों में स्थान स्थान पर बिखरी पड़ी हैं, परंतु जिनका स्थानाभाव से यहाँ पूर्णतया विश्लेषण नहीं किया जा सकता। परंतु उनके उपन्यासों में जो विशेषता सबसे बड़ी है वह है उनकी भाव-प्रवणता। उपन्यास के क्षेत्र में आकर भी उनका कवि सजग था और इसलिए उनके उपन्यासों में भावों को आंदोलित करने की जो कुशलता है वह अनुपम है। अपने अनुभवों के प्रचुर वैभव में अपनी नवनीत-सी कोमल भावनाओं का मिश्रण करके उनकी

कल्पना ने जिन कला-कृतियों को जन्म दिया वे संसार की कटुता में भी किसी स्वर्ग-लोक का संदेश लेकर आईं।

'प्रसाद'जी के निधन के उपरांत उनका अधूरा ऐतिहासिक उपन्यास 'इरावती' निकला। इसका संबंध शुंगकाल (पुष्यमित्र, अग्निमित्र का समय) से है। इसकी वर्णन-प्रणाली अपनी रमणीयता में 'करुणा' और 'शशांक' से भी आगे बढ़ गयी है। यदि यह पूरा हो गया होता तो भारतीय उपन्यासों में अपना प्रमुख स्थान रखता किंतु हमारे दुर्भाग्य से वैसा हो न सका। देखें कादंबरी की तरह इसकी पूर्ति हो भी पाती है या नहीं।

वृंदावनलाल वर्मा

बीते हुए दिनों को प्यार की ललचाई आँखों से देखना मानव-हृदय की बड़ी कोमल वृत्ति है। जो बात बीत चुकी है और अब आने की नहीं, प्रसंग आने पर हम सदा मोह के साथ उसका स्मरण किया करते हैं। समय एक रेशमी घूँघट है और ऐसा घूँघट जिसे खोलने का कोई उपाय नहीं। प्रयत्न करने पर केवल उसके झीनेपन के भीतर झाँका जा सकता है। अवगुंठनवती जो काया है वह सुरूप हो या कुरूप, स्त्री हो या पुरुष, देखनेवाले सुंदर स्त्री के रूप में ही उसकी कल्पना किया करते हैं। युगों की जो सुदूरता है मानों वही सौंदर्य प्रदान करती है अतीत के सत्य का उद्घाटन करनेवाले इतिहास और भूले आनंद का आविर्भाव करनेवाले काव्य हृदय की इसी वृत्ति के कारण हमको सदा से मोहते आए हैं। परंतु जहाँ पर इतिहास भी काव्य में छनकर आता है उसे तो सोने में सुगंध ही समझना चाहिए। ऐतिहासिक काव्यकार या उपन्यासकार का महत्त्व और क्षेत्र केवल वैज्ञानिक सत्य को अपनानेवाले इतिहासकार की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत होता है। इतिहासकार की कलम बँधी रहती है। वह निश्चित प्रमाणों के बिना एक पग भी आगे नहीं रख सकता। संसार को वह उतना ही दे

सकता है जितना इसे मिला है। यदि दो युगों के बीच की कड़ी टूटी हुई मिली तो इतिहासकार बेचारा निरुपाय हो जाता है। उसे अपनी टूटी माला ही प्रस्तुत करनी पड़ती है। वैज्ञानिक नियमों की कठोरता ने उससे वह शक्ति ही ले ली है जिसके द्वारा वह अंधकार में भी प्रकाश फैला दे, विशृंखलता में भी शृंखलता बाँध दे। धुँधले और स्पष्ट चित्रों को स्पष्ट कर देनेवाली भावुकता और कल्पना के प्रयोग का इतिहासकार को निषेध है। बल्कि यह कहना चाहिए कि चित्रण तो उसका ध्येय ही नहीं। उसका ध्येय तो है केवल तथ्य-कथन। इसी लिए किसी अतीत युग की रीति-नीति, आचार-विचार, रहन-सहन, रंग-ढंग, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थिति आदि का जो विशद, सजीव एवं हृदयग्राही चित्र एक सफल उपन्यासकार दे सकता है वह अनेक इतिहासकार मिलकर भी नहीं। हमारे देश के अनेक युग ऐसे हैं जिनके विषय में इतिहास का ज्ञान बहुत थोड़ा है। इन युगों का पुनर्निर्माण प्रातिभ उपन्यासकार की सफल कल्पना ही कर सकती है। अनेक छोटी घटनाएँ जिन्हें साधारण समझकर इतिहास आँखें फेर लेता है उन्हीं का चयन कर उपन्यासकार समसामयिक जीवन का जीता-जागता चित्र खड़ा कर सकता है। ऐतिहासिक उपन्यासों के अस्तित्व का यही महत्त्व है और यही उनकी सफलता का मापदंड।

खेद के साथ कहना पड़ता है कि अन्य भारतीय भाषाओं—बँगला मराठी, गुजराती—में उत्कृष्ट ऐतिहासिक उपन्यासों की प्रचुरता देखकर भी हिंदीवाले इस ओर से उदासीन ही रहे, यद्यपि जैसा कहा जा चुका है हमारे अतीत इतिहास में इसका बड़ा अवकाश है। राजस्थान, बुंदेलखंड आदि के भग्नावशिष्ट दुर्ग, ताजमहल जैसे प्रेम स्मारक सभी अपनी अपनी मौन कहानी कहते हैं। परंतु हिंदीवालों ने इस मूक निवेदन की ओर कभी ध्यान ही न दिया। हमारे औपन्यासिक-सम्राट

को 'अतीत के गड़े मुर्दे उखाड़ने' की अपेक्षा 'वर्तमान की धड़कन टटोलना' ही मानवता के लिए अधिक मंगलमय जान पड़ा, वे वर्तमान की गुत्थियों को ही सुलझाने में लगे रहे। बीते दिनों को प्यार से अपनानेवाले एक ही आदमी थे और वे थे 'प्रसाद'। जैसा ऊपर कहा जा चुका है जीवन के अंतिम दिनों में उन्होंने एक सुंदर ऐतिहासिक उपन्यास लिखना आरंभ भी किया किंतु मृत्यु ने उसे पूरा न होने दिया। मातृ-साहित्य के इस अभाव की ओर पहली बार आँख उठाने-वाले वृंदावनलाल हैं। अपने प्राणों में प्यारी जन्मभूमि बुंदेलखंड का अकथनीय प्यार लेकर जिस दिन 'एडवोकेट' वृंदावनलाल साहित्य-क्षेत्र में आए वह हिंदी के लिए बड़ा ही शुभ दिन था। उन्होंने अतीत और वर्तमान दोनों को ही प्यार की आँखों से देखा। 'गढ़ कुंडार' तथा 'विराटा की पद्मिनी' उनकी अतीत-प्रियता के परिचय हैं और 'लगन', 'कुंडली चक्र', 'प्रेम की भेंट', 'प्रत्यागत' आदि वर्तमान के मोह के साक्षी। परंतु उनका 'गढ़ कुंडार' ही उनको अमर कर देने के लिए पर्याप्त है।

हमें यह कह देने में बिलकुल संकोच नहीं है कि 'गढ़ कुंडार' तथा 'विराटा की पद्मिनी' के द्वारा भी हिंदी में 'करुणा' और 'शशांक' के अभाव की पूर्ति न हो सकी। वर्माजी की तुलना राखाल बाबू से की भी नहीं जा सकती। दोनों के इतिहास-ज्ञान, उद्देश्य तथा दृष्टि में बहुत अंतर है। राखाल बाबू पुरातत्त्ववेत्ता थे। उनका जीवन खंडहरों की खुदाई, प्राचीन मुद्राओं एवं भग्नावशेषों में बीता था। इसके साथ ही साथ उनमें उच्चकोटि की कल्पना भी थी। वर्माजी में केवल कल्पना है, पुरातत्व से उनका परिचय ज्ञात नहीं होता। वर्माजी की कल्पना इतिहास की पुस्तकों का सहारा लेकर चलती है। राखाल बाबू की दृष्टि एक युग के पुनर्निर्माण पर थी। वह युग भारत का स्वर्ण-युग था। गुप्त-सम्राटों की विजय-दुंदुभी विश्व में गूँज रही थी। तत्कालीन

परिस्थितियों—सामाजिक और राजनीतिक—का चित्रण करना ही राखाल बाबू का उद्देश्य था। वर्माजी का उद्देश्य कुछ भिन्न है। वह है कहानी कहना। वे एक कहानी कहना चाहते हैं। युग का पुनर्निर्माण उनका गौण उद्देश्य है। राखाल बाबू ने एक पूरे साम्राज्य को अपना विषय बनाया है। समस्त उत्तरापथ में वह साम्राज्य फैला था। वह सारे भारत का प्रश्न है। वर्माजी का विषय अपेक्षाकृत छोटा है। वह आपस का प्रश्न है, सारे भारत का नहीं। हूणों और यवनों के आक्रमण से उसे कोई मतलब नहीं। वह तो एक जाति की दो उपजातियों की लड़ाई है। अतएव वह विशालता एवं महत्ता उसमें आ भी नहीं सकती थी और आवश्यकता भी नहीं थी। वर्माजी का चित्रपट अपेक्षाकृत छोटा है। उनकी घटनाएँ बुंदेलखंड तक ही परिमित हैं। संक्षेप में कहने का तात्पर्य यह कि उद्देश्य-भेद के कारण राखाल बाबू और वर्माजीकी तुलना कर एक को बड़ा और दूसरे को छोटा कहना ठीक नहीं। अपने अपने ढंगसे दोनों ही महान हैं।

'गढ़ कुंडार' में चौदहवीं शती के बुंदेलखंड के प्राणों की उथल-पुथल का बड़ा ही हृदयग्राही चित्रण हुआ है। आंतरिक विद्रोह तथा मिथ्या दंभ के कारण किस प्रकार विभिन्न वर्गीय बुंदेल बुलबुलों के समान बिला गए और फिर खंगारों की अंतिम ज्योति किस प्रकार भभक कर शांत हो रही, 'गढ़ कुंडार' उसी की जीती-जागती तसवीर है। वीरता के वैभव के वे अंतिम दिन थे, परंतु संयम के अभाव तथा उद्देश्य की क्षुद्रता के कारण उस अदम्य वीरत्व का दुरुपयोग किया गया और 'जुझौति' के राज-पुत्र आपस में ही जूझ मरे। भारत-गौरव के उस संध्याकाल में भी बुंदेलखंड में इतनी शक्ति थी जो एक बार किसी भी महाशक्ति से लोहा ले सकती। परंतु वहाँ तो घर में ही 'कौन बड़ा कौन छोटा' का प्रश्न जोर पकड़े हुए था। खंगार राजा 'हुरमत सिंह' गुर्रा कर

कहता, "हूँ ! उस भिखारी 'सोहन पाल' को इतना गर्व ! मेरे 'नाग' को 'हेमवती' देने से इन्कार ! अच्छा देखूँगा उसकी हेकड़ी को ।" इधर बुंदेला कुमार 'सहजेंद्र' क्रोध से किटकिटाकर कहता, "उस नीच खंगार का इतना साहस ! बुंदेले की बेटी का अपमान । जिस तरह होगा कुंडार का नाश करूँगा । जब तक कुंडार की ईंट से ईंट न बजा दी चैन न लूँगा ।" मानापमान की इसी तीव्र भावना ने मदोन्मत्त खंगारों को भेड़-बकरियों की तरह काट डाला । वीर दर्प की इस कठोरता के बीच 'तारा' और दिवाकर की स्वर्गीय प्रेम-गंगा इस तरह प्रवाहित होती है मानों शैलवनाच्छादित कठोर भूमि में बेतवा की पीयूप-धारा ।

'विराटा की पद्मिनी' को ऐतिहासिक उपन्यास न कहकर ऐतिसिक रोमांस कहना अधिक उपयुक्त होगा । 'गढ़ कुंडार' शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास है । उसका वातावरण, घटनाएँ और प्रधान पात्र अधिकांश इतिहास-संमत है परंतु यह बात 'विराटा की पद्मिनी' में नहीं है । इसका वातावरण अवश्य ऐतिहासिक अथवा प्राचीन है परंतु अधिकतर घटनाएँ और पात्र कल्पित ही हैं । कहानी का प्रधान आधार इतिहास नहीं, केवल जनश्रुति है । किंवदंतियों के आधार पर ही इसकी 'कुमुद' देवी चित्रित की गई है । परंतु उस रूप की देवी 'कुमुद' का 'कुंजर' के लिए संयत और तीव्रतम प्रेम ही आकर्षण का प्रधान केंद्र है । जहाँ तक वातावरण की समसामयिकता का संबंध है वर्माजी पूर्ण सफल रहे हैं ।

ऐतिहासिक उपन्यास तो वर्माजी ने उपयुक्त दो ही लिखे हैं परंतु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है 'लगन', 'कुंडली चक्र', 'संगम', 'प्रेम भेंट', 'कोतवाल की करामात' 'प्रत्यागत' आदि सामाजिक उपन्यास अनेक । ये सामाजिक उपन्यास भी अपने ढंग के निराले होते हैं । इनमें उपन्यास-कला के बड़े ही उत्कृष्ट रूप का दर्शन मिलता है ।

यद्यपि प्रेमचंद, 'प्रसाद' आदि की भाँति वर्माजी के सामाजिक उपन्यासों में विषय का विस्तार और वैचित्र्य नहीं मिलता, परंतु उनमें तीव्रता अधिक है। छोटी सी गागर में सत्य का सागर भरनेवाली इनकी कलाकृतियाँ हिंदी-साहित्य के गौरव की वस्तु हैं। उनमें न कोई आभ्यंतर उद्देश्य है, न सिद्धांत-प्रतिपादन; केवल एक सीधी सी कहानी कहना है जिसे लेखक बड़े ही स्वाभाविक ढंग से कह जाता है।

इन ऐतिहासिक तथा सामाजिक उपन्यासों को देखने पर, थोड़ा आश्चर्य होता है यह जानकर कि प्रायः सभी का मूलाधार कोई न कोई किंवदंती है। 'गढ़ कुंडार', 'विराटा की पद्मिनी', 'प्रेम की भेंट', 'कुंडली चक्र' आदि सब जनश्रुति की नींव पर ही स्थित हैं। कुछ घटनाएँ सच्ची होती हैं, कुछ कल्पित; परंतु मुख्य घटना अधिकांश किसी ख्यात घटना को ही पकड़कर चलती है, चाहे वह इतिहास-संमत हो, वास्तविक हो, अथवा बुंदेलखंड की जनता में प्रचलित कोई कहानी हो। वर्माजी में भावुकता है, सहृदयता है, ग्रहणशक्ति है और है उच्च-कोटि की कल्पना-विधान की शक्ति, जिसके कारण वे कथा के मार्मिक स्थलों को पहचानते हैं और निश्चित ध्येय की ओर सीधे अग्रसर हो जाते हैं। न कहीं तोड़-मरोड़ होती है, न अनावश्यक वाग्जाल और न दिमागी कसरत ही।

एक बात और, जिस पर वर्माजी के उपन्यासों में ध्यान जाना आवश्यक है, उनकी रोमांटिक प्रवृत्ति है। उनकी सभी कहानियाँ एक रोमांस हैं, यदि हम रोमांस को उसके प्रकृत रूप में लें। आजकल के पढ़े-लिखे नवयुवकों का रोमांस तो अधिकतर लड़कियों को घूरने, ताँगे, मोटर या साइकिल पर बैठकर उनका पीछा करने, पत्रों में प्रियतमे, प्रिये आदि शब्दों की झड़ी लगा देने, गद्देदार बिस्तरों पर विरह-व्यथा से तड़पने और कुछ न हुआ तो जहर खाकर जान दे देने तक ही परिमित है। परंतु यह रोमांस नहीं, छिछोरापन है।

पाश्चात्य साहित्य में रोमांस कभी ऐसे हीन अर्थ में व्यवहृत नहीं हुआ है। रोमांस शब्द से ही वहाँ साहस, सदाशयता, वीरता, त्याग, कर्मशीलता तथा कर्तव्यपालन आदि का बोध होता है। इन कहानियों में प्रेम की शक्ति का वर्णन रहता है, अकर्मण्यता का नहीं। जीवन-समर में साबित-कदम रहकर प्रेम करते रहना बड़े से बड़े कष्टों के सामने भी सिर न झुकाना, हार न मानना यही वास्तविक रोमांस है। वर्माजी के रोमांस इसी कोटि के हैं, केवल साधारण प्रेमकहानियाँ नहीं। उनके प्रेमी और प्रेमिकाएँ काँखने कराहनेवाली नहीं, वरन् प्रकाश-पुंज की भाँति चमककर एक दूसरे में विलीन हो जानेवाली हैं। यह प्रकाश ऐसा है कि प्रकाशक के मिट जाने पर भी जगत को प्रकाशित करता रहता है। इन अमर प्रेमकहानियों के सामने आधुनिक प्रेमकहानियाँ बच्चों के खेल सी लगती हैं। गुड्डे गुड़ियों के ब्याह से अधिक हम उन्हें समझ ही नहीं पाते। 'गढ़ कुंडार' में तारा-दिवाकर का प्रेम, 'विराटा की पद्मिनी' में कुमुद-कुंजर का प्रेम, 'प्रेम की भेंट' में धीरज-सरस्वती का प्रेम और 'कुंडली चक्र' में पूना-अजित का प्रेम—सब वास्तविक रोमांस हैं। 'गढ़ कुंडार' ऐतिहासिक उपन्यास होने पर भी प्रेमकहानियों से पूर्ण है। अग्निदत्त, दिवाकर और नागदेव तीनों की कथाएँ रोमांस के भिन्न भिन्न रूप हैं, जिनमें उच्च और आदर्श रोमांस तारा-दिवाकर वाला ही है। 'प्रेम की भेंट' आद्योपांत एक रोमांस ही है। 'कुंडली चक्र' में दोनों प्रकार के रोमांस मिलेंगे—आधुनिक भी और शुद्ध भी। 'रतन' और 'अजित' का प्रेम बहुत कुछ आधुनिक ढंग का है, यद्यपि उन परिस्थितियों में वह स्वाभाविक है। 'पूना' का प्रेम शुद्ध रोमांस है। 'रतन' के प्रेम में असफल होने के अनंतर 'अजित' की जो भावनाएँ एवं जीवन का कार्यक्रम हो जाता है वह बहुत कुछ 'आशिकों' का सा लगता है। परंतु 'पूना' की कहानी से इसकी तुलना करके देखिए। 'रतन' की कथा उसके सामने

हीनप्रभ हो जाती है। 'पूना' की कथा मानवता से दीप्त है, 'रतन' की नहीं। 'विराटा की पद्मिनी' तो वर्माजी की रोमांस-रचनात्मक प्रतिभा का उत्कृष्ट नमूना है। इसके जोड़ का उपन्यास हिंदी में दूसरा नहीं। यह संसार के किसी भी साहित्य की शोभा बढ़ाने में समर्थ होगा।

यदि हम संसार के रोमांस-साहित्य को देखें तो पता चलेगा कि रोमांस में घटनाओं की प्रधानता होती है। ड्यूमा और स्कॉट संसार के सर्वश्रेष्ठ रोमांस लेखकों में हैं। इनके सभी उपन्यास घटना-प्रधान हैं। ठीक यही बात वर्माजी के उपन्यासों में भी है। वे सभी घटना-प्रधान हैं। यह नहीं कि उनमें चरित्र-चित्रण नहीं। नहीं, उनमें उच्च-कोटि का भावुकतापूर्ण चरित्र-चित्रण है। परंतु इनका चरित्र-निर्माण घटनाओं द्वारा ही होता है। घटनाओं की योजना ही वर्माजी की विधायक कल्पना की विशेषता है। प्रत्येक घटना चारित्रिक विशेषता का दिग्दर्शन कराने में सफल होती है। प्रसिद्ध लेखक स्टीवेंसन ने रोमांस को परिस्थितियों का काव्य (पोयट्री आव सरकंसटांसेज़) कहा है। इसका तात्पर्य केवल यही है कि रोमांस में परिस्थितियों की प्रधानता रहती है। जीवन में बहुत सी बातें ऐसी होती हैं जो मानवेच्छा का बिलकुल ध्यान ही नहीं करतीं। वे अपने आप हो जाती हैं, चाहे हम उनकी कामना करें या न करें। ऐसे अवसरों पर हमें यह नहीं सोचना पड़ता कि क्या करें, बस यह कि हम कैसे करें। परिस्थितियाँ बराबर बनती चली जाती हैं, उन्हें बनाना नहीं पड़ता। हमारे लिए कार्य पहले से ही निर्धारित रहता है, ढूँढ़ना पड़ता है केवल उन्हें करने का उपाय। इसी से रोमांस की सृष्टि होती है। 'विराटा की पद्मिनी' को ही लीजिए। परिस्थितियाँ अपने आप बनती चली जाती हैं। कोई पात्र उन्हें बनाता नहीं, कभी कभी तो वे पात्रों की इच्छा के विरुद्ध भी उपस्थित हो जाती हैं, जिनके कारण एक साहस-भावना

(स्पिरिट आव एडवेंचर) की सृष्टि होती है। यही साहस-भावना अथवा अनिश्चय की भावना किसी कहानी को रोमांस बनाने और तीव्रता प्रदान करने में सफल होती है। ठीक यही बात अन्य उपन्यासों के संबंध में भी है। 'कुंडली चक्र' को देखिए। 'अजित' और 'पूना' के संबंध की घटनाएँ सब अपने आप होती चली गईं। उनका संचालन-सूत्र किसी अदृश्य शक्ति के हाथ में था। उन घटनाओं के संपादन का उपाय अवश्य उसके अभिनेताओं को सोचना पड़ता था, परंतु घटनाएँ या परिस्थितियाँ तो पहले से ही बनी बनाई उपस्थित थीं। संभव है, 'अजित' उन परिस्थितियों को न चाहता रहा हो परंतु वे वहाँ थीं और वह उससे बच नहीं सकता। परिस्थिति की तरंगों द्वारा भविष्य में फेंक दिया जाना ही उसे रोमांस की पदवी प्रदान करता है। यदि यह साहस-भावना न होती तो शायद हम उसे रोमांस कहने में संकोच करते। 'गढ़ कुंडार' और 'प्रेम की भेंट' में भी यही बात मिलेगी।

किसी कहानी को पढ़ते समय हमारी दो प्रकार की भावनाएँ होती हैं। कभी तो हम पात्रों के अभिनय की प्रशंसा करते हैं और कभी कभी कल्पना में स्वयं उन पात्रों का रूप धारण करके कहानी में भाग लेने लगते हैं। जिस कहानी में हम स्वयं पात्रों का रूप धारण कर लें वही उच्चकोटि की कहानी है। रोमांटिक कहानी की यही विजय है। जब पाठक जान-बूझकर नायक बन जाता है तब समझना चाहिए कि कहानी का यह दृश्य सुंदर है। जिन उपन्यासों में केवल चरित्र का अध्ययन (कैरेक्टर स्टडीज़) या मनोवैज्ञानिक विश्लेषण (साइकोलाजिकल एनालिसिस) होता है उन्हें हम आलोचनात्मक दृष्टि से पढ़ते हैं, या यों कहें कि उनमें हमारी प्रसन्नता आलोचनात्मक होती है। उनके पात्रों को हम दर्शकों की भाँति देखते हैं, उनकी असंबद्धताओं पर हँसते हैं और साहस, सहनशीलता, कष्ट, दुःख, गुणों आदि पर

रीझते हैं, परंतु फिर भी पात्र भिन्न ही रहते हैं। हम और वे एकप्राण नहीं हो पाते। उनका अध्ययन अथवा विश्लेषण जितना ही स्पष्ट होगा हमसे वे उतने ही दूर होंगे। हम अपने को 'सुनीता' के पात्रों के रूप में नहीं देख सकते, परंतु धीरज, दिवाकर, कुंजर, सिंह, अजित आदि के रूप में देख सकते हैं। चरित्र नहीं, घटना हमें अपने एकांत और व्यक्तित्व से फुसलाकर बाहर लाने में समर्थ होती है। कोई ऐसी घटना हो जाती है जैसी हम चाहते हैं कि हमारे ऊपर बीते अथवा कोई ऐसी परिस्थिति किसी कहानी में आकर्षक चित्रण के साथ वर्णित होती है जिसे हम चिरकाल से अपनी भावना में पोषित करते चले आ रहे हैं और तब हम नायक को एक किनारे ढकेल देते हैं, अपना निजी व्यक्तित्व लेकर कहानी में कूद पड़ते हैं और नवीन अनुभवों में अवगाहन करने लगते हैं। तभी, उसके पहले नहीं, हम कहते हैं कि हम रोमांस पढ़ रहे थे। अपने दिवा-स्वप्नों में हम केवल सुख-ऐश्वर्य ही नहीं सोचते, वरन् कभी कभी ऐसे क्षण भी आते हैं जिनमें स्वयं अपनी मृत्यु-कल्पना हमें प्रिय हो जाती है। अतएव ऐसी कहानियों की सृष्टि भी संभव है जो दुःखांत हों परंतु फिर भी जिनकी प्रत्येक घटना का पाठक हृदय से स्वागत करे। वर्माजी के उपन्यास भी इसी प्रकार के हैं। वे प्रायः दुःखांत ही हैं। जिनका अंत सुख से होता है वे भी दुःख की एक अमिट छाप छोड़ जाते हैं और हमें उस दुःख से भी आनंद आता है। 'गढ़ कुंडार' सुखांत है फिर भी अंत में एक अवसाद सा छाया रहता है। 'विराटा की पद्मिनी' और 'प्रेम की भेंट' दुःखांत हैं परंतु हमें 'कुंजर सिंह' अथवा 'धीरज' बनने में कोई आपत्ति नहीं। हम उनकी मृत्यु अपने ऊपर लेने को प्रस्तुत हो जायँगे। उच्च कोटि की रोमांटिक कहानी की यही विजय है। यही रोमांस है। राबर्ट लुइस स्टीवेंसन का कहना है कि 'मनुष्य के लिए कथा-वाङ्मय का वही स्थान होता है जो लड़कों के लिए खेल का। यहीं पर वह अपने

जीवन के वातावरण और कशमकश को परिवर्तित कर देता है। जब वह उसकी कल्पना से इतना मेल रखता है कि वह हृदय से उसमें संमिलित हो सके, जब उसकी प्रत्येक घटना उसे प्रसन्न करनेवाली होती है, जब उसको संस्मृति आनंदप्रद होती है और जब वह पूर्ण प्रसन्नता से उस स्मृति में लीन होता है तब वह कथा-वाङ्मय रोमांस कहलाता है।'* हम देखेंगे कि यह बात वर्माजी के उपन्यासों के संबंध में अक्षरशः सत्य है विशेषकर 'विराटा की पद्मिनी' के विषय में।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है वर्माजी के पास कहने के लिए सदैव एक कहानी होती है। आजकल उपन्यासों में कहानी का होना इतना आवश्यक नहीं समझा जाता, परंतु वर्माजी इसे नहीं मानते। जब तक कहानी नहीं है तब तक आप कहेंगे क्या? अतएव वर्माजी का सर्वप्रथम उद्देश्य होता है कहानी कहना। यदि उनके उपन्यासों में से चरित्र-चित्रण, कथोपकथन आदि निकाल दिए जायँ तब भी स्वयं कहानी ही इतनी आकर्षक, हृदयस्पर्शी तथा प्रभावोत्पादक होती है कि हम उसे भूल नहीं सकते। इनके प्रत्येक उपन्यास में कुछ ऐसी हृदय को छूनेवाली स्थितियाँ एवं घटनाएँ मिलती हैं, उनकी योजना ही इस प्रकार की होती हैं कि वे सदैव मन में मँड़राया करती हैं। 'गढ़ कुंडार' में निर्जन मंदिर के सामने तारा का दिवाकर के गले में माला डालना और फिर अंतिम दृश्य में अर्धनग्न होकर मूर्छित दिवाकर के पास साड़ी लटकाकर पहुँचना, 'विराटा की पद्मिनी' में कुमुद का माँ बेतवा

*"फिक्शन इज़ टु दी ग्रोन अप मैन ह्वाट प्ले इज़ टु दी चाइल्ड; इट इज़ देयर दैट ही चेंजेज दी ऐटमॉसफियर एंड टेनर आव् हिज़ लाइफ; एंड ह्वेन दी सेम सो चाइम्स विद हिज़ फेन्सी दैट ही कैन ज्वाइन इन इट विद आल हिज़ हार्ट, ह्वेन इट प्लीज़ेज़ हिम विद एवरी टर्न, ह्वेन ही लव्स टु रिकाल इट एंड ड्वेल्स अपोन इट्स रिकलेक्शन विद एंटायर डिलाइट, फिक्शन इज़ काल्ड रोमांस।"

—ए गासिप आन रोमांस।

की गोद में विश्राम लेना, दाँगियों का जीर्ण-शीर्ण पीले वस्त्र पहने हुए रणोन्माद एवं उल्लास, 'प्रेम की भेंट' में सरस्वती के हाथ में प्रेम की भेंट वाला टुकड़ा तथा 'कुंडली चक्र' में अजित और पूना का चकरई की पहाड़ियों में मिलन, ये सब घटनाएँ ऐसी हैं कि हमारे मानस-पटल पर सदैव के लिए अंकित हो जाती हैं। हम और सब भूल सकते हैं—हम शब्दावली भूल सकते हैं, यद्यपि वह अत्यंत कोमलकांत हो, हम लेखक की टीका-टिप्पणी भूल सकते हैं, यद्यपि वह कदाचित अत्यंत चातुर्यपूर्ण बुद्धिसंगत और उपयुक्त हो, किंतु इन घटनाओं एवं दृश्यों को नहीं भूल सकते। इन चित्रों को मानस-पटल से मिटा देने की सामर्थ्य समय में भी नहीं है। एक यही चित्र देखिए—

"कुमुद शांत गति से ढालू चट्टान के छोर तक पहुँच गई। अपने विशाल नेत्रों की पलकों को उसने ऊपर उठाया। उँगली में पहनी हुई अँगूठी पर किरणें फिसल पड़ीं। दोनों हाथ जोड़कर उसने धीमे स्वर में गाया—

"मलिनिया, फुलवा ल्याओ नंदन-वन के।
बिन बिन फुलवा लगाई बड़ी रास
उड़ गए फुलवा रह गई बास।

"उधर तान समाप्त हुई, उधर उस अथाह जल राशि में पैजनी का छम्म से शब्द हुआ। धार ने अपने वक्ष को खोल दिया और तान-समेत उस कोमल कंठ को सावधानी से अपने कोष में रख लिया।

"ठीक उसी समय वहाँ अली मर्दान भी आ गया। घुटना नवा कर उसने कुमुद के वस्त्र को पकड़ना चाहा, परंतु बेतवा की लहर ने मानो उसे फटकार दिया। मुट्ठी बाँधे खड़ा रह गया।"*

कितना सुंदर चित्र है। इसके चित्रण के लिए शब्द पर्याप्त नहीं,

---

* विराटा की पद्मिनी, पृष्ठ २९४।

वे समर्थ भी नहीं ! इसके लिए चित्रकार की आवश्यकता है। स्टीवेंसन का कहना है—"किसी वस्तु को पठनीय तभी कहा जा सकता है जब उसकी रीति ही लीन कर देनेवाली एवं आकर्षक हो। हम उत्सुकतापूर्वक पृष्ठ पर पृष्ठ उलट जायँ, अपने को छोड़कर एक दूसरी ही दुनिया में पहुँच जायँ, और जब पढ़कर उठें तो हमारा मस्तिष्क अनेकानेक रंग-बिरंगे नाचते हुए चित्रों से भरा हो। हम में निद्रा अथवा अविरल चिंतन की शक्ति ही न रह जाय। शब्द, यदि वे समर्थ हैं, सुंदर हैं तो उस समय से हमारे कानों में तरंगों के कलकल नाद की भाँति गूँजा करें और कहानी, यदि वह कहानी है तो सहस्रों रंग-बिरंगी तसवीरों के रूप में नेत्रों के संमुख नाचा करे।"* वर्माजी की कहानियाँ ऐसी ही होती हैं। शब्दावली और भाषा तो उनके पास नहीं होती परंतु कहानी होती है। उनकी कहानियों में रंग-बिरंगे चित्र अवश्य होते हैं। एक बार यदि आप उन्हें आरंभ कर देंगे तो उन्हें बिना समाप्त किए उठने का जी ही न चाहेगा, भूख-प्यास सब भूल जायगी। दृश्य आँखों के सामने नाचा करेंगे। 'विराटा की पद्मिनी' का अंतिम दृश्य ही लीजिए। पुस्तक बंद करने के अनंतर भी यह

---

*"इन एनी थिंग फिट टु बी काल्ड बाइ दी नेम आव् रीडिंग, दी प्रोसेस इटसेल्फ शुड बी ऐब्सार्बिंग एंड वाल्पचुअस; वी शुड ग्लोट ओवर दी बुक, वी रैप्ट क्लीन आउट आव् अवरसेल्व्ज, एंड राइज़ फ्राम दी पेरूजल अवर माइंड फिल्ड विद दी बीजिएस्ट कैलीडोस्कोपिक डांस आव् इमेजेज, इन्केपेबुल आव् स्लीप आर आव् कांटीनूअस थाट। दी वर्डस् इफ दी बुक बी एलोक्वेंट शुड रन देंस फारवर्ड इन अवर इयर्स लाइक दी नायज आव् ब्रेकर्स, एंड दी स्टोरी, इफ् इट बी ए स्टोरी, रिपीट इटसेल्फ इन ए थाउजैंड कलर्ड पिक्चर्स टु दी आई।"

—ए गासिप आन रोमांस।

ज्ञान पड़ता है मानों अभी अभी थोड़ी देर पहले किसी की उँगली की अँगूठी ने सूर्य की किरणों से होड़ लगाई थी, अभी अभी थोड़ी देर पहले उस जल-राशि पर छम्म से कुछ हुआ था। पुस्तक बंद करने पर भी मानों लहरों पर पवन में वह गीत गूँजा करता है—'उड़ गए फुलवा रह गई बास'। मानों उस पर्वतीय वनखंड में एक कोयल अपने पंचम स्वर से हृदय को स्पंदित और आंदोलित कर, उसे अकथनीय व्यथा एवं आर्द्रता से भरकर न जाने कहाँ अदृश्य हो गई हो।

वर्माजी के उपन्यासों के अध्ययन के अनंतर एक और बात, जो हमें स्पष्ट लक्षित होती है, है उनका बुंदेलखंड का भौगोलिक ज्ञान। उनका बुंदेलखंड-पर्यटन विस्तृत एवं पूर्ण जान पड़ता है। झाँसी और उसके आसपास की भूमि का उनसे बड़ा नजदीकी परिचय है। प्रत्येक पहाड़-पहाड़ी, नदी-नाले, खोह-भरके, गढ़ियाँ-किले, वन-मैदान आदि का उन्हें सम्यक परिचय है। यह परिचय उनके उपन्यासों को वास्तविकता का पुट देने में बड़ा सहायक होता है। कितना रमणीय प्रदेश है वह! वर्माजी भावुक हैं। प्राकृतिक सौंदर्य के उपासक हैं। यद्यपि कहानी की गति में वाधा आने के डर से प्रादेशिक रमणीयता के शब्द-चित्र इन्होंने नहीं दिए हैं फिर भी उनके प्रारंभिक उपन्यासों में इस तरह के वर्णन मिलेंगे और जिन लोगों ने वे स्थान देखे हैं वे जानते हैं कि वे वर्णन वास्तविक हैं, कल्पना के आधार पर खड़े नहीं। बुंदेलखंड की उन आकर्षक मनोहर उपत्यकाओं, हरी-भरी पहाड़ियों, प्रखर-प्रवाह कलकलनादिनी नदियों, अतीतवीरता-स्मारक भग्नावशेषों आदि को देखकर वीरता और प्रेम की कहानियों का संकेत मिलना स्वाभाविक ही है। भावुक और सहृदय को इनमें छिपा हुआ रोमांस मिलेगा ही। जीवन में एक वस्तु दूसरी का आह्वान सा करती है। घटनाओं और स्थानों में उत्तर-प्रत्युत्तर का सा भाव होता है। जैसे स्टीवेंसन ने कहा है कि "कुछ निर्जन स्थान मानों हत्या के लिए पुकारते हों, कुछ पुराने

मकान मानों भूत-प्रेत को निमंत्रण सा देते हों, और कुछ समुद्रतट मानों जहाजों के टकराने के लिए अलग कर दिए गए हों।"* यही बात अनेक घटनाओं के संबंध में भी ठीक है। कुछ घटनाएँ यों देखने में अपूर्ण एवं निरर्थक जान पड़ती हैं परंतु ध्यान देने पर उन्हीं में किसी विचित्र रोमांस का बीज मिलेगा। कुशल लेखक उन्हें एक हृदयग्राही कहानी का रूप दे देता है। प्राचीन दुर्गों के भग्नावशेषों एवं बुंदेलखंड की हरी-भरी रमणीयता को देखकर अतीत-वीरता एवं प्रेम की कहानियों का स्मरण आना स्वाभाविक है। वर्माजी ने इतिहास और कल्पना का आधार लेकर इन जंगलों और गढ़ियों को मुखरित करने का सफल प्रयत्न किया है।

इस दृश्य-संविधान (सेटिंग) की दृष्टि से हम उनकी तुलना प्रसिद्ध अँगरेजी उपन्यासकार टामस हार्डी से कर सकते हैं। हार्डी ने अपने उपन्यासों में एक प्रदेश का निर्माण किया है, जिन्हें उन्होंने 'वेसेक्स' नाम दिया है। नाम कल्पित है। इस प्रदेश के अन्य स्थानों के नाम भी कल्पित हैं, परंतु नाम के अतिरिक्त और सब वास्तविक है। उनका वर्णन, एक स्थान से दूसरे स्थान की दूरी आदि सब वास्तविक हैं और भूगोल की दृष्टि से ठीक हैं। उनके उपन्यास ही 'वेसेक्स' उपन्यास के नाम से प्रसिद्ध हैं। ठीक इसी प्रकार यदि हम चाहें तो वर्माजी के उपन्यासों को 'बुंदेलखंडी उपन्यास' कह सकते हैं। हार्डी ने तो नाम बदल दिए हैं परंतु वर्माजी ने यह नहीं किया है। इसकी आवश्यकता भी न थी। ऐतिहासिक उपन्यासों के लिए तो यह आवश्यक था कि वास्तविक नाम ही रखे जायँ, अन्यथा ऐतिहासिक सत्यता का आभास न मिलता। भौगोलिक ज्ञान के अतिरिक्त वर्माजी

* "सर्टेन डार्क गार्डेन्स क्राइ एलाउड फॉर मर्डर, सर्टेन ओल्ड हाउसेज डिमांड टु बी हान्टेड, सर्टेन कोस्टस् आर सेट अपार्ट फॉर शियरेक्स।"

का बुंदेलखंडी भाषा पर भी यथेष्ट अधिकार है, जिसका परिचय उन्होंने स्थान-स्थान पर दिया है। 'गढ़ कुंडार' में अर्जुन कुम्हार की स्वाभाविक भाषा की मिठास स्थान-स्थान पर हमारा मनोरंजन करती है।

चरित्र-चित्रण के विषय में वर्माजी को हमारे सार्टिफिकेट की आवश्यकता नहीं है। वे चरित्र-सृष्टि के बड़े ही कुशल विधाता हैं। उनके चरित्र बहुत दिनों तक हमारी स्मृति में जीवित रहते हैं, यही उनकी विशेषता है। बुंदेलखंड के उच्च और निम्न प्रायः सभी वर्ग के लोगों का अच्छा ज्ञान होने के कारण उनके चरित्रों में कहीं भी अस्वाभाविकता नहीं आने पाई है। उन्हें किसानों की निराशा, युवकों की प्रेमपिपासा वीरों के रणोल्लास, कायरों की भीरुता आदि का समान रूप से ज्ञान है। परंतु वर्माजी के औपन्यासिक चरित्रों की चित्रशाला में हमारा ध्यान सबसे अधिक आकर्षित होता है उनकी नायिकाओं की ओर। उनके चित्रण में लेखक को अपूर्व सफलता प्राप्त हुई है। तारा, रतन, पूना, सरस्वती, कुमुद, एक से एक बढ़कर चित्र हैं। इन सबमें सौंदर्य, कोमलता, भावुकता, हृदय के साथ ही साथ असीम साहस, शक्ति, त्याग और बलिदान है। इन्हीं गुणों का उचित अनुपात में मिश्रण उनके आकर्षण का रहस्य है। सबसे बड़ी बात जो हमें उनकी ओर आकर्षित करती है वह है उनकी भावनाओं को दमन करने की शक्ति। प्रच्छन्न रागों और मनोवेगों के प्रदर्शन में वर्माजी बड़े कुशल हैं। हृदय में अपरिमेय प्यार लेकर भी इनकी नायिकाएँ उसका आभास नहीं मिलने देतीं। दरिद्र की निधि की भाँति उसे अपने हृदय के अंतरतम कोने में छिपाकर रखती हैं, मानों किसी के देख लेने से उसमें नजर लग जायगी। इस प्रयत्न में यदि उन्हें आत्म-बलिदान भी करना पड़े तो उन्हें सहर्ष स्वीकार है। ऐसे ही किसी स्थान पर ध्यान से देखने पर उनके प्यार का स्वल्प आभास मिल जाय तो मिल जाय, अन्यथा नहीं। पुस्तक के अंत में ही हम उसे (प्यार को) पह-

चान पाते हैं और तब वह अपने अप्रत्याशित रूप, विशालता, तीव्रता, आत्मत्याग एवं बलिदान द्वारा हमें अभिभूत कर लेता है। ऐसा जान पड़ता है, मानों वे इस पृथ्वीतल को छोड़कर ऊपर उठ गई हैं और वायु में तैर रही हैं। हमारे स्पर्श मात्र से उनमें धब्बा लग जायगा; इतनी शुभ्र, उज्ज्वल एवं पवित्र हैं वे। वर्माजी की सभी नायिकाएँ अनुपम हैं परंतु 'विराटा की पद्मिनी' की कुमुद उनकी चरित्र सृष्टि का उत्कृष्टतम उदाहरण है। ऐसा चित्र संसार के साहित्य में कम देखने में आएगा। पुस्तक के अंत में हम स्वयं सोचने लगते हैं कि वह देवी थी या मानवी? पालर वाले उसे देवी समझते हैं, दाँगी उसे देवी समझते हैं, कुंजरसिंह उसे देवी समझता है, सारी जनता उसे देवी समझती है, यहाँ तक कि बात बात में सर काटने और कटानेवाला लोचनसिंह भी उसे देवी समझता है। जो भी हो, वह देवी रही हो या न रही हो, परंतु इसमें संदेह नहीं कि वह मानवता के उच्चतम गुणों से विभूपित थी; और श्रेष्ठतम मानवता ही देवत्व है। वह एक साथ ही कितनी शांत, संयत, धीर, गंभीर, आत्मनिमज्जित, दृढ़, दयालु एवं प्रेममयी है। ऐसे संयम के साथ उसने कुंजर का प्रेम अपने हृदय में छिपा रखा था कि उसका आभास विरले पाठक ही पा सकते हैं। पाठक क्या, स्वयं कुंजरसिंह बहुत देर में उसे जानने में समर्थ हुआ, फिर भी अपने मन से 'देवीत्व' की भावना को दूर नहीं कर सका। पुस्तक के अंतिम कुछ पृष्ठों में ही पाठक उसके प्रेम की तीव्रता का अनुभव करने में सफल होते हैं। अंत में उसके संयम का बाँध टूट जाता है। प्राण-प्रिय अंतिम विदा माँगने के लिए उपस्थित है। तोपें आग उगल रही हैं। परिस्थिति विकट है। तो फिर संयम कब तक रह सकता है? आँखें तरल हो जाती हैं। पहले कंपित स्वर में और फिर दृढ़ता-पूर्वक कहती है, 'मैं भी चलूँगी'। और जब कहती है कि 'अभी मत जाओ, जरा ठहर जाओ, गोला-बारी थोड़ी कम हो जाने दो'

तो हम उसकी अनुनयपूर्ण तरल आँखों और असीम स्नेहमय स्वर का अनुभव करते हैं। वह आज लड़ाई में कुंजर के साथ रहना चाहती है। उत्तर के स्थान पर 'पानी' 'बानी' का काम करता है। और अंत में नहीं रहा जाता, वह कुंजर के हृदय से लग ही जाती है। कुंजर से अंतिम साक्षात्कार के समय वह अत्यंत दृढ़ है। उसने एक निश्चय कर लिया है और अब अविचलित है। आँचल के छोर से जंगली फूलों की एक माला निकालकर कुंजर के गले में डाल देती है। मानों परिणय हो गया। फूल अधखिले और सूखे थे। और अंतिम दृश्य तो कभी भुलाया ही नहीं जा सकता। वह धीर-गंभीर जाति, वह कोकिला-गान, बेतवा पर छम्म की ध्वनि आदि स्मृति पट पर सदैव के लिए अंकित हो जाते हैं। हमने जब उसे पहले पहल देखा था तब भी देवी सी और इस समय भी वैसी ही देवी। सचमुच कुमुद का चित्र अद्वितीय है।

यही नहीं, 'विराटा की पद्मिनी' तथा 'गढ़ कुंडार' के भी जितने चित्र हैं सब सुंदर हैं। कुंजरसिंह, राजा नायकसिंह, देवीसिंह, जनार्दन शर्मा, छोटी रानी, बड़ी रानी, गोमती तथा सोहनपाल, सहजेंद्र, दिवाकर, धीर प्रधान, तारा, मानवती आदि सबके चित्र एक से एक बढ़कर हैं। इन दोनों ही ऐतिहासिक कृतियों में चरित्रों का जमघट सा हो गया है, फिर भी वर्माजी सबको अलग अलग रखने में समर्थ हुए हैं। सबका अपना अपना व्यक्तित्व है। कथोपकथन सुनकर ही हम कह सकते हैं कि यह अमुक पात्र है और यह अमुक। यही चरित्र-चित्रण की उत्तमता है। 'विराटा की पद्मिनी' में कुंजर और कुमुद के मिलन के अंतिम दो दृश्य वर्माजी ने जिन परिस्थितियों में रखे हैं वे उनकी कुशलता के परिचायक हैं। चारों ओर मार-काट मची है, गोले आग उगल रहे हैं, धायँ-धायँ सायँ-सायँ हो रहा है, उसके बीच यह रसमयी धारा! ऐसी परिस्थिति में उस दृश्य का प्रभाव न

जाने के गुना बढ़ जाता है। 'गढ़ कुंडार' में तारा और दिवाकर का मिलन ठीक ऐसी ही परिस्थिति में होता है। यही रोमांस है। जीवन-मृत्यु के बीच किया हुआ प्रेम ही शुद्ध रोमांस कहला सकता है। यह प्रेम बैठे-ठाले का दिल-बहलाव नहीं, वरन् जीवन की कठोर वास्तविकताओं के बीच बहती हुई पीयूषधारा है, जो मृत्यु को भी सुखद बना देती है। 'गढ़ कुंडार' और 'विराटा की पद्मिनी' दोनों ही उपन्यासों की गति बड़ी क्षिप्र है मानों पहाड़ी नदी हो। और होना भी यही चाहिए था। ऐतिहासिक उपन्यासों की गति यदि क्षिप्र न हो तो वे कुछ नहीं रह जाते। कहानी के उपयुक्त वातावरण उपस्थित करने में वर्माजी अत्यंत कुशल हैं। राजा नायकसिंह की मृत्यु के समय वातावरण कितना तीव्र (टेन्स) है। ऐसा जान पड़ता है मानों अब कुछ हुआ, अब कुछ हुआ। घटनाओं की गति अत्यंत वेगवती है जिसके कारण उत्सुकता (सस्पेन्स बनी रहती है। शृंगार और वीर का सुंदर मेल वर्माजी के दोनों ही ऐतिहासिक उपन्यासों की विशेषता है। वर्माजी के पात्र जीते-जागते होते हैं, कठपुतली नहीं। और उनके उपन्यासों में घटनाएँ भी सभी सप्रयोजन होती हैं। प्रत्येक घटना का कुछ न कुछ तात्पर्य होता है और वे एक दूसरी से संबद्ध होती हैं। 'कुंडली चक्र' में अवश्य कुछ दोष हैं। संभवतः वह वर्माजी की प्रारंभिक रचना है, यद्यपि प्रकाशित वह उनके कई उपन्यासों के बाद हुई है। उसमें कई घटनाएँ निरर्थक एवं अनावश्यक हैं, जैसे भुजबल का रास्ते में पड़ा रुपया उठा लेनेवाली घटना और प्रेतवाली घटना। उस उपन्यास में अवश्य जान पड़ता है कि लेखक घटनाओं को तोड़-मरोड़ रहा है, पात्रों को चला रहा है। और ललितसेन तो पात्र ही विचित्र है। ऐसे मनुष्य समाज में असंभव नहीं, परंतु दिखाई नहीं देते।

वर्माजी के उपन्यासों की ऐतिहासिकता के विषय में मुझे अधिक

नहीं कहना है। 'गढ़ कुंडार' चौदहवीं शती के मध्यभारत के इतिहास-निर्माता खंगारों, बुंदेलों, पैकारों, चंदेलों और पड़िहारों का इतिहास है। पृथ्वीराज चौहान का सूबेदार खेतसिंह खंगार सन् ११९२ में पृथ्वीराज की पराजय के उपरांत स्वतंत्र हो गया था और इसके उपरांत कुंडार गढ़ में प्रायः ८० वर्ष तक खंगारों का राज्य रहा। कुंडार का अंतिम खंगार राजा हुरमतसिंह था जिसको सोहनपाल की अधीनता में बुंदेलों ने धोखे से १२८८ में मार डाला। इस युद्ध में बहुत से खंगारों का नाश हुआ और बुंदेलों का राज्य स्थापित हो गया। ये घटनाएँ इतिहास-सिद्ध हैं। इन्हीं के आधार पर 'गढ़ कुंडार' की रचना हुई है। इनमें प्रधान घटनाएँ और प्रधान पात्र सभी ऐतिहासिक हैं परंतु कथा में मनोरंजकता और प्रवाह लाने के लिए अर्जुन कुम्हार, इब्नकरीम आदि कल्पित पात्रों तथा मानवती-अग्निदत्त और तारा-दिवाकर आदि की कल्पित कहानियों की उद्भावना की गई है। परंतु यह ध्यान रखना चाहिए कि ये कल्पित पात्र, घटनाएँ और कहानियाँ पूर्णरूपेण समयानुकूल हैं। कोई ऐसी घटना, ऐसी रीति आदि कल्पित नहीं है जो उस समय संभव न रही हो। 'विराटा की पद्मिनी', जैसा पहले कहा जा चुका है, ऐतिहासिक चौखटे (फ्रेम) में जड़ा हुआ एक रोमांस मात्र है। अनेक कालों की घटनाएँ, जैसा लेखक ने स्वयं स्वीकार किया है, उठाकर एक काल में रख दी गई हैं। लेखक के अनुसार घटनाएँ सत्यमूलक हैं यद्यपि उनमें से कोई इतिहास-प्रसिद्ध नहीं है। पद्मिनी की कथा अनेक स्थानों पर प्रचलित है। विराटा, रामनगर और मुसंवली की दस्तूरदेहियों में भी पद्मिनी के बलिदान का सूक्ष्म वर्णन है। पात्रों के नाम काल्पनिक हैं। यह सब होते हुए भी लेखक ने अपनी कहानी का जो समय लिया है उसी के अनुकूल सभी घटनाएँ एवं पात्र हैं। उस समय मुगलसाम्राज्य अस्त सा हो चुका था। भारत के शासन की बागडोर फर्रुखसियर के निर्बल

हाथों में थी। परंतु यह नाम मात्र का राजा था। वास्तविक शासन वे दो मनुष्य करते थे जो इतिहास में 'सैयद भाई' के नाम से प्रसिद्ध हैं। ऐसे समय जो अवस्था प्रायः उत्पन्न हो जाया करती है वही हो रही थी। भारत के सारे राजा, नवाब और शासक स्वतंत्र हो जाने की चिंता में थे। काल्पी में भी मुसलमानों की बहुत बड़ी फौज रहती थी जिसका संबंध सैयद भाइयों से था। उत्तर और दक्षिण भारत में एक आग सी सुलग रही थी जो किसी समय भड़क सकती थी और जिसका बहुत कुछ कारण अंतिम मुगल-सम्राट की नीति थी। अनेक राजा और शासक अपना अपना गुट बनाए हुए थे और अपना अपना प्रभुत्व स्थापित करने की चिंता में थे। कुछ राजा स्वतंत्र हो भी गए थे और जो नहीं हुए थे वे अपने को राजनीतिक कारणों से नाममात्र का आश्रित समझते थे। इस प्रकार की अराजकता सदैव किसी साम्राज्य के पतन और दृढ़ शासक के अभाव में उत्पन्न हो जाती है। कुछ दिन बाद सैयद भाई अस्त हो गए। इसके बाद ही धड़ाधड़ लोग स्वतंत्र हो गए। पूर्वीय बुंदेलखंड में भी महाराज छत्रसाल की हुँकार गूँज रही थी। मुहम्मद खाँ महाराज छत्रसाल का विरोध करता फिर रहा था। किसी राजा या रजवाड़े को दिल्ली का भय नहीं था। केवल आसपास के सबल राज्यों और शासकों का भय था। जरा जरा से बहानों पर एक राजा दूसरे से लड़ बैठता था। ऐसे ही समय में वर्माजी ने अपनी कहानी की स्थापना की है। कोई घटना समय-विरुद्ध नहीं है, यद्यपि वह काल्पनिक हो सकती है। पात्र भी समयानुकूल ही हैं। फिर भी 'विराटा की पद्मिनी' ऐतिहासिक उपन्यास नहीं है।

वर्माजी की भाषा और शैली के विषय में कुछ जान लेना आवश्यक है। जैसा पहले कहा जा चुका है वर्माजी के पास कहने के लिए एक कहानी होती है चाहे वह ऐतिहासिक हो अथवा कल्पित।

वह कहानी स्वयं हृदय-ग्राही होती है। इसके अतिरिक्त वे कहानी के मार्मिक स्थलों को पहचानते हैं और उन्हें उपयुक्त स्थान एवं उपयुक्त वातावरण में उपस्थित करते हैं, जिनके कारण उनका प्रभाव बढ़ जाता है। अतएव हम यह कह सकते हैं कि वे सर्वप्रथम एक कहानी कहने वाले हैं। कहानी कहने की कला में वे अद्वितीय हैं। वे अपनी कहानी सीधे कहते चलते हैं। इधर उधर भटकते नहीं। निरर्थक वाग्जाल एवं घटनाएँ उनमें बहुत कम हैं। उनकी कहानियों का आरंभ सीधी-सादी रीति से होता है। 'विराटा की पद्मिनी' का ही आरंभ लीजिए। प्रथम पैराग्राफ में ही वे सीधे कहानी में घुस पड़ते हैं। यह बात प्रत्येक उपन्यास में मिलेगी। अनेक उपन्यासकारों की भाँति वे अपने पात्रों का परिचय देने के लिए रुकते नहीं। उनका परिचय यथासमय मिलता चलता है। एक विशेषता वर्माजी की यह भी है कि वे चरित्र विश्लेषण स्वयं नहीं करते। वे अपने को अधिक से अधिक तटस्थ रखते हैं। पात्र अपने चरित्र का परिचय स्वयं घटनाओं, परिस्थितियों और अपनी बातचीत द्वारा दे देते हैं। किसी घटना एवं पात्र की आलोचना स्वयं लेखक के शब्दों में आपको न मिलेगी। एकाध स्थान पर एकाध वाक्य चाहे मिल जाय। जैसे 'धीरज भाव-मूलक युवक था', 'हकीम आगा हैदर एक सावधान दरबारी था'। परंतु ऐसा कम होता है और जहाँ होता है वहाँ सूत्रवत्।

प्रायः वर्माजी इतनी सुंदर उपमा दे जाते है कि उपमेय का चित्र बड़ी मार्मिकता से संमुख उपस्थित हो जाता है। उदाहरणार्थ 'कुंडली चक्र', पृष्ठ १५३ पर देखिए—"फिर (रतन ने) मुसकिराकर कहा—जैसे सूखा फूल खिलने का प्रयास करे।" इस उपमा से रतन का उदास मुख और व्यथापूर्ण मुस्किराहट साकार होकर सामने आ जाती है। अथवा पृष्ठ २३२ पर—"सामने सूर्य की कोमल किरणें झुंड बाँधे चली आ रही थीं। पूना नीचा सिर किए मुँह मोड़े दूसरी

ओर खड़ी थी। आँखों से आँसू टपक रहे थे—रश्मि-रचित मार्ग पर मोती से।" "कुमुद की आँखें तरल हो गईं, ऐसी शायद ही कभी पहले हुई हों। जैसे गुलाब की पंखड़ी पर ओसकण ढलक आए हों।" (विराटा की पद्मिनी, ३४६)। इसी प्रकार "कुमुद ने अँगूठीवाले हाथ में गेंदे का फूल ले लिया। हाथ, सोने, हीरे और गेंदे के फूल के रंगों में आधे क्षण के लिए स्पर्धा सी हो उठी।" इससे हमारे सामने एक चकाचौंध उत्पन्न करनेवाला चित्र उपस्थित होता है और कवियों के 'मीलित' का भी आभास मिलता है। परंतु यह उपमाप्रियता कहीं कहीं इतनी बढ़ गई है कि उसका प्रभाव ही नष्ट हो गया है। एक के बाद दूसरी उपमाओं का ढेर लगा दिया गया है; जैसे—"धीरज ने यह सब एक क्षण में देख लिया, जैसा जीवन में पहले कभी न देखा था। जैसे नंदनकानन की अधिष्ठात्री हो। मानों अर्ध-विकसित कुसुम की अक्षय सुगंधि हो। जैसे प्रभातकालीन नक्षत्र का चिर प्रकाश हो। जैसे स्वर्गीय संगीत के मनोमुग्धकारी स्वरों ने नील आकाश में दूसरी चंद्रिका खड़ी कर दी हो। जैसे अनंत प्रकाश पुंज से अखंड धारा बह निकली हो।" एक या दो उपमाओं से जो प्रभाव उत्पन्न होता वह इतनी अधिक से नष्ट हो गया है।

वर्माजी के पास भाषा की बड़ी कमी है। यदि उनकी भाषा भी कहीं उसी कोटि की होती जिस कोटि की उनकी कहानियाँ होती हैं तो उनकी प्रतिभा में चार चाँद लग जाते। वे सीधी बात को सीधे ढंग से कह देना जानते हैं। उसे प्रभावोत्पादक बनाने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करते। सरल और स्पष्ट होने पर भी उनकी भाषा वैसी मुहावरेदार और चलती हुई नहीं होती जैसी प्रेमचंदजी की होती थी। इसका बहुत-कुछ कारण वर्माजी के उपन्यासों का कथानक भी हो सकता है। फिर भी उनकी भाषा में सुधार की बड़ी आवश्यकता और अवकाश है।

वर्माजी की भाषा में सबसे बड़ा दोष यह है कि अनेक स्थानों

पर अँगरेजी ढंग के वाक्य मिलेंगे, जो स्पष्ट रीति से अँगरेजी के अनुवाद जान पड़ते हैं। ऐसे वाक्य हिंदी की अंतरात्मा के विरुद्ध होते हैं और तत्काल खटक जाते हैं। इनसे भाषा की नैसर्गिक सुंदरता एवं स्वाभाविकता नष्ट होती है। 'कुंडली-चक्र' में इस प्रकार के वाक्य बहुतायत से मिलेंगे। जैसे ये दो वाक्य देखिए—

"भुजबल उन लोगों में से न था जो घास को थोड़ी देर भी अपने पैरों तले उगने देते हों।"—(कुं० च०, पृ० १६)।

"उसके हृदय में अवश्य ही एक ललित कोना होगा जहाँ रतन ने स्थान पा लिया होगा।"—(कुं० च०, पृ० १३७)

'घास को पैरों तले न उगने देना' और 'ललित कोना' अँगरेजी के मुहावरे हैं, हिंदी के नहीं। वे अँगरेजी के 'नाट टु अलाउ दि ग्रास टु ग्रो अंडर वंस् फीट' और 'साफ्ट कार्नर' के अनुवाद मात्र हैं। इसी प्रकार 'मेरे पैरों की उँगलियाँ एड़ी में नहीं लगी हैं'—(वि० की प०, ३५) अँगरेजी के मुहावरे 'माई टोज आर नाट इन माई हील्स' का अनुवाद है। इसी प्रकार के और भी अनेक वाक्य मिलेंगे; जैसे—पात्रता नहीं रखता (डज नौट डिज़र्व), कृपण भाव (अनजेनरस फीलिंग), अर्ध-दग्ध (हाफ बेक्ड), उपस्थिति की उपयोगिता की समाप्ति समझकर (थिंकिंग दैट दि यूटिलिटी आव हिज प्रेजेन्स हेड एन्डेड), मानसिक संगठन (मेन्टल कान्सटीड्यूशन), प्रश्न की नोक (प्वाइंट आव दी क्वेश्चन), जानकारी पाना (गेट इन्फारमेशन), भोला संकेत (इनोसेंट संजेशन), महत्त्वाकांक्षा के क्षितिज (होराइजन आव एंबिशन) आदि। एक स्थान पर तो उन्होंने उपमा भी अँगरेजी दी है "स्वर्ण को लजानेवाली बालों की एक लट"—(वि० की प०, २४७)। भारत में सौंदर्य की वृद्धि कृष्ण केशपाश से ही समझी जाती है, लाल, भूरे, सफेद, सुनहले आदि से नहीं। सुनहले केश (गोल्डेन कर्ल्स) अँगरेजी साहित्य में ही सुंदर माने जाते हैं। 'प्रेम

की भेंट' में तो दोनों के मिश्रण से एक बड़ी ही अनुपयुक्त उपमा की सृष्टि हो गई है। वर्माजी ने लिखा है 'स्वर्ण सदृश कृष्ण केश'—(पृ०,८३)। काली वस्तु की स्वर्ण से उपमा देना ठीक नही है। तनिक सावधानी से काम लेने पर ऐसी भद्दी भूल बचाई जा सकती थी। कभी कभी वर्माजी सोचते तो अँगरेजी में हैं और लिखते हैं हिंदी में। फल-स्वरूप उस स्थान की भाषा भी क्लिष्ट हो जाती है और आशय भी एकाएक स्पष्ट नही होता; जैसे—"व्यथा-थकित अतीतकालीन दिव्य मुख के फीके मंडल की संकुचित मुस्किराहट संहार की एक दुस्सह दुर्घटना है"—(कु० च० १६६) अथवा "कर्म-विधि की कोई अंतिम कड़ी अनिश्चित और अस्पष्ट भविष्य के धुँधलेपन में उसकी सारी शक्तियों के प्रयोग का आवाहन कर रही थी"—(कु० च०, १५८)।

ऐसा जान पड़ता है कि वर्माजी ने भाषा अपने अध्यवसाय और परिश्रम से सीखी है। जो भाषा उन्होंने पहले सीखी होगी वह हिंदी नहीं, उर्दू-फारसी रही होगी। हिंदी का ज्ञान बाद को प्राप्त किया गया है। ऐसी दशा में जैसी भाषा वे लिखते हैं वह अवश्य उनके लिए गौरव की बात है। यह धारणा उनके अनेक शब्दों एवं वाक्यों से उत्पन्न होती है जो उनकी पुस्तकों में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। ह्रोष्ठ, कृपालुता, एकांतता आदि शब्द भाषा का ज्ञान नहीं सूचित करते। 'एकांतता' का प्रयोग अनेक स्थानों पर हुआ है। इस दुहरे भाववाचक की कोई आवश्यकता न थी। केवल 'एकांत' ही पर्याप्त होता। इसी प्रकार उन्होंने 'हरे-भरे' के लिए 'हरित-भरित' लिखा है—"हरित-भरित प्रकाशमय फूलों से लदा हुआ विस्तृत दूर्वादल-कुंज"—(कु० च० २९)। 'हरित-भरित' के अतिरिक्त मुझे यह भी कहना है कि 'दूर्वादल' का 'कुंज' नहीं हुआ करता। मुहावरा है 'रोएँ खड़े होना' अथवा 'रोमांच होना' परंतु वर्माजी ने 'रोमांच खड़े होना' लिखा है। इसी प्रकार की 'आनंद की पुलकावली' है। 'लुप्त' के स्थान पर 'लोप',

'अवरुद्ध' के स्थान पर 'विरुद्ध', 'प्रदर्शन' के स्थान पर 'निदर्शन' आदि भी ऐसे ही हैं। 'आपका तो संगीत-शास्त्र पर भी बड़ा काबू है' के स्थान पर 'अधिकार है' होता तो अच्छा होता। घर 'फूटा' नहीं 'टूटा' कहलाता है। 'सुपात्र लड़की', 'वयस्क-प्राप्त लड़की' आदि प्रयोग भी अशुद्ध हैं। 'रास्ता' शब्द का प्रयोग वर्माजी ने स्त्रीलिंग में किया है ; 'सकरी रास्ता बना ली'—(वि० की प०, १२५) अथवा 'रास्ता फूटी है'—(कु० च०, २९), परंतु हिंदी में यह सदैव पुंलिंग होता है। शुद्ध प्रयोग होता 'सकरा रास्ता बन लिया' और 'रास्ता फूटा हैं।

विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक'

यद्यपि दो साहित्यिकों की तुलना करना एक असाहित्यिक सी बात है तो भी हम 'कौशिक'जी को प्रेमचंद-स्कूल का कहने का लोभ संवरण कर नहीं सकते। वास्तव में 'कौशिक'जी ही ऐसे लेखक हैं जो कहानी तथा उपन्यास-लेखन-कला दोनों में ही प्रेमचंद के सबसे निकट हैं। 'कौशिक'जी के वर्णन का ढंग, कथोपकथन की सजीवता तथा चरित्रों को मूर्तिमान करने की प्रतिभा प्रेमचंदजी की ही अनुगामिनी है। प्रेमचंदजी की भाँति ही इनकी भाषा भी बहुत चलती, व्यावहारिक और उपन्यास-लेखन के उपयुक्त है। परंतु यह सब होते हुए भी 'कौशिक'जी में बहुत सी अपनी विशेषताएँ हैं, जिनमें वे प्रेमचंदजी से भी आगे हैं, ऊँचे हैं, गहरे हैं। प्रेमचंद का अनुभव, इनकी पर्यवेक्षण-शक्ति अवश्य अनुपम थी और उसमें वे अपना सानी नहीं रखते, परंतु 'कौशिक'जी में प्रेमचंद की अपेक्षा हृदय का स्पंदन अधिक है। हमारे रागों को जितना ये आंदोलित करते हैं उतना प्रेमचंद नहीं। पाठक को हँसाने और रुलाने की शक्ति इनमें प्रेमचंद की अपेक्षा अधिक है। यद्यपि प्रेमचंद की भाँति इनमें कथानक और पात्रों की बहुलता नहीं पाई जाती और ये समाज, देश और जीवन

की विविध समस्याओं की उलझी गुत्थियों को एक साथ सुलझाने का प्रयत्न नहीं करते, परंतु जीवन के जिस विशिष्ट अंग को ये चित्रित करते हैं वह बहुत ही पूर्ण, स्पष्ट तथा जन-मन-मोहक होता है।

'माँ' और 'भिखारिणी' 'कौशिक'जी के दो प्रसिद्ध उपन्यास हैं। 'सुलोचना' जैसी माँ की वात्सल्य-वेदना तथा कर्तव्यनिष्ठा का 'सावित्री' जैसी मूर्ख माँ के साथ बड़ी अच्छी तुलना की गई है। 'सावित्री' ने अपने दत्तक पुत्र 'श्यामू' को अत्यधिक लाड़-चाव के कारण बिलकुल पतित तथा निकम्मा बना दिया। उसी 'श्यामूनाथ' का भाई 'शंभू' अपनी माँ 'सुलोचना' के स्नेह, आदर तथा उपदेशों के कारण एक नर-रत्न बन गया। मानव का भावी जीवन किस प्रकार माँ की योग्यता का आश्रित है इसका इस उपन्यास में बड़ा ही सुंदर चित्रण किया गया है। बालक के कच्चे सरल मस्तिष्क को सुमार्ग पर ले जाने का सबसे बड़ा दायित्व जननी पर ही है। 'सुलोचना' आदर्श माता है। 'श्यामू' को 'गोकुल' तथा 'विश्वनाथ' के साथ वेश्यालय में ले जाकर लेखक ने उस वातावरण तथा वेश्याओं के स्वभाव का भी अच्छा अंकन किया है। शाही घर की 'बेगमों' की कितनी दलित अवस्था कहीं कहीं हो गई है इसका बड़ा सुंदर दिग्दर्शन कराया गया है। 'माँ' उपन्यास प्रेमचंद के उपन्यासों की भाँति आदर्शोन्मुख यथार्थवादी है।

'कौशिक'जी की 'भिखारिणी' सभी हृदयवालों को प्यारी लगेगी। इस उपन्यास में एक भिखारिणी के अकथनीय अनुराग और अनुपम त्याग की करुण कहानी वर्णित है। फटे-पुराने आवरण के भीतर कभी कभी कितना महान् हृदय छिपा होता है इसे कौन जानता है। जन्म से ही अभावमय जीवन में पली हुई उस भिखारिणी 'जस्सो' के तरुण हृदय के अंतरतम प्रदेश की नारी-व्यथा का अनुमान कर आँखें आप से आप भर आती हैं। परिस्थितियों का गुलाम दुर्बलहृदय

'रामनाथ' आजकल के 'रोमांटिक' युवकों का सच्चा प्रतिरूप है। ऐसे युवकों की भावुकता कितनी ही कोमल कलियों को धूल में मिलाने का कारण होती है।

'कौशिक'जी के उपर्युक्त दोनों उपन्यासों की कथावस्तु बड़ी सीधी-सादी और सुलझी हुई है। उसमें जटिलता या दुरूहता का नाम भी नहीं। उनकी भूमिका बड़ी लंबी-चौड़ी नहीं होती, क्योंकि जीवन का संपूर्ण चित्र खींचने का वे प्रयास नहीं करते। थोड़े से पात्रों और साधारण घटनाओं के द्वारा जीवन के किसी यथार्थ का हृदय-स्पर्शी और पूर्ण चित्रण करके ही वे संतुष्ट हो जाते हैं। वे जो कुछ जानते हैं अच्छी तरह जानते हैं, जो नहीं जानते उसमें हाथ नहीं लगाते। इनके कथा-प्रवाह में बड़ी स्वाभाविक गति होती है और अधिकतर पात्रों के द्वारा ही कथा का संचालन होता है। कथा के प्रवाह को अवरुद्ध करनेवाले लंबे-चौड़े वर्णन इनमें मिलते ही नहीं। कथानक में सरलता होते हुए भी इनके उपन्यासों में अलौकिक रमणीयता होती है। प्रेमचंद के उपन्यासों से तो कभी कभी जी भी ऊबने लगता है, विशेषतया जहाँ वे उपदेश के पीछे पड़ जाते हैं, परंतु यह बात 'कौशिक'-जी में बिलकुल नहीं है। 'भिखारिणी' तथा 'माँ' दोनों उपन्यासों में ही घटनाएँ इस कौशल से संघटित की गई हैं कि उनकी सभी बातों को देखने पर कोई बात छूटी हुई, असंबद्ध अथवा अस्वाभाविक जान ही नहीं पड़ती, उनके सभी अंगों में साम्य और समीचीनता रहती है। इनके उपन्यासों में, जैसा कि कहा जा चुका है, घटनाओं की अनेक शाखा-प्रशाखाएँ नहीं होतीं, एक ही मूल में अंकुरित होकर एक घटना सीधे विकसित होती चली जाती है और यदि उनमें दो चार शाखाएँ भी हुईं तो वे सब आपस में इतनी संबद्ध रहती हैं कि कथा का बड़ा पूर्ण प्रभाव पड़ता है।

'कौशिक'जी के चरित्र-चित्रण का ढंग बड़ा निराला है। चरित्रों

को रूप-रेखा देने में वे अपने व्यक्तित्व को बिलकुल ही आवरण से ढक देते हैं। नाटककार की अपेक्षा उपन्यासकार को स्वयं-व्याख्या की जो सुविधा है उसका उपयोग या दुरुपयोग ये बहुत ही कम करते हैं। खंड खंड करके अपने आत्म-शरीर को वे पात्रों में बाँट देते हैं। पात्रों की बातचीत, रहन-सहन और आचरण से ही उनके चरित्र का अच्छा आभास मिल जाता है। चरित्र-चित्रण की यह रीति आजकल सबसे अधिक मान्य भी है। पात्रों की मनोवृत्ति का जितना हृदयग्राही प्रभाव उनकी बातचीत, आचार-विचार, क्रिया-कलाप के द्वारा हम पर पड़ता है उतना लेखक के बताने से नहीं। प्रेमचंद की भाँति 'कौशिक' जी के पात्र भी अधिकतर वर्गों के प्रतीक होते हैं। 'भिखारिणी' के 'रमानाथ', 'अर्जुनसिंह', 'ब्रजकिशोर' अथवा 'माँ' के 'श्यामनाथ', 'विश्वनाथ', 'गोकुलप्रसाद', ब्रजमोहनलाल', 'सावित्री' और 'सुलोचना' प्रायः सभी वर्ग हैं, व्यक्ति नहीं। 'रामनाथ' आजकल के 'रोमांस' ढूँढ़ा करते हैं परंतु विवाह की समस्या उपस्थित होते ही समाज के डर से कन्नी काटकर निकल भागते हैं। 'ठाकुर अर्जुनसिंह' पुराने ढंग के जमींदारों के अच्छे उदाहरण हैं। इसी तरह अन्य चरित्र भी वर्ग ही हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है इस तरह के चरित्रों में परिस्थितियों को मोड़ देने योग्य आत्मबल नहीं होता। वे आदि से अंत तक परिस्थितियों की प्रबल धारा में बहते चलते हैं। परंतु 'भिखारिणी' की ही 'जस्सो' बिलकुल दूसरे प्रकार का चरित्र है। वह परिस्थितियों की दासी नहीं वरन् परिस्थितियाँ स्वयं उसकी अनुगामिनी हैं। 'यशोदा' के महान् चरित्र के सामने 'रामनाथ' एक साधारण बालक सा प्रतीत होता है। प्रेम तथा लोक-लाज का जितना सुंदर निर्वाह 'जस्सो' ने किया उतना संसार की कम स्त्रियाँ कर पाती हैं।

परंतु 'कौशिक'जी की सबसे बड़ी विशेषता है उनके कथोपकथन की चुस्ती। मेरी समझ में तो संवाद लिखने में 'कौशिक'जी अपने ढंग

के बेजोड़ हैं। इनके उपन्यासों की धारा संवादों के द्वारा ही प्रवाहित होती है, उसमें वर्णन तो विरल ही होते हैं। चलती हुई व्यवहारोपयोगी भाषा पर 'कौशिक'जी का पूरा पूरा अधिकार है।

सभ्यता की दौड़ में जैसे जैसे मनुष्य आगे बढ़ता गया वैसे ही वैसे अपने लिए बंधन भी बिछाता गया। अपने ही मन को कुछ इने-गिने सिद्धांतों के भीतर बंदी करके मानव अपनी मुक्ति के लिए छटपटाने लगा। हमारी अभिलाषाएँ, आकांक्षाएँ हमारे बताए हुए नियमों के भीतर ही उमड़-घुमड़कर रह जाती हैं। हृदय कितना ही तकाजा करे, मन मन ही में मसोस उठे, परंतु क्या मजाल जो सिद्धांतों की चार-दीवारी के बाहर झाँक भी सके। अपने इन सिद्धांतों द्वारा हमने युगों से अपनी भावनाओं को इतना दबाया कि वे निर्जीव सी हो चलीं। मन के स्वाभाविक प्रवाह को हम लोग कृत्रिम समझने लगे और स्वनिर्मित रूढ़ियों को ही स्वभाव मान लिया। इस तरह दिन प्रतिदिन हम भावनाओं के वास्तविक स्वरूप को भूलते जा रहे थे। इसी के प्रतिक्रिया-स्वरूप बीसवीं शती का उपन्यास-वाङ्मय मन की ओर अधिक झुका। हमने अनुभव किया कि हमारी आकांक्षाओं की पूर्ति इन बँधे-बँधाए नियमों द्वारा ही संभव नहीं। आकांक्षाएँ भी कोई मशीन हैं जो युगयुगांतर तक एक गति से, एक ही सिद्धांत पर चलती चली जाएँ। रूढ़ियों के बंधन ने हमारे मनोभावों को कितना दबा दिया है, हमारी प्रेरणा के मूलस्रोत को कितना सुखा दिया है इसे हम आज स्पष्ट देख रहे हैं। अतः आज के साहित्यकार का सबसे बड़ा दायित्व यह है कि रूढ़ियों के पत्थर को हटाकर वह भावस्रोत को फिर से मुक्त करे। इसके लिए उसे अमोही बनकर रूढ़ियों के अंधकार को भेदना होगा और सीधे हृदय में पैठकर भावनाओं में रस घोल देना होगा। परंतु हमारे मनोभावों के मनोवैज्ञानिक आधार का अन्वेषण किए बिना यह संभव नहीं है। अतएव

जैनेंद्रकुमार

आज के कलाकार का कर्तव्य है कि वह हमें वहाँ तक पहुँचाने की चेष्टा करे जहाँ हमारी प्रेरणा-शक्ति है और हमें दिखलाए कि परिस्थितियों के प्रभाव पर हमारे मनोभावों का विकास कितनी दूर तक निर्भर है। आवश्यकता है कि हमारे ः ृयों की छान-बीन की जाय, केवल मस्तिष्क की ही न

हमें यह कहने में संकोच नहीं कि प्रेमचंद के उपन्यासों में भी इस गंभीर अन्वेषण का अभाव ही रहा। सिद्धांतों और विचारों की भूलभुलैया में ही वे इतने उलझ जाते हैं तथा हमें भी उलझा देते हैं कि मानस की गहराई की ओर गति ही नहीं रह जाती। यह बात नहीं कि वे भी हमारी कृत्रिमताओं का पिष्टपेषण ही करते रहे। उन्होंने अनेक कृत्रिमताओं की निरर्थकता दिखलाकर उसे हटाने का प्रयत्न किया, परंतु कुछ रूढ़ सिद्धांतों या विचारों के दायरे के बाहर निकालकर वे फिर हमें किसी दूसरे प्रकार के सिद्धांतों के जाल में उलझा देते हैं। इसी लिए कभी कभी लोग उन्हें उपदेशक कहने से भी नहीं चूकते। हमारे साहित्य में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भावनाओं का चित्रण करने का सबसे सफल प्रयास जैनेंद्रजी का रहा। उनके 'परख' 'तपोभूमि', 'सुनीता', कल्याणी', 'त्यागपत्र' आदि प्रायः सभी उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की ही प्रधानता है। आदि से अंत तक इनके पात्रों की प्रत्येक बात, उनका प्रत्येक संकेत, उनके मनोभावों की असलियत का प्रदर्शन करने की चेष्टा करता है। रागों के मूलस्रोत हमारे हृदय में कितनी उथल-पुथल मची रहती है, उसकी किस प्रकार अभिव्यक्ति होती है, उसका दमन कैसे होता है और उस दमन के कारण कैसी प्रतिक्रिया होती है आदि बातों का बड़ा कुशल वर्णन इनके उपन्यासों में मिलता है।

'परख' संभवतः १९३० में प्रकाशित हुआ था। इस उपन्यास में थोड़े से पात्रों को लेकर उनके मनोजगत का वैज्ञानिक चित्रण इस

कौशल से किया गया कि मानव-मन के अलौकिक पारखी प्रेमचंदजी भी रीझ उठे। 'हंस' (वर्ष ३, संख्या ४) में इसका उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा—"उनमें अंतःप्रेरणा और दार्शनिक संकोच का संघर्ष है, इतना हृदय को मसोसनेवाला, इतना स्वच्छंद और निष्कपट, जैसे बन्धनों में जकड़ी हुई आत्मा की पुकार हो"। 'कट्टो', 'सत्यधन' आदि प्रधान पात्रों के भीतर पैठकर, गहराई में जाकर जब हम देखते हैं तो हमें एक अविराम संघर्ष मिलता है। यह संघर्ष बुद्धि और अंतस् का है। अंतस् का वेग उन्मुक्त है। आकर्षण उसका विषय है। वह खिंचना जानता है, आदेश देना नहीं। वह गिरता है और उसके साथ-साथ गिरना कठिन नहीं होता वरन् न गिरना कठिन होता है। परंतु 'अच्छे और बुरे' की निर्णायिका जो हमारी बुद्धि है वह सदैव चाबुक लेकर अंतस् के इस वेग का नियंत्रण करने के लिए प्रस्तुत रहती है। बुद्धि-विशिष्ट चतुष्पद मानव ने समाज की सत्ता अक्षुण्ण रखने के लिए अंतस् के वेग को, जो वास्तव में मस्तिष्क के ऊपर है और मस्तिष्क के अनुशासन का अधिकारी है, अनेकानेक कृत्रिम नियमों से जकड़ना आरंभ किया। कृति से स्वयं कर्ता बन बैठा। परंतु उसका यह अहं, यह कृत्रिम नियमन प्रकृति के रहस्य को, उसके आग्रह को रोक न सका। समाज का दर्प कहता है कि विश्व का सम्राट अमुक नारी को अपना हृदय दान करे, परंतु हृदय का प्रवाह अपने आप ही दूसरी ओर बह जाता है—साम्राज्य को कुचलता हुआ, उस पर थूकता हुआ। हृदय के रहस्यों के सामने कृत्रिम सामाजिक नियमों को हार खानी ही पड़ती है। परंतु इस हार को भी समाज कब हार मानता है। हारकर भी वह जीतने का प्रयत्न करता ही है। अपने नियमों से वह व्यक्ति को कठोरतम दंड देता है, वैसे ही जैसे खेल में हार जाने पर कमजोर बच्चा दाँत काट ले। प्रकृति हँसती है उसकी इस अहंमन्यता पर और फिर फिर चोट

करती है उसके इस दंभ पर। इन्हीं प्राकृतिक तथा सामाजिक नियमों की विषमता से अनेकानेक समस्याओं का जन्म होता है। हाँ, तो इसी प्राकृतिक नियम के आग्रह से, बुद्धि-विधान से विधवा ठहराई गई एक नटखट हँसोड़ देहातिन 'कट्टो' ने न जाने कब अपने हृदय की सारी श्रद्धा, सारा विश्वास, समस्त अनुराग अपने एक 'मास्टर' के चरणों में निछावर कर दिया। वह विधवा बन बैठी और खरीद लाई—"दो चूड़ियाँ लाल, एक बिंदी-टिकियों की डिबिया" और लिख दिया उन्हें "मुझे अब से 'कट्टो' न कहना; लाज आती है × × × तुम्हें मेरी कसम"। आत्म-समर्पण में तथा उन मास्टर में उसका अडिग विश्वास था। कितने निश्चल भाव से वह 'बिहारी' से कहती है, "विवाह की बात पक्की हो गई है, तुम वृथा आए हो। विवाह की बात पक्की नहीं कर सकोगे।" और जब 'बिहारी' ने 'सत्यधन' की वास्तविक मनोभावना, उसकी कठिनाइयों तथा परिस्थिति को अनावृत करके उसके सामने रख दिया तो वह बेहोश होकर भी होश में आ जाती है। हृदय के तीव्र वेग पर बुद्धि का अनुशासन हो जाता है और वह कह उठती है, "बिहारी बाबू, आप जाओ। उनसे कह देना कि अपने कामों में 'कट्टो' की गिनती न करें। मेरे पीछे उन्हें थोड़ी भी चिंता भुगतनी पड़ी तो मैं अपने को क्षमा न कर सकूँगी। मैं क्या रही जो मेरे पीछे उन्होंने दुख भुगता। × × × बड़ा सौभाग्य है कि आखिर मैं उनके किसी काम तो आऊँगी।" 'सत्य' के पास जाकर भी वह भक्तिभाव से निवेदन करती है, "मैं तो तुम्हारी ही हूँ, मुझसे बोलते, मुझसे माँगते डरते हो? जैसे पराए से कुछ माँग रहे हो? छिः, सो नहीं। तुम्हारे काम नहीं आई तो हुई ही क्या? × × × जो कुछ भी तुम चाहते हो उसमें 'कट्टो' की खूब राय है। 'कट्टो' उसे खूब चाहती है। उसका पूरा पूरा विश्वास रखो। तुम्हारी खुशी में उसकी मौत है। अपने कामों में 'कट्टो' की

गिनती न करो। वह गिनने लायक नहीं। उसकी खुशी में ही शामिल है। बस। तुम ब्याह करना चाहते हो तो कट्टो तुम्हारी सबसे पहले तुम्हारा ब्याह चाहती है"। इतना कहकर भावी 'जीजी' से प्रथम दिन भोजन कराने की स्वीकृति लेकर, अपने देवता की चरण-रज लेकर, आँखों में आँसू लेकर, हृदय में विश्वास लेकर, हार में जीत लेकर वेदना की आँधी सी वह निकल जाती है। और फिर अपनी ही वेदना को, उसी पीर को, उसी उत्सर्ग-भावना को बिहारी में पढ़कर वह बँध जाती है उसके साथ। "दूर—फिर भी बिलकुल पास। अलग—फिर भी बिलकुल एक। एक ही उद्देश्य, एक ही जीवन-लक्ष्य"। और दोनों ही प्रतिज्ञा करते हैं, "हम वैधव्य-यज्ञ की प्रतिज्ञा में एक-दूसरे का हाथ लेकर आजन्म बँधते हैं। हम एक होंगे—एक प्राण दो तन होंगे। कोई हमें जुदा नहीं कर सकेगा" उसी दिन 'कट्टो' का 'पूर्ण विवाह हुआ। वैधव्य सार्थक हुआ'। और उसी दिन उसने अपना सारा सुहाग एक पोटली में लपेटकर 'गरिमा' के लिए भेज दिया। ऐसी है वह 'कट्टो'।

और इस 'कट्टो' नारी का पुरुष-संस्करण 'बिहारी' आत्मिक व्रत का व्रती है। उसने अपने जीवन का आदर्श कुछ बहुत ही स्पष्ट और निर्णीत धारणाओं पर गढ़ रखा है 'सत्यधन' की भाँति उसमें द्वैत नहीं है; इसीलिए वह हल्का हल्का बना रह सकता है—क्योंकि वास्तव में वह खूब भारी है। 'सत्यधन' की तरह उसमें वितर्क-बुद्धि, आत्म-प्रवंचना तथा थोथी दार्शनिकता नहीं है। उसके व्यक्तित्व का लंगर खूब गहराई में, बड़ी मजबूती के साथ, कुछ सिद्धांतों में गड़ा हुआ है, और इसीलिए वह चाहे दुनिया के पानी पर कितना भी लहराता क्यों न रहे, डिग नहीं सकता। वह हँसना भी जानता है रोना भी; परंतु रोकर रोने से हँसकर रोना ही अच्छा समझता है। इसीलिए वह अपने विषय में दुनिया को धोखा भी दे सकता है।

'सत्यधन' जैसे व्यवहार-बुद्धिवाले व्यक्ति उसकी गहराई को नहीं पा सकते। 'कट्टो' में स्वयं वही गहराई है, इसीलिए तो वह उस तक पहुँच सकी। 'कट्टो' के लिए 'विहारी' के हृदय में असीम प्रेम तो है ही, साथ ही घोर करुणा भी। 'सत्यधन' की हृदय-हीनता पर वह बार बार रो उठता है। 'कट्टो' और 'विहारी' के परिणाय में लेखक ने एक नवीन भावना, नूतन आदर्श चित्रित किया है। उनका मिलन शारीरिक नहीं, केवल आत्मिक है। 'कट्टो' ने 'बिहारी' में अपना प्रतिरूप देखा और 'बिहारी' ने 'कट्टो' में। शरीर के स्थूल आवरण को भेदकर ये दोनों छायाएँ एकाकार हो गईं। भौतिकता को भेदकर, आत्मिकता की गहराई में पैठकर 'परख'कार ने जिस सत्य का चित्रण किया उसके साथ सौंदर्य और मंगल विवशतापूर्वक खिंच आए हैं।

'परख', 'तपोभूमि', 'सुनीता' या 'जैनेंद्र' की अन्य कृतियों का यथार्थ मूल्य निर्धारित करने के लिए साहित्य-विषयक उनके विचार महत्त्व के हैं। अपने 'विचार' के पृष्ठ २६० पर साहित्य का विवेचन करते हुए उन्होंने लिखा है, "जो हमारे भीतर की रुद्ध वेदना को, पिंजरबद्ध भावनाओं को, रूप देकर, आकाश के प्रकाश में मुक्त नहीं करता, जिसमें अपने स्व का सेवन है और दान नहीं, वह भी साहित्य नहीं है। साहित्य का लक्षण रस है, रस-प्रेम है। प्रेम अहंकार का उत्सर्ग है। × × × हृदय का उत्सर्ग अधिक स्थायी है। इससे भी ऊपर है अपने सर्व-स्व का उत्सर्ग। जहाँ अपने प्रिय को पाने की कामना का भी उत्सर्ग है, जहाँ सर्व-स्व-समर्पण है वहाँ सर्वाधिक स्थायी तत्त्व है। उसी तत्त्व के पाप से हम लोग मरणशील अथवा अमर इन संज्ञाओं से साहित्य का विवेक किया करते हैं। उसी प्रकार जहाँ हमारे जितने ऊँचे अंश का उत्सर्ग है, वहाँ साहित्य में उतनी ही उच्चता है।" यदि 'जैनेंद्र' के ही शब्दों में कहें तो 'परख' के 'बिहारी' और 'कट्टो' में अपने स्व का दान ही दान है, सेवन कुछ नहीं।

'सत्यधन' के चरणों में 'कट्टो' ने अपने हृदय का उत्सर्ग तो कर ही दिया था परंतु इससे आगे बढ़कर भी उसने 'सत्यधन' को पाने की कामना को भी उसके हित के ऊपर निछावर कर दिया। इसी प्रकार 'बिहारी' का उत्सर्ग अलौकिक है। वास्तव में 'परख' चिंतनशील 'जैनेंद्र' के भाव-चित्रण का बड़ा सफल प्रयत्न है। उपन्यास की नपी-तुली परिपाटी को छोड़ एक निराले ढाँचे में, एक नवीन भाव (idea), एक सार्वभौम सत्य तथा एक नया आदर्श प्रतिष्ठित करके जैनेंद्र ने 'कुछ आगे की, भविष्य की संभावनाओं की' बड़ी सुंदर झाँकी दिखाई। आज और कल का, स्वार्थ और परमार्थ का, लोक और लोकातीत का ऐसा सुंदर समन्वय हिंदी-साहित्य में कम मिलता है।

'परख' के उपरांत जैनेंद्र तथा ऋषभचरण जैन की संमिलित कृति 'तपोभूमि' के दर्शन हुए। अलग अलग चार व्यक्तियों—'नवीन', 'धरणी', 'सतीश' तथा 'शशि' ने अपनी अपनी जीवन-कहानी कह-कर इसे उपन्यास बना दिया है। 'नवीन' और 'धरणी' की कहानी 'परख'-कार की कहानी है जिसने पुस्तक के दो-तिहाई पृष्ठ घेर लिए हैं। यदि अपने 'भाइयों की आज्ञा मानकर' ऋषभचरण जैन ने 'सतीश' की कहानी लिखकर पुस्तक पूरी न की होती तो भी वह अधूरी न रहती। जो कुछ जैनेंद्र ने लिखा है वह अपने आप पूर्ण है और उनकी भावनाओं तथा आदर्शों को पूरी पूरी तरह व्यक्त कर सका है। परंतु जिज्ञासु पाठकों के लिए कहानी बड़ी चीज होती है। इसलिए 'तपोभूमि' को पूरा करके ऋषभचरण जैन ने इस उद्देश्य की पूर्ति तो कर ही दी। उपन्यास के इन दोनों अंगों में उतना ही अंतर है जितना जैनेंद्रकुमार और ऋषभचरण जैन में। मेरा यह तात्पर्य नहीं कि ऋषभचरणजी अपनी कहानी कहने में सफल नहीं रहे। केवल इतना ही निवेदन है कि वे अपने को अपने 'भइया' में

एकाकार नहीं कर सके। न जाने जैनेंद्रजी इस उपन्यास का अंत किस प्रकार करते, किंतु हमें तो ऋषभचरणजी द्वारा किया हुआ अंत कुछ अधिक भाया नहीं। अपनी अपनी रुचि।

'परख' की भाँति आत्म-विश्लेषण और आत्म-निवेदन ही 'तपो-भूमि' की भी कसौटी है। 'नवीन', 'धरणी', 'शशि' तीनों में 'पर' के लिए 'स्व' का बलिदान ही अधिक लक्षित होता है। 'नवीन' वचपन के दिनों से ही 'शशि' को अपने हृदय के स्तर-स्तर से प्यार करता था, परंतु जिस समय शशि के साथ अभिन्न-जीवन होने की कल्पना चुटकियाँ ले रही थी, परिणय का द्वार उन्मुक्त था, उसी समय उसको कर्तव्य का आवाहन मिला। उसने देखा 'धरणी' उसके वालबंधु 'सतीश' की भगिनी, स्वयं उसकी बाल-सहेली, विधवा 'धरणी' को चीरफाड़ डालने के लिए समाज का दानव अपने नख-दंत की समस्त भीषणता लेकर खड़ा है। और यह धरणी भी विचित्र है, महान है। उसने भूल की, पामर पुरुष के प्रलोभनों को समझ न सकी, यौवन के दुर्दम्य आग्रह को झेल न सकी। उसने पाप किया; उससे पाप कराया गया। और प्राकृतिक प्रेरणा से जब यह पाप अपने परिणाम का विस्तार करने लगा तो भीरु पुरुष अपने ही बनाए हुए नियमों की भीषणता से सिहर उठा। हम स्वार्थ के कीड़े, पाप पर पाप लादकर हृदय की पवित्रता की आवाज को दबा देना चाहते हैं। विवाह के दामन में जो चाहे कुकर्म किए जायँ, सब क्षम्य। पर प्राकृतिक प्रेरणा की तनिक भी दुर्दम्य स्वीकृति बर्दाश्त नहीं। उसे हम पाप से धोना चाहते हैं। परंतु मातृवेदना संयुक्त 'धरणी' ने पुरुष के इस पाप-प्रस्ताव को स्वीकार न किया। पाप को पाप से छिपाकर उसकी भीपणता को और भी वढ़ाकर समाज में सुर्ख रूई लूटने से उसने साफ नकार दिया। समाज के अहं पर एक अबला के द्वारा यह भयंकर चोट थी। समाज ने किटकिटाकर कहा 'या करो, या

मरो', तुम्हारे लिए तीसरा रास्ता नहीं। 'धरणी' ने मृत्यु को ही वरण किया। आत्म-प्रवंचना उसे स्वीकार न हुई। अंतःप्रेरणा और मानसिक संघर्ष में पड़े हुए अपने देवता 'नवीन' के देखते देखते वह छम्म से गंगा में विसर्जित हो गई। 'नवीन' का वितर्क शिथिल पड़ा, अंतस् का वेग उमड़ चला, अपने हृदय की चिरसंचित लालसाओं को—'शशि' के पाने की कामना को—उत्सर्ग करके, व्यक्ति को पैरों से कुचलता हुआ वह बढ़ चला 'धरणी' के उद्धार के लिए, समाज के प्रायश्चित्त के लिए। और उसने पाया 'धरणी' को इलाहाबाद की प्रसिद्ध वारविलासिनी के रूप में। वह सिहर उठा, आँखें मीच लीं, पागल हो गया। परंतु पास जाने पर उसने देखा चारों ओर पाप से घिरे रहने पर भी वह ऐसे ही निर्लिप्त है जैसे जल पर कमल-पत्र। पानी में रहते हुए कमल की तरह पानी में तैरते रहना ही तो महत्ता का लक्षण है? पाप-पंक में से खिलकर फूट निकलना ही तो पुण्य-श्लोक महात्माओं की विशेषता है! और फिर, इस पाप-पंकिल-पद्म-पदों में अपनी सब कामनाओं को चढ़ाकर 'नवीन' समाज के गुरु दायित्व को अपने कंधों पर झेल लेता है। 'शशि' की याद आती है, बुलाती है, दिल कहता है 'जाओ ही', परंतु उस दिल को दबाकर उस याद को भुलाकर वह अटल-अचल खड़ा रहता है। 'धरणी' का 'शशि' के पास जाने के लिए अनुरोध सुनकर वह कहता है—"मैं व्यक्तिगत कर्तव्य को जानता हूँ। वह मेरे हृदय की लालसाओं से सना हुआ है। मैं उससे डरता हूँ क्योंकि वहाँ मुझे अपने हृदय की भूख की तृप्ति दिखाई पड़ती है। समाज के जिस गुरु प्रायश्चित्त को मैं संपन्न करने की चेष्टा कर रहा हूँ वह इन लालसाओं से अछूता है। मैं उसका आह्वान करता हूँ—क्योंकि वह मेरी भूख को और धधकाता है, शांत नहीं करता। यही समष्टि के लिए व्यक्ति का समर्पण ही जैनेंद्र के उपन्यासों का रहस्य है। 'तपोभूमि' की 'शशि' भी इसी

उत्सर्ग की उज्ज्वल कहानी है। वह कितनी कोमल, कितनी सहनशील है! वह सब तरह का अत्याचार और सब तरह की वेदना को दिल की तह में छिपाए रह सकती है। 'नवीन' को भूलना उसके वश की बात नहीं। फिर भी कर्तव्य तो करना ही होगा। इसी लिए भीतर रोती हुई भी बाहर हँसती है। जिसे संसार ने, समाज ने, धर्म ने पति कहकर उसके ऊपर बिठा दिया उसका मान तो रखना ही होगा। 'सतीश' तथा 'शशि' का संयोग केवल लौकिक था, आत्मिक नहीं। फिर भी इस लौकिक अत्याचार को, इस सामाजिक कर्तव्य को उसने बड़े ही मूक भाव से ग्रहण किया। यह आत्म-निवेदन ही उसे अलौकिक बना देता है। 'सतीश' के द्वारा 'नवीन' की हत्या के उपरांत जब हम उसे देखते हैं तो अकस्मात रोना आ जाता है। एक उज्ज्वल स्वर्गीय तारिका मानों पार्थिव धूल में बिखरकर खो गई हो।

'परख' और 'तपोभूमि' दोनों में ही कहानी की संघटना पर्याप्त व्यवस्थित और सुगठित है। यद्यपि लेखक ने "जगह जगह कहानी के तार की कड़ियाँ तोड़ दी हैं। वहाँ पाठक को थोड़ा कूदना पड़ता है", फिर भी यह आयास हमें अखरता नहीं। हमारे विचार से तो जहाँ पर लेखक राई-रत्ती बात बताता जाता है, हमारी कल्पना के लिए कुछ भी नहीं छोड़ता, वहाँ हमारा आकर्षण कुछ घट ही जाता है, बढ़ता नहीं। जैनेंद्रजी की यही विशेषता उनकी 'परख' में लक्षित होती है। वे हमें उतना ही बताकर रुक जाते हैं जितने की हमें आवश्यकता होती है। हमें बिलकुल कल्पना-विहीन समझकर वे "एक राजा का बेटा" से आरंभ करके "जैसा उसका राज-पाट लौटा वैसा सबका लौटे" तक पूरी गाथा नहीं गाते। प्रेमचंद तथा उस ढंग के प्रतापनारायण, 'कौशिक' आदि लेखकों में यह अथ से इति तक कहानी कहते जाने की प्रवृत्ति बड़ी प्रबल है। गुलेरीजी की 'उसने कहा था' कहानी का प्रधान आकर्षण 'जगह जगह कहानी के तार की

कड़ियाँ' तोड़ देने ही में है। 'परख' के विषय में जैनेंद्रजी ने कहा है, इसमें मैंने "कहीं एक साधारण भाव को वर्णन से फुला दिया है; कहीं बारीकी से काम लिया है, कहीं लापर्वाही से; कहीं हल्की-धीमी कलम से काम लिया है, कहीं तीक्ष्ण और भागती से;—मैं समझता हूँ, यह सब कुछ चित्र में खूबी और असलियत लाने के लिए ज़रूरी हो पड़ता है। यह कम-ज्यादे रंग की शोभा रंग-बिरंगेपन में और स्वाद देती है"। वास्तव में 'परख' और 'तपोभूमि' में भी जैनेंद्र के वर्णन का ढंग बड़ा मनमोहक है। प्रेमचंदजी के शब्दों में 'उनमें साधारण सी बात को भी कुछ इस ढंग से कहने की शक्ति है जो तुरंत आकर्षित करती है।' इनके वर्णन में एक खास लोच, एक खास अंदाज है।

पहले कहा जा चुका है कि आधुनिक उपन्यास-वाङ्मय का झुकाव मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की ओर अधिक है। कहानी की मनोरंजकता, घटनाओं की योजना आदि पर उतना ध्यान न देकर आज के कलाकारों की दृष्टि चरित्र-अध्ययन (Character study) पर ही अधिक जमती है इसके लिए वे वैज्ञानिकों की भाँति प्रत्येक पात्र के मर्म में पैठकर उसका विश्लेषण करते हैं और उसकी सफलता में ही संपूर्ण कला मानते हैं। कहना न होगा कि यह मनोवैज्ञानिक छानबीन वहीं तक वांछनीय है जहाँ तक यह साधन या उपकरण के रूप में प्रयुक्त होती है। जब इस मनोवैज्ञानिक विश्लेषण या प्रयोग को ही साध्य मान लिया जाता है तो साहित्यकार पूरा दार्शनिक या वैज्ञानिक बन बैठता है, और हम उसे संदेह की दृष्टि से देखने लगते हैं। उपन्यासकार को यह भूल न जाना चाहिए कि कहानी उपन्यास का प्रधान अंग होती है और अधिकतर पाठक कहानी के मोह से ही उपन्यास पढ़ते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि वर्णन-शैली के द्वारा भी एक प्रकार का आकर्षण उत्पन्न किया जा सकता है, मानव-संबंध

की भावना उत्पन्न करायी जा सकती है। परंतु फिर भी घटनाओं के प्रति मानव-मन का जो पुरातन आकर्षण चला आ रहा है वह रहेगा ही। मनोवैज्ञानिक विश्लेषणवाले उपन्यासों में भी कहानी-तत्त्व का ध्यान रखना ही पड़ेगा और इस प्रकार कहानी के पात्र, उनकी सजीवता-स्वाभाविकता की जाँच एवं उद्देश्य आदि की उपेक्षा नहीं की जा सकेगी। 'परख' तथा 'तपोभूमि' में यद्यपि पात्रों के मानसिक विश्लेषण पर अधिक ध्यान दिया गया है और इस विश्लेषण का ढंग भी बड़ा आकर्षक है फिर भी कहानी का अपना अलग ही महत्त्व और आकर्षण है। पात्र प्रायः सभी सजीव हैं और सबको लेखक के हृदय की सहानुभूति मिली है। घटनाएँ यद्यपि थोड़ी हैं, परंतु जितनी हैं वे तर्क-संगत और उपयुक्त हैं। उद्देश्य भी महान् और स्पष्ट है। परंतु 'सुनीता' में जैनेंद्र ने मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को इतना महत्त्व दिया कि वे स्पष्ट दार्शनिक बन बैठे। 'हरिप्रसन्न', 'श्रीकांत' तथा 'सुनीता' का इस ढंग से चित्रण किया गया कि साधारण पाठकों को यह उपन्यास बेढंगा लगे तो कोई आश्चर्य नहीं। सारी पुस्तक 'सुनीता', 'हरि' तथा 'श्रीकांत' के पारस्परिक दार्शनिक वादविवाद से ही भरी पड़ी है, जिसके कारण कहानी में तो कुछ रह ही नहीं गया है।

कहानी का 'हरिप्रसन्न' एक राष्ट्रीय कार्यकर्ता है। वह अपने मित्र 'श्रीकांत' के यहाँ रहने लगता है। 'श्रीकांत' उसके निरुद्देश्य बहते हुए जीवन-प्रवाह को अधिक संयमित देखना चाहता है। उसकी स्त्री 'सुनीता' 'हरि' को समझने का प्रयत्न करती है। 'हरिप्रसन्न' जिसका जीवन बड़े संकुचित दायरे में पला था, अपनी इस 'भाभी' की ओर आकर्षित होने लगता है और धीरे धीरे यह आकर्षण आसक्ति का रूप धारण करता जाता है। 'श्रीकांत' 'सुनीता' के द्वारा 'हरि' को बाँधने के लिए, अधिक उपयोगी बनाने के लिए कुछ दिन दोनों को

अकेले छोड़ जाता है। उसकी इस अनुपस्थिति में 'हरिप्रसन्न' 'सुनीता' को अपने क्रांतिकारी दल की नेत्री बनाने का प्रस्ताव करता है। वह उसे 'एक नारी, चिरंतन माता, एक देवी'—जहाँ से दलवाले स्फूर्ति लें और जिसके समक्ष वे शपथ लेकर आगे बढ़ें—के रूप में देखना चाहता है। बहुत तर्क-वितर्क के उपरांत 'सुनीता' सहमत हो जाती है और 'दल' का संघटन देखने के लिए 'हरि' के साथ अकेली चली जाती है। 'हरि' की कामुकता भभक उठती है और वह 'सुनीता' को समूची पाना चाहता है। इस मोहमुग्ध पुरुष के सामने बिलकुल नग्न होकर 'सुनीता' उसके मोह को करुणा की तरलता में घुला देने का प्रयत्न करती है। 'हरि' का मोह टूटता है। 'सुनीता' को घर लौटाकर वह सदैव के लिए चला जाता है और 'सुनीता' जिसने पति के आदेश से ही आत्म-समर्पण किया था, पति के प्रेम में अपने को छिपा लेती है।

यह है 'सुनीता' की कहानी। वास्तव में इसमें कहानी का आकर्षण अत्यंत नगण्य है। 'श्रीकांत', 'सुनीता' या 'हरिप्रसन्न' जैसे पात्र इस संसार में बिरले ही होते हैं। 'हरिप्रसन्न' का चरित्र किन अवयवों से संघटित हुआ है यह भी पता नहीं चलता। उसमें हमें एक साथ ही शिल्पी, कलाकार, दार्शनिक तथा क्रांतिकारी की झलक मिलती है। परंतु वास्तव में वह क्या है, क्या होकर रहना चाहता है इसका पता अंत तक नहीं लगता। सारी पुस्तक समाप्त कर हम खोए हुए से अनुभव करते हैं कि 'हरिप्रसन्न' को हमने बिलकुल नहीं जाना। अपने चारों ओर उसने ऐसी भूलभुलैया का जाल बुन रखा है कि हम उसे सुलझा नहीं पाते। इसी तरह इस 'हरि' का मित्र 'श्रीकांत' भी विचित्र है। 'हरि' के लिए उसके हृदय में बड़ी ममता है। वह जानता है कि 'हरि' में प्रतिभा है, कला है, साहस है, सूझ है। और इसी लिए वह चाहता है कि यह व्यक्ति

भटकता न रहे, उद्भ्रांत न रहे, किसी प्रयोजन में नियोजित कर दिया जाय। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह अपनी प्रिय पत्नी को ही साधन बनाता है। उसी के द्वारा 'हरि' को बाँधना चाहता है। 'श्रीकांत' की पत्नी 'सुनीता' भी असाधारण है, अलौकिक है ! अपने विषय में हमें भुलावा देने में वह पटु है। वह 'चौका-बासन' करनेवाली भोली 'सुनीता' कितनी रहस्यमयी है इसका अनुभव हमें पुस्तक के अंतिम कुछ पृष्ठों में ही होता है। इस तरह इस उपन्यास की घटनाएँ तथा पात्र सभी एक दृष्टि से अविश्व-सनीय हैं।

परंतु हमें इन सब बातों पर विचार करने का अधिकार भी नहीं है। भूमिका में ही साफ साफ शब्दों में "कहानी सुनाना मेरा उद्देश्य नहीं" कहकर लेखक ने आलोचकों का मुँह ही बंद कर दिया है। कहानी अव्यवस्थित है या सुगठित, तर्कसंगत है या अस्वाभाविक आदि अन्य बातें देखने का अधिकार ही नहीं रहा। रहा चरित्र-चित्रण। इस संबंध में भी अधिक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जब कोई कहानी ही नहीं है तो पात्रों के व्यवहार की जाँच, जो कहानी के पृष्ठाधार पर बहुत कुछ निर्भर करती है, यहाँ नहीं की जा सकती। अब इस पुस्तक को आँकने का एक ही आधार बच रहता है और वह है इसका उद्देश्य।

वास्तव में 'सुनीता' के उद्देश्य को न समझ सकने के कारण ही इस पर बड़ी बड़ी कटु आलोचनाएँ निकलीं, और सच बात तो यह है कि जिस उद्देश्य की अभिव्यक्ति के लिए इस उपन्यास की रचना हुई उसे साधारण बुद्धिवाले लोग समझ भी नहीं सकते। अतएव यह आवश्यक हुआ कि जैनेंद्रजी स्वयं अपनी कृति की व्याख्या कर उसके वास्तविक रूप से लोगों को परिचित कराएँ। 'आलोचक के

प्रति'* उन्होंने लिखा—"बेशक जो 'घर और बाहर' † में है वही 'सुनीता' में भी है।—वही समस्या है। × × × × समस्या सदा तिखूँट है। जगत में मूलपक्ष दो हैं—'स्व' और 'पर'। 'स्व' यानी 'मैं'। 'मैं' अर्थात भोक्ता और ज्ञाता। 'पर' अर्थात् भोग्य और ज्ञेय। अपने को भोक्ता मानकर अपनी भोग्य बुद्धि के परिमाण के अनुसार मैं 'पर' को फिर दो भागों में बाँट डालता हूँ—पहला जो मेरा है, दूसरा जो मेरा नहीं है। इसी स्थान पर समस्या बन खड़ी होती है। जिसे 'मेरा' माना उस पर मैं कब्जा चाहता हूँ, जो 'मेरा' नहीं है उससे विरोध ठानता हूँ। इस भाँति 'मैं' जीता और बढ़ता हूँ।—यही जीवन की प्रक्रिया है।

"असल में 'स्व' और 'पर' का विभेद माया है। जीवन की सिद्धि उनके भीतर अभेद अनुभूति में है। पर अभेद कहने से ही तो संपन्न नहीं हो जाता,—उसी के लिए है साधना, तपस्या, याग-यज्ञ। जाने अनजाने प्रत्येक 'स्व' उसी सिद्धि के लिए बढ़ रहा है, दूसरे उसे बाहर से भी ले रहे हैं। संसार में इस प्रकार की द्विमुखी प्रकृतियाँ देखने में आती हैं जिन सबके भीतर 'स्व' विशद ही होता चलता है,—'मेरा' का परिमाण संकीर्ण न रहकर विस्तृत ही होता है। जितना वह 'मैं' विशद और विस्तीर्ण होता है, अहंकार के भूत का जोर उस पर से उतना ही उतरता जाता है।

" 'मैं' और 'मेरा' इन दोनों को मिलाकर व्यक्ति अपना घर बनाता है। उस घर में व्यक्ति अपना विसर्जन देता और शेष विश्व से आहरण करता है।—दुनिया में से कमाता है। घर में खर्च करता है; जगत से लड़ता है, घर की चौकसी करता है; संसार पर

---

* देखिए 'जैनेंद्र के विचार', पृष्ठ ५८।

† रवि बाबू का 'घरे बाहिरे'।

अपनी शक्ति का परीक्षण करता है, घर में प्रेम का आदान-प्रदान। घर उसके लिए हाट नहीं है। इस 'घर' का ही नाम विकास-क्रम से परिवार, नगर, समाज, जाति, राष्ट्र आदि होता है।

"इसलिए अगर समस्या को आब्जेक्टिव विज्ञान की राह से नहीं सब्जेक्टिव कला और हृदय की राह से अवगत और आयत्त करना है, तो उसका यही तिखूँट रूप होगा—मैं, मेरा, मेरा नहीं।

"अब यहाँ एक और भी तत्त्व है जिसे मैं अपना मानता हूँ, अर्थात् मेरी संपत्ति, मेरी चीज आदि,—वह भी अपने आपमें अहं-शून्य नहीं है। उसमें भी सब्जेक्टिविटी है। फिर भी जो अंश मेरा बन चुका है उसकी सब्जेक्टिविटी कुछ अनुगत हो गई हुई है। इसीसे समस्या के चित्रण में मानव-संबंधों की अपेक्षा 'मेरा' का प्रतीक बन जाती है पत्नी। पत्नी घर का केंद्र है। वह मेरी है पर स्वयं भी है, अनुगत है पर जड़ पदार्थ नहीं है,—सहृदय है और उसमें भी व्यक्तित्व है।

"इन स्वामी और पत्नी के साथ ही, किसी कदर उनके बीच में, आता है तीसरा व्यक्ति जो 'पर' का प्रतीक है। वह भी एकदम अपरिचित नहीं है (अपरिचित कैसे हो सकता है भला ?) प्रत्युत स्पृहणीय है, और वह स्वाधीनतापूर्वक प्रबल है।

"कवि रवींद्र ने 'घर' में 'बाहर' का प्रवेश कराया। 'घर' इससे विक्षुब्ध हो उठा है। वहाँ 'बाहर' 'संदीप' के रूप में अनिमंत्रित है पर प्रबल है। 'घर' की विक्षुब्धता गहन होती जाती है; मानों 'बाहर' के धक्के से घर टूट जायगा। 'बाहर' का धक्का दुर्निवार है. सर्व-ग्रासी है। समस्या घोरतर से घोरतम होती जाती है तब क्या होता है? —तब कुछ होता है जिससे समस्या बंद हो जाती है। 'संदीप' पलायन कर जाता है। पत्नी मुड़कर पति के प्रति क्षमाप्रार्थिनी बनती है और फिर पत्नीत्व में अधिष्ठित होती है। एवं, मानों तय होता है

कि 'घर' को 'बाहर' के प्रति निरभिलाषी विमुख होकर ही बैठना होगा।

" 'कवि' की लेखनी की समता ही क्या ! वह अतुलनीय ही है। पर मेरे मन को समाधान नहीं मिला। 'घर' अपने आपमें अपने को 'बाहर' के प्रति दुष्प्राप्य और प्रतिकूल बनाकर बैठे और उस 'बाहर' को सर्वथा बहिष्कृत और विरुद्ध बनाए रखे—क्या यह समाधान है ? क्या यह सिद्धि है ? यहाँ अभेद कहाँ है, यहाँ तो भय है। प्रेम कहाँ है, यहाँ तो अप्रेम भी है। ऐसा हो तब तो समस्या ही क्या हुई। ऐसा कुछ समाधान क्या चिरप्राप्त अहंसिद्ध कंजर्वेटिव समाज-नीति में से भी नहीं प्राप्त हो सकता ?

"सो, मन के इस तरह के असंतोष का भी 'सुनीता' के जन्म में प्रभाव है। मैंने 'सुनीता' में अपनी बुद्धि के अनुसार दुस्साहसपूर्वक भी समस्या को ठेलकर आगे बढ़ाया है। मैंने इसमें अपने को बचाया नहीं है और वहाँ तक मैं उसके साथ चला हूँ जहाँ तक समस्या ने चलना चाहा है।

"क्या 'सुनीता' का घर टूटा है ? नहीं, वह नहीं टूटा है। क्या उस 'घर' को 'बाहर' के प्रति बंद किया है ? नहीं, ऐसा भी नहीं। दोनों में से कौन किसके प्रति सहानुभूति से हीन है ? शायद कोई भी नहीं।

"दोनों शाश्वत रूप में क्या परस्परापेक्षाशील नहीं हैं ?

"मैंने, चुनांचे, समस्या के रूप में भी कुछ भिन्नता देखी और रखी है, 'बाहर' को निरे आक्रमण के रूप में मैंने 'घर' के भीतर नहीं प्रविष्ट किया। हरिप्रसन्न (पुस्तक में वही 'बाहर' का प्रतीक पुरुष है) किंचित प्रार्थी भी है। वह निरा अनिमंत्रित वहाँ नहीं पहुँचा, प्रत्युत वहाँ मानों उसकी अभीष्टता है। उसके अभाव में 'घर' एक प्रकार से प्रतीक्षमान है। वहाँ अपूर्णता है, वहाँ अवसाद है,—मानों उस 'घर' में 'बाहर' के प्रति पुकार है। इधर 'हरिप्रसन्न' स्वयं अपने

आपमें अधूरेपन के बोध से मुक्त नहीं है; और वह जैसे एक प्रकार उत्तर में और एक नियति के निर्देश से ही एक रोज अनायास 'घर' के बीच में आ पहुँचा है। पहुँचकर वह वहाँ स्वत्वारोपी लगभग है ही नहीं। अपने से विवश होकर ही जो है सो है।

"कवींद्र का 'घर' भिन्न है और 'बाहर' भी भिन्न है। वह 'घर' आत्म-तुष्ट सा है, मानों 'बाहर' उसके निकट अभी अनाविष्कृत है। 'बाहर' का आगमन वहाँ एक रोज अप्रत्याशित अयाचित घटना के रूप में होता है। वह 'संदीप' मित्र है; पर यह मित्रत्व उसके व्यक्तित्व का अप्रधान पहलू है। मानों मित्र होना उसे मात्र सह्य है। वह आग्रहशील है, अधिकारशील है,—मानों सहानुभूतिशील है ही नहीं। 'घर' की रानी का 'संदीप' की ओर खिंचना गिरना है। जैसे 'संदीप' अहेरिया है, जाल फैलाता है, और मक्खी फँसने को ही उस ओर खींच रही है। 'संदीप' इस तरह कुछ अतिमानव,—अप-मानव हो उठता है।

"तदनुकूल भिन्नता 'सुनीता' और कवि की 'मधुरानी' में भी है। 'मधुरानी' बीच में मानों स्खलन-मार्ग पर चलकर अंत में प्रायश्चित्तपूर्वक पतिनिष्ठा में पुनः प्रतिष्ठित होती है। 'संदीप' का गर्व खर्व होता है और 'मधुरानी' की मोहनिद्रा भंग होती है। 'संदीप' के लिए पलायन ही मार्ग है; क्योंकि 'मधुरानी' अब पतिपरायणा है।

" 'सुनीता' की पतिपरायणता इतनी दुष्प्राप्य किसी स्थल पर नहीं हुई है कि प्रायश्चित्त का सहारा उसे दरकार हो। पति में उसकी निष्ठा उसे 'हरिप्रसन्न' के प्रति और भी स्नेहशील और उद्यत होने का बल देती है, आरंभ से उसकी आँख खुली है और अंत तक जो उसने किया या उससे हुआ है, उसमें वह मोह-मुग्ध नहीं है। आरंभ से वह जागरूक है और कहीं गृहिणी-धर्म से च्युत नहीं है। उस 'घर' में अंत तक इतना स्वास्थ्य है कि 'हरिप्रसन्न' को हठात् स्मृति से दूर

रखना उसके लिए जरूरी नहीं है। प्रत्युत 'हरिप्रसन्न' के प्रति सदा वह 'घर' अपना ऋण मानेगा और उसकी याद रक्खेगा।

"असल में घर और बाहर में परस्पर संमुखता ही मैं देखता हूँ। उनमें कोई सिद्धांतगत पारस्परिक विरोध देखकर नहीं चल पाता।"

इस तरह हम देखते हैं कि उपन्यास एक 'तिखूँट' अमूर्त समस्या का मूर्त समाधान है। सभ्यता की वर्तमान अवस्था में, जब कि मनुष्य का ज्ञान विचारात्मक होकर बहुत विस्तृत हो गया है, मनुष्य-जीवन की वर्तमान और भावी स्थिति के संबंध में सूक्ष्म विचार द्वारा उपलब्ध तथ्यों और भावनाओं का मूर्त प्रत्यक्षीकरण होना बहुत उचित और स्वाभाविक है। परंतु यह प्रत्यक्षीकरण वहीं तक उचित है जहाँ तक वह स्व-संवेद्य हो। यदि उपन्यास के कलेवर में दार्शनिक सिद्धांत ही न्यस्त रहेंगे तो उस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होते हुए भी उपन्यास-पाठकों के लिए उनमें अधिक आकर्षण न रहेगा। उपन्यास का प्रधान उपेय तो आनंद की उपलब्धि है। थोड़े समय तक अपने अनुरंजन के लिए ही हम उपन्यास लेकर बैठते हैं। यदि केवल दार्शनिक तथ्यों की छान-बीन करनी हो तो ऐसे ग्रंथों की कमी नहीं है। अतएव मेरी दृष्टि से उपन्यासकार को कहानी की बिलकुल उपेक्षा न करनी चाहिए अन्यथा साधारण जनता के लिए उस कृति का अधिक उपयोग न रह जायगा। भेद में अभेद देखना तत्त्वदर्शियों के लिए छोड़कर मानव की दुर्बलता-सबलता के सजीव चित्रण के भीतर स्वयं ही एक सामान्य हृदय झाँकता हुआ सा दिखलाई पड़ेगा और वहीं पर सारे भेद मिटते हुए से जान पड़ेंगे। कविता के क्षेत्र में तो रहस्यवाद और अभिव्यंजनावाद को लेकर 'तूतू, मैंमैं' चल ही रहा है, यदि उपन्यास में भी प्रतीकवाद और अभिव्यंजनावाद का समावेश हो जायगा तो साधारण जनता के लिए कोई अवलंब न रह जायगा।

'कल्याणी' और 'त्यागपत्र' दोनों ही उपन्यास वास्तविक घटना

के आधार पर लिखे गए हैं। 'कल्याणी' की कहानी कहनेवाले वकील साहब जैनेंद्र के मित्र थे और उन्हीं के रजिस्टर में यह वास्तविक कहानी लिखी मिली थी, यह कहानी परिस्थितियों के बंधन में जकड़ी हुई आत्मा का क्रंदन है। श्रीमती असरानी डाक्टरनी हैं, उनके पति मिस्टर असरानी डाक्टर। किंतु गृहस्थी की आर्थिक गति श्रीमती असरानी के परिश्रम की ही अपेक्षा करती है। श्रीमती असरानी बुद्धिमती हैं, सहृदय हैं, उदार हैं और हैं अत्यधिक भावप्रवण। उन्होंने स्वतंत्र जीवन का स्वाद लिया है और लगता है उसका मूल्य भी महँगा पड़ा है किंतु अब वैवाहिक बंधन में बँधकर वे उसकी मर्यादा मानकर चलने का प्रयत्न करती हैं। स्वामी तथा पत्नी के मनोभावों में पर्याप्त अंतर होने के कारण एक विषम समस्या अपने आप ही उठ खड़ी हुई है। डाक्टर असरानी में पुराने संस्कार बड़ी मजबूती से जड़ जमाए हुए हैं। पत्नी के प्रति वे बड़े सतर्क, बड़े संदेह शील हैं। एक बार पत्नी पर दुश्चरित्रता का आरोप करके उन्होंने उन्हें बेतरह पीटा भी था। किंतु कल्याणी इसे बड़े ही मूक भाव से सहनकर ले गई थीं क्योंकि वे अपने कर्तव्य से अवगत हैं। डाक्टर चाहते हैं कि उनकी पत्नी गृहिणी बने। कल्याणी को इसमें आपत्ति भी नहीं। किंतु गृहिणी बनते ही आय पर आघात पड़ता है। यहीं पर समस्या उठ खड़ी होती है---शादी और डाक्टरी, पत्नीत्व और निजत्व ये परस्पर कैसे निभें? इन्हीं का परस्पर संघर्ष कल्याणी की कहानी है। निजत्व को बरबस दबाने के प्रयत्न ने कल्याणी को बड़ा ही दयनीय बना दिया है। जीवन के अंत तक वे अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं को पति की इच्छा पर निछावर करती रहीं। इस प्रयत्न में वे स्वयं शून्य होती गईं और एक दिन असंतोष की ज्वाला को हृदय में धधकाए हुए सदा के लिए अकस्मात् मूक हो गईं।

'त्यागपत्र' के आरंभ में लेखक ने लिखा है—"सर एम० दयाल

जो इस प्रांत में चीफ जज थे और जजी त्यागकर इधर कई वर्षों से जीवन बिता रहे थे, उनके स्वर्गवास का समाचार दो महीने हुए पत्रों में छपा था। पीछे उनके कागजों में उनके हस्ताक्षर के साथ एक पाण्डु लिपि पाई गई जिसका संक्षिप्त सार इतस्ततः पत्रों में छप चुका है। उसे एक कहानी ही कहिए। मूल लेख अंग्रेजी में है। उसी का हिन्दी उल्था यहाँ दिया जाता है।" इस प्रकार यह कहानी भी 'कल्याणी' की भाँति वास्तविक घटना से संबद्ध है। इस उपन्यास के दो प्रधान पात्र हैं विनोद तथा उनकी बूआ मृणाल। वास्तव में विनोद तो केवल द्रष्टा एवं कथाकार मात्र हैं। कहानी जो कुछ है बूआ की ही है। ये बूआ विनोद के माता पिता द्वारा पाली गई थीं। अंग्रेजी स्कूल में पढ़ते समय ही इन्हें अपनी सहेली के भाई से प्रेम हो गया था। इस भेद के प्रकट होते ही विनोद की माता ने मृणाल को निर्दयता पूर्वक पीटा भी और यथाशीघ्र एक वयस्क आदमी के साथ विवाह करके उसे पतिगृह में भेज दिया। अपनी सरलता में मृणाल एक दिन अपने प्रणयी के पत्र की चर्चा पति से कर देती है जिसके बाद पति का अत्याचार बढ़ जाता है और वह एक दिन पत्नी को घर से निकाल देता है। परिस्थितियों से बाध्य होकर मृणाल को एक साधारण कोयले के व्यापारी का आश्रय लेना पड़ता है और वह गर्भवती हो जाती है। कुछ दिनों बाद वह व्यापारी भी उसे छोड़कर चला जाता है। नव महीने की होकर उसकी बच्ची भी मर जाती है। तदुपरांत संसार के कष्टों को प्रायः बीस वर्ष तक झेलती हुई वह इस दूषित जगत से छुटकारा पा जाती है। विनोद अपनी इस बूआ को प्राणों से भी अधिक प्यार करता था और उससे जब जब भी मिला उसे पापपंक के ऊपर लहराते हुए कमल के रूप में ही पाया। बूआ के मृत्यु-समाचार का विनोद पर इतना असर पड़ा कि वह जजी से त्यागपत्र देकर दुनियाँ से विरक्त हो गया।

'परख', 'तपोभूमि', 'सुनीता', 'कल्याणी', 'त्यागपत्र' के प्रधान स्त्री पात्र हमारे स्मृतिपट पर बहुत दिनों तक बने रहते हैं। 'कट्टो', 'धरणी', 'सुनीता', 'कल्याणी' तथा 'मृणाल' दुनियाँ के नेत्रों में जो भी हों किंतु उनके बाह्य आवरण को भेदकर जब हम अंतर में प्रवेश करते हैं तो वहाँ एक आलोक की ज्वाला सी जलती हुई पाते हैं। यह ऐसी ज्वाला है जो अपने को जलाकर दूसरों को शीतल रखने का प्रयत्न करती है। समाज के अत्याचार को मूक भाव से सहन करती हुई ये स्त्रियाँ समाज को तोड़ने का कभी विचार भी नहीं करतीं। मृणाल कहती है—"मैं समाज को तोड़ना-फोड़ना नहीं चाहती। समाज टूटा कि फिर हम किसके भीतर बनेंगे ? या किसके भीतर बिगड़ेंगे ? इसलिए मैं इतना ही कर सकती हूँ कि समाज से अलग होकर उसकी मंगलाकांक्षा में स्वयं ही टूटती रहूँ।" आवश्यकता इस बात की है कि समाज अब भी व्यक्ति की महत्ता को परखे पहचाने।

'जैनेंद्रजी' का एक 'अनाम-स्वामी' नामक उपन्यास धारावाहिक रूप में निकल रहा है। इसमें भी घटनाओं की अपेक्षा मानसिकता की ही अधिकता दृष्टिगोचर होती है।

'जैनेंद्र' जी के चरित्र-वर्णन के संबंध में दो-एक बातें कहनी हैं। 'परख', 'तपोभूमि', 'सुनीता', 'कल्याणी' अथवा 'त्यागपत्र' के पात्रों को देखकर ऐसा लगता है मानों इन्हें विकास-स्वातंत्र्य पूरा पूरा न मिला हो। इन उपन्यासों का एक भी पात्र अपने आप में पूर्ण अथवा सांगोपांग नहीं मिलता। यदि किसी पात्र को अन्य पात्रों से अलग हटाकर देखना चाहें तो वह कुछ रह ही नहीं जाता। इस प्रकार इन पात्रों में एक प्रकार की एकांगिता सी दिखाई पड़ती है। 'कट्टो', 'बिहारी' अथवा 'सत्यधन' का अलग कोई अस्तित्व नहीं। परस्पर संबंध में ही वे 'कट्टो', 'बिहारी' एवं 'सत्यधन' हैं। इस विषय पर द्विवेदीजी को पत्र लिखते हुए जैनेंद्र ने लिखा था, "क्या एक पात्र

अपने आप में कुछ चीज है ? असली चीज मेरी निगाह में पात्रों का पारस्परिक संबंध है, न कि पात्र स्वयं। × × × × व्यक्ति क्या एकांगी के अतिरिक्त सर्व-संपूर्ण हो भी सकता है ? × × × अमुक के relations में किसी एक के relations क्या हैं इसे दिखाते दिखाते यदि मैं कहीं भी आत्मा के गहरे तल को जा छूता हूँ, तो यही मेरे लिए बहुत है।" *इसे 'जैनेंद्र' जी अपनी विशेषता (ह्विम) बतलाते हैं।

'जैनेंद्र' के 'टेकनीक' अथवा रचनासौष्ठव पर अधिक नहीं कहना है। वास्तव में 'टेकनीक' तो अपरिवर्तनीय कलेवर मात्र है। कथा-वस्तु ऐसी हो, चरित्र-चित्रण ऐसा हो आदि शास्त्रीय निर्देश स्वयं अधिक मूल्य नहीं रखते। केवल कुछ नियमों को जान लेने से ही साहित्य-पुरुष की रचना नहीं हो सकती। इन नियमों के द्वारा शरीर का ढाँचा मात्र खड़ा किया जा सकता है, उनमें प्राण नहीं डाला जा सकता। यदि साहित्य-शास्त्री के भीतर सहानुभूति से भरा हुआ हृदय नहीं है तो उसकी सारी विद्वत्ता साहित्य की दृष्टि से कुछ बेजान सी चीज है। 'जैनेंद्र' का 'टेकनीक' कुछ नवीन अवश्य जान पड़ेगा परंतु उन्होंने अपने इस नवीन बाह्य कलेवर में आत्मा को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया है। इनके हृदय की अपरिमेय सहानुभूति ने इनके 'टेकनीक' को पूर्ण सजीव रखा है। वस्तु, संवाद, चरित्र-चित्रण आदि के विषय में रूढ़ियों का उल्लंघन करके भी 'जैनेंद्र' ने अपने उपन्यासों में कोई त्रुटि नहीं आने दी है।

किसी आदमी के समझने में हम से भूलें हो सकती हैं। 'जैनेंद्र' में गुण बहुत हैं, अवगुण कम। उनके 'विचार' के संपादक का कथन है—"........जैनेंद्र ऐसी सुलझन हैं जो पहेली से भी अधिक

---

*देखिए 'जैनेंद्र के विचार', पृष्ठ २९८।

गूढ़ हों। वे इतने सरल हैं कि उनकी सरलता भी वक्र लगे। वे इतने निरभिमान हैं कि वही उनका अभिमान है''। संपादकजी उनके अधिक निकट हैं अतएव वे उनकी वास्तविक सरलता, निरभिमान आदि को समझ सकते हैं। परंतु यदि 'जैनेंद्र' की भाषा, शैली एवं व्यंजना के अन्य तरीकों को देख पाठक यह कह उठें कि जान-बूझकर पहेली बुझाने, वक्रता लाने आदि का प्रयत्न किया जा रहा है तो हम उनका मुँह नहीं थाम सकते। आत्मविश्वास बुरी बात नहीं, परंतु अहंकार का बढ़ जाना किसी के लिए भी मंगलमय नहीं। 'जैनेंद्र' जी हमारे साहित्य के एक प्रतिभावान कलाकार हैं। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की रचना करके उन्होंने हमारे एक अंग की पूर्ति की है, परंतु जब हम लोगों को यह कहते सुनते हैं, जैनेंद्र में अहंकार (सेल्फ कांशसनेस्) है, तो बहुत क्षोभ होता है। लोगों का यह अभियोग अधिकतर उनकी भाषा-शैली के कारण है।

इनकी भाषा में अत्यधिक अँगरेजीपन है। हमारी भाषा राष्ट्र-भाषा हो रही है अतएव उसे सब के लिए बोधगम्य होना चाहिए। जैनेंद्र की यह एक बहुत बड़ी कमी है कि उनकी कृतियों को थोड़े से अँगरेजी-दाँ लोग ही समझ सकते हैं। हिंदी तथा उर्दू मिलाकर तो आजकल हिन्दुस्तानी बन रही है। जहाँ हिंदी, उर्दू तथा अँगरेजी तीनों का मेल है उसे 'किरानी' कहना ही अधिक उपयुक्त है। 'जैनेंद्र' के 'विचार' से जो थोड़े से उद्धरण दिए गए हैं उनमें बीच बीच में 'सब्जेक्टिविटी, आब्जेक्टिविटी, रिलेशंस' आदि अँगरेजी शब्दों का बिना उनका हिन्दी-पर्याय दिए बेधड़क प्रयोग किया गया है। अँगरेजी से अनभिज्ञ पाठक यदि इस पर क्रुद्ध उठे तो आश्चर्य ही क्या। हमारी भाषा में अब पर्याप्त शब्द हो गए हैं, यदि नहीं भी हैं तो जैनेंद्र जैसे प्रतिभ साहित्यकारों को उनकी पूर्ति करनी चाहिए, न कि उसकी वास्तविकता

से घबराकर विदेशी भाषा का सहारा लेना। इनकी रचनाओं से स्पष्ट लक्षित होता है कि ये सोचते हैं अँगरेजी में और लिखते हैं हिंदी में। कहीं कहीं तो ऐसा ज्ञात होता है कि रचना के प्रवाह में लिखते समय अँगरेजी शब्द और वाक्य रख दिए गए थे और पीछे उनके स्थान पर पर्यायवाची शब्द और पदावली बैठा दी गई। इसके अतिरिक्त भी अनेक अव्यवस्थाएँ इनकी शैली में दिखाई पड़ती हैं, जिनके कारण भाषा दुरूह हो गई है।

प्रतापनारायण श्रीवास्तव

अभी तक जिन उपन्यासकारों का उल्लेख किया गया है उनमें किसी का ध्यान समाज के उस वर्ग का चित्रण करने की ओर नहीं गया था जो नगरों की अमरावती 'सिविल लाइंस' के बँगलों की शोभा है। क्लब की पार्टियों, टेनिस के मैदानों, हरे-भरे पार्कों तथा सिनेमा-गृहों में कैसा आमोद-प्रमोद, कैसी चहल-पहल तथा कितना असंतोष-हाहाकार होता है, इसका सजीव चित्रण करने की स्पर्धा किसी चितेरे की तूलिका ने नहीं की थी। साधारण जनता से दूर, लोगों के कुछ आदर, थोड़ा भय और बहुत से रहस्यों की प्रतिमाएँ, अँगरेजी सभ्यता के कर्णधार इन साहबों को हमारे कलाकारों ने दूर ही दूर से देखा था, उनके पास जाने का साहस नहीं किया—कर ही नहीं सके। अलौकिक पर्यवेक्षण-शक्ति-संपन्न हमारे औपन्यासिक-सम्राट् भी जब जब इस ओर बढ़े विफल-प्रयत्न से ही रहे। इस रहस्य-व्यूह को तोड़कर इन 'साहब' नामधारियों को जन-मानस के समक्ष लाने का प्रथम प्रयास प्रतापनारायण श्रीवास्तव ने किया और उसमें उन्हें सफलता भी खूब मिली। 'विदा' श्रीवास्तवजी का सर्वप्रथम उपन्यास है। इसी उपन्यास ने उन्हें एकदम उच्चकोटि के उपन्यासकारों की श्रेणी में ला बिठाया। यह ठीक है कि इधर उनके 'विजय' और 'विकास' नामक उपन्यास भी प्रकाशित हो गए हैं

परंतु उनकी अब तक की सारी कीर्ति और प्रसिद्धि का आधार 'विदा' ही है।

'विदा' में तीन परिवारों की कहानी है। 'निर्मल' के परिवार से आरंभ होकर कहानी दो विभिन्न धाराओं में प्रवाहित होने लगती है। 'कुमुदनी' की अबोधता, उसका दुर्दम्य अहंकार तथा देवी-तुल्य अपनी सास के प्रति दुर्व्यवहार ही 'निर्मल-कुमुद' के अखंड योग में विषमता उत्पन्न करता है। पिता 'सर माधवचंद्र' के पास चले जाने के बाद से 'कुमुद' और 'निर्मल' की जीवन-कथा अलग अलग चल पड़ती है। इधर 'वर्मा' 'कुमुदिनी' को आकर्षित करने के प्रयत्न में पड़ जाते हैं उधर 'चपला' और 'निर्मल' की घनिष्ठता बढ़ने लगती है। स्वाभिमानिनी होने पर भी 'कुमुद' के पति-अनुराग-रंजित भारतीय नारी-हृदय पर 'वर्मा' के क्षुद्र प्रलोभनों का कोई असर नहीं पड़ता, बल्कि कुलवधू 'लज्जा' के आचरण और उपदेशों से उसकी मोह-निद्रा धीरे-धीरे टूटने लगती है और कर्तव्य-ज्ञान सजग होने लगता है। परंतु प्राण-प्रिय पत्नी के कठोर व्यवहार से जर्जर 'निर्मल' का हृदय 'चपला' के सौजन्य, अनुराग तथा निष्काम सेवा से उसकी ओर ढल पड़ता है। इसके पहले कि 'निर्मल' 'चपला' के स्वर्गीय प्रेम की तरंगों में बह जाय 'कुमुद' की नारी-सुलभ सुबुद्धि जाग उठती है और वह अपने 'धन' की रक्षा के लिए यथासमय पहुँच जाती है। कर्तव्य की कठोरता से अवगत 'चपला' अपने हृदय को दबाकर इँगलैंड के लिए विदा हो जाती है। इस प्रकार जिस कहानी का आरंभ 'कुमुद' के पति-गृह से विदा होने पर हुआ था वह 'चपला' की विदाई में समाप्त हुई। बीच में मिस्टर 'वर्मा' का इस लोक से विदा होना भी कहानी की एक महत्त्वपूर्ण घटना है।

'विदा' में जो सबसे पहली बात हमें आकर्षित करती है वह है इसकी कथा-वस्तु का वैज्ञानिक संघटन। नाटक के पाँच अंकों

की भाँति 'विदा' के पाँच अंक भी वैज्ञानिक आधार पर किए गए मालूम पड़ते हैं। 'कुमुद' और 'निर्मल' के परस्पर असंतोष के कारण कथा के प्राणों में स्पंदन 'आरंभ' होता है। दूसरे खंड में सर 'माधवचंद्र' के मनोगत भावों को जानकर दोनों के पुनर्मिलन में संदेह होने लगता है। तीसरे खंड में 'कुमुदिनी' के नए प्रेमिक 'वर्मा' का प्रयत्न आरंभ होता है। इधर 'चपला भी 'निर्मल' की ओर अधिक झुकती है और 'निर्मल' 'कुमुद' को भूलने का प्रयत्न करते हैं। 'वर्मा' का प्रयत्न चतुर्थ खंड तक चलता रहता है परंतु उस खंड में उसकी हत्या हो जाने पर और 'कुमुदिनी' में भाव-परिवर्तन होते देख आशा होने लगती है कि 'निर्मल' फिर 'कुमुदिनी' को प्राप्त करेंगे। उधर 'चपला' की सेवा और त्याग देखकर उसकी सफलता के भी कुछ कुछ लक्षण दिखाई पड़ने लगते हैं। पंचम खंड में कुतूहल अपनी सीमा पर पहुँचकर एकाएक कहानी बड़े वेग से अंत की ओर दौड़ पड़ती है। इसी खंड को विमर्श-संधि कह सकते हैं। 'निर्मल-कुमुदिनी' के परिवार की कथा आधिकारिक तथा 'माथुर-परिवार' और 'केट-देवदत्त' की कथा प्रासंगिक है। 'माथुर-परिवार' का संनिवेश पताका और 'केट-देवदत्त-प्रसंग' प्रकरी के रूप में है। इस तरह हम देखते हैं कि 'विदा' में कई भिन्न भिन्न कहानियों का योग है, परंतु ये कहानियाँ एक-दूसरी से दूध पानी की तरह मिली हैं। 'केट' की कहानी अवश्य कुछ अनावश्यक सी जान पड़ती है परंतु वह भी मूलकथा से दृढ़ बंधनों में बँधी है। अँगरेजी समाज की एक झलक दिखाने के उद्देश्य से ही 'केट' का प्रसंग उपस्थित किया गया है। 'विदा' में कुतूहल तत्त्व का भी, जो उपन्यास और नाटक दोनों का आवश्यक अंग है, अच्छा निर्वाह किया गया है। इस तरह हम देखते हैं कि विषय की योजना, घटनाओं की संघटना, कथा का स्वाभाविक प्रवाह तथा कुतूहल के निर्वाह में श्रीवास्तवजी पूर्ण सफल हुए हैं।

दूसरी विशेषता जो इस उपन्यास में लक्षित होती है वह है इसमें प्रवाहित होनेवाली भारतीय आदर्श की भाव-धारा। इस योरोपीय सभ्यता का अनुसरण करनेवाले समाज के भीतर भी श्रीवास्तवजी ने भारतीय कुटुंब की धर्म-व्यवस्था के सौंदर्य की स्थापना करके प्राचीन और नवीन का बड़ा सुंदर योग दिखाया है। यद्यपि यह उपन्यास उसी तरह का है जिसे गुरुवर पंडित रामचंद्र शुक्ल "मिस्टर, मिसेज, मिस, ड्राइंगरूम, टेनिस, मोटर पर हवाखोरी, सिनेमा"* आदि का ही वर्णन करनेवाला कहते हैं। परंतु 'विदा' में यह 'योरपीय सभ्यता का साँचा' केवल बाहरी आवरण मात्र है। इस वातावरण के भीतर भारत की आत्मा पूर्ण रूप से सुरक्षित है। बल्कि यह तो एक स्पष्ट आदर्शवादी उपन्यास है। इसमें आदर्श माता, आदर्श पिता, आदर्श पुत्र, आदर्श दंपति, आदर्श प्रेमिका का चित्रण ही प्रधान उद्देश्य लक्षित होता है। 'शांता' आदर्श माता है, 'लज्जा' आदर्श हिंदू-रमणी एवं पति-गत-प्राण पत्नी है, 'मुरारी' आदर्श पति है, 'चपला' और 'केट' आदर्श प्रेमिकाएँ हैं, मिस्टर 'माथुर' आदर्श पिता हैं और यदि 'माधव बाबू' में से उनका मिथ्याभिमान निकाल दिया जाय तो वे भी आदर्श पिता हैं। इस भारतीय आदर्श-मर्यादा का उल्लंघन करने से जो विषमता उत्पन्न हो जाती है वही इस उपन्यास का प्रधान विषय है। पति तथा सास के प्रति दुर्व्यवहार के कारण 'कुमुदिनी' के जीवन में जो विषमता एवं अशांति आ गई थी वह पति के चरणों में जाकर ही शांत हुई। मिस्टर 'वर्मा' शरीफ बदमाश (पौलिशेड विलेन) के अच्छे उदाहरण हैं। उनकी अगति दिखाकर लेखक ने भारतीय कर्म-फल-वाद के स्वर को ऊँचा उठाया है।

---

* इंदौर में चौबीसवें हिंदी-साहित्य-संमेलन के 'साहित्य-विभाग' के सभापति के पद से दिया हुआ अभिभाषण।

'विदा' का चरित्र-चित्रण उत्तम है। श्रीवास्तवजी ने मानव-स्वभाव की अच्छी परख पाई है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है इनके अधिकतर पात्र आदर्शोन्मुख हैं परंतु उनमें यथेष्ट सजीवता है। 'चपला' और 'निर्मल' को आदर्श चित्रित करते हुए भी उनके चुंबन और आलिंगन की क्षणिक दुर्बलता दिखाकर श्रीवास्तवजी ने उन्हें देवता होने से बचा लिया है। 'चपला' के उस छोटे से हृदय में प्रेम और कर्तव्य मूर्तिमान होकर उतर आए हैं। गौण चरित्रों में 'लज्जा' और 'केट' के चरित्र बहुत सुंदर हैं। 'लज्जा' पति-परायणा आदर्श हिंदू-रमणी है। लेखक ने जान-बूझकर इस चरित्र का सर्जन किया है। 'कुमुदिनी' को उसके साथ तुलना के लिए ला रखा है। 'लज्जा' के समकक्ष रखने से 'कुमुदिनी' के चरित्र के गुण-दोष बहुत ही स्पष्ट हो जाते हैं। 'केट' एक सच्ची अँगरेज-बालिका है। उसकी प्रतिशोध-भावना उसकी जाति के उपयुक्त ही है। परंतु उसके प्रेम का आदर्श नितांत भारतीय है। प्राच्य और पाश्चात्य का वह सुंदर मेल है।

'माधव बाबू' के मिथ्याभिमानी चरित्र के अंकन में भी लेखक को पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है। केवल एक स्थान पर अस्वाभाविकता आ गई है। जब 'मुरारी' के साथ 'कुमुद' बिना 'माधव बाबू' को सूचित किए, 'निर्मल' के पास मंसूरी चली गई और 'माधव बाबू' को पता चला तो उनका खून उबलने लगा। उस स्थान पर उन्होंने कहा है—

"मैं इसका प्रतिशोध लूँगा। प्रतिशोध घोर होगा कि संसार भय से मेरी ओर देखेगा और सिहरकर पीछे हट जायगा। जो पिता अपनी पुत्री को उसके रक्त में स्नान करावेगा, उसको अनंत वैधव्य के गहरे गढ्ढे में डुबो देगा। उसके सामने उसके पति के शरीर के टुकड़े टुकड़े करेगा और छोटी छोटी बोटियाँ करके चील-कौओं को खिला देगा। क्या संसार उसको देखकर भय न खावेगा—क्या संसार में हलकंप न

फैल जायगा ? संसार थर्रा उठेगा।"* यह नितांत अस्वाभाविक है। प्रतिशोध लेने की भावना तक तो ठीक है। परंतु उसके अनंतर रक्त में स्नान करना, शरीर के टुकड़े टुकड़े करके छोटी छोटी बोटियाँ करके चील-कौओं को खिलाना आदि बीभत्स होने के अतिरिक्त अस्वाभाविक भी है। कोई पिता अपनी पुत्री एवं दामाद के लिए ऐसा न सोचेगा।

प्रतापनारायणजी की आदर्श-प्रियता का उल्लेख ऊपर हो चुका है। दूसरी बात जो 'विदा' में विशेष रूप से लक्षित होती है वह है स्वदेशाभिमान और भारतीयता। अपने देश की कोई भी वस्तु हो वे उसकी प्रशंसा करने और कराने में नहीं चूकते। अन्य देशों की तुलना में भी वे बातें श्रेष्ठ या कम से कम समकक्ष हैं इसका आभास उन्होंने 'विदा' में कई स्थानों पर दिया है और विदेशियों के मुख से उनकी प्रशंसा कराई है।

'विदा' के उपरांत 'विजय' निकला। 'विदा' में लेखक के सामने कोई निश्चित ध्येय नहीं था। यदि था तो कहानी कहना और समाज का चित्रण। परंतु 'विजय' में लेखक एक ध्येय, एक लक्ष्य, एक उद्देश्य लेकर अग्रसर होता है। वह है 'विधवा-विवाह'। यह समस्या उसने साधारण मध्यम वर्ग के समाज में नहीं उपस्थित की है वरन् एक सुशिक्षित, धनवान, उच्चवर्गीय समाज के समक्ष रखी है। समस्या वही रहती है किंतु दृष्टि बदल जाती है। मध्यम वर्ग को लेकर यदि यह समस्या उपस्थित की जाती तो अधिकतर परिस्थितियों की आश्रित रहती। उसमें विधवा या तो आत्महत्या कर लेती या वेश्यावृत्ति ग्रहण कर लेती, चाहे अंत में उसका उद्धार ही हो जाता। परंतु श्रीवास्तवजी ने इस समस्या को कुछ ऊँची सतह पर उठाकर रख दिया है। 'विजय' में वह बुद्धि के आश्रित है परिस्थिति के आश्रित नहीं। इसमें परि-

* विदा, पृष्ठ ३९८।

स्थितियाँ जान-बूझकर उपस्थित की जाती हैं, अपने आप नहीं आतीं। 'विदा' और 'विजय' में यही सबसे बड़ा अंतर है कि एक निरुद्देश्य है, दूसरा सोद्देश्य। यह सोद्देश्य होना और बुद्धि के आश्रित अथवा बुद्धिग्रस्त होना ही इस उपन्यास की विशेषता भी है और सबसे बड़ा दोष भी। लेखक को प्रत्येक समय इसका ध्यान रहता है और फल-स्वरूप इसमें विधवा-विवाह के ऊपर न जाने कितने लेक्चर भरे पड़े हैं। पुस्तक एक थीसिस सी जान पड़ती है जिसको कहानी का आव-रण पहना दिया गया है। यदि इसमें आए हुए लंबे लंबे स्वकथन (सौलीलोकीज़), वादविवाद और लेक्चर निकाल दिए जायँ तो कहानी मनोरंजक हो जाय। परंतु अत्यधिक भारतीयता के चक्कर में उन्होंने इसपर ध्यान ही नहीं दिया। 'विजय' में भी वे भारतीयता की भावना को भुला नहीं सके हैं। इसमें उन्होंने विधवाओं के लिए विधवा होना ही उचित माना है, क्योंकि हिंदू-विधवा ईश्वर का तप-रूप है। उसकी तपस्या 'निर्गुण उपासना' है। परंतु लेखक चित्र के दूसरे पक्ष से भी अपरिचित नहीं है। सभी विधवाएँ इस विराट तप की साधना नहीं कर सकतीं। उनके लिए उसने वैवाहिक जीवन ही श्रेयस्कर निश्चित किया है। विधवाओं का नियमित और संयमित जीवन अवश्य उच्चतम है परंतु वह सबके लिए संभव नहीं। परंतु जिसके लिए संभव नहीं उसे लेखक हिंदू-विधवा कहने के लिए प्रस्तुत नहीं। पाश्चात्य दृष्टि से भी उन्होंने इस समस्या पर विचार किया है परंतु भारतीय दृष्टि को ही ठीक ठहराया है। 'मनोरमा' के द्वारा ही उन्होंने अधिकतर अपने इस प्रकार के विचार प्रकट कराए हैं। इस पुस्तक के प्रथम भाग के सवा तीन सौ पृष्ठों में अधिकतर स्वकथनों या भाषणों द्वारा अपने धर्म, अपने समाज, अपनी जाति, अपनी सभ्यता आदि पर अनेक उद्गार भर दिए गए हैं। इसी कारण मुख्य कथानक बहुत आगे न बढ़ पाया है।

'विजय' का समाज भी 'विदा' के समाज का सा ही है। सभी बड़े आदमी हैं। किसी को पेट की चिंता नहीं है। यह फिक्र नहीं है कि कमाएँगे नहीं तो खाएँगे क्या। उनकी चिंताएँ जीवन की वास्तविकताओं, आवश्यकताओं से संबंध नहीं रखतीं। समय की कोई कमी उनके पास नहीं है। मोटर है, सुविशाल अट्टालिकाएँ हैं, रुपया है आधुनिक सभ्यता का पूर्ण वातावरण है और आधुनिक समाज का उच्चतम रूप। इनका समाज बिलकुल अँगरेजी उपन्यास-लेखिका जेन आस्टिन के समाज का सा है।

'विदा', 'विजय' और विकास के पात्र बहुत कुछ एक प्रकार के हैं। जो अंतर दोनों के पात्रों में मिलता है वह बहुत कुछ उद्देश्य-भेद के कारण। यदि कहें तो कह सकते हैं कि ध्येय का भेद ही इन उपन्यासों का भेद है अन्यथा अन्य बातों में ये एक से हैं। 'विदा' में चरित्र चित्रण ही लेखक का ध्येय था परंतु 'विजय' में समस्या को सुलझाना भी एक ध्येय हो गया। फलतः 'विदा' के प्रायः सभी पात्रों के प्रतिरूप 'विजय' में उपस्थित हैं। सर 'रामप्रसाद', सर 'माधवचंद्र' के स्थानापन्न हैं परंतु उनमें 'माधव बाबू' वाला मिथ्या अभिमान नहीं है। वे आदर्श पिता हैं। बाबू 'राधारमण' की तुलना 'मिस्टर माथुर' से की जा सकती है। 'विजय' की 'राजेश्वरी' सौतेली माँ होते हुए भी आदर्श माता है और 'विदा' की 'शांता' के समकक्ष है। 'मनोरमा' यद्यपि 'कुमुदिनी' के स्थान पर रखी गई है परंतु दोनों में बहुत अंतर है। 'मनोरमा' के गुण बहुत कुछ 'चपला' के समान हैं। 'कुसुमलता' में 'चपला' और 'कुमुद' दोनों के गुण हैं। 'राजेंद्रप्रसाद' 'निर्मल' के स्थानापन्न हैं परंतु अंतर यह है कि एक पूरा फिलासफर है परंतु दूसरा फिलासफी का एम०ए० होते हुए भी कालेज का आधुनिक युवक है—हँसमुख, प्रसन्नचित्त, सरल। 'निर्मल' बहुत कुछ डाक्टर आनंदीप्रसाद से मिलते-जुलते हैं। 'राजा प्रकाशेंद्र' की तुलना 'मिस्टर

वर्मा' से की तो जा सकती है परंतु दूर तक नहीं। हाँ 'ट्रैवीलियन' और 'केट' बिलकुल एक-दूसरे के विपरीत हैं। 'केट' आदर्श प्रेमिका है उसका चरित्र सर्वथा निर्दोष, शुभ और निष्कलंक है। वह बहुत कुछ भारतीय आदर्श के निकट है परंतु 'ट्रैवीलियन' एक सीमा तक इस उपन्यास की दुष्टा (विलेनेस्) है। वह टट्टी की ओट में शिकार खेलनेवाली है। स्वार्थी, बनावटी, वेश्या है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस उपन्यास के पात्र 'विदा' के पात्रों के आवश्यकता नुसार नवीन संस्करण हैं। नवीन पात्रों की सृष्टि भी है, जैसे 'रानी मानवती'।

अब थोड़ा प्रतापनारायणजी की शैली और भाषा का भी विचार कर लेना आवश्यक है। अपने उपन्यासों में पात्रों के चरित्र का परिचय प्रायः लेखक ने स्वकथन या आत्मकथन (सौलीलोकीज़) द्वारा दिया है। कुछ घटनाओं के अनंतर कोई न कोई पात्र स्वगत कथन करने लगता है और अपनी दृष्टि से जो कुछ अब तक हो चुका है सबका सिंहावलोकन कर जाता है। इसके द्वारा उस पास के चरित्र का पता चल जाता है। यह रीति ग्रहण करने के कारण हो सकते हैं। या तो लेखक को पाठकों के ऊपर विश्वास नहीं है कि वे घटनाओं द्वारा किसी पात्र का चरित्र निर्णय कर सकते हैं अथवा उसका अपने ऊपर ही विश्वास नहीं है कि वह जैसा चाहता था वैसा दिखा सका है। अधिकतर ऐसे स्वगत कथन में लेखक किसी समस्या पर विचार करता है। इस बात का लेखक को मर्ज सा है। दार्शनिक विचारों को प्रकट करने के लिए ही लेखक इनका सहारा लेता है। परंतु प्रायः ऐसे उद्गार अनुचित एवं अनावश्यक हैं। सबसे बड़ा दोष तो इसमें यह है कि इससे उपन्यास की गति में बाधा पड़ती है। 'विदा' और 'विजय' दोनों में ही स्वगत कथनों की भरमार है। 'विजय' में से यदि इन्हें निकाल दिया जाता तो उपन्यास का कलेवर आधा हो जाता। लेखक को दार्शनिक वाद-

विवाद एवं व्याख्या ही करना था तो वह अलग एक थीसिस अथवा प्रबंध लिख सकता था। उपन्यासों में यह बात प्रायः अस्वाभाविक और निरर्थक होती है जिससे उपन्यास के सौंदर्य में क्षति आ जाती है।

श्रीवास्तवजी के कथोपकथन साधारणतः अच्छे हुए हैं। सखियों के, पति-पत्नी के और इसी प्रकार के अन्य हँसी-मजाक वाले कथोपकथनों में लेखक को पर्याप्त सफलता मिली है, परंतु एक बहुत बड़ा दोष इसमें भी आ गया है। वह यह कि लेखक कथन के शब्द लिखने के पहले यह लिख देता है कि 'उसने क्रोधपूर्वक कहा, हँसते हुए कहा'। इस प्रकार कहा, उस प्रकार कहा'। यह बात नितांत अनुपयुक्त है और लेखक की अनभिज्ञता प्रकट करती है। उदाहरणार्थ 'विदा' द्वितीय खंड के ९६ पृष्ठ पर देखिए। नव बार ऐसा प्रयोग हुआ है। 'लज्जा ने हँसकर कहा', 'मुरारी ने हँसते हुए कहा', लज्जा ने उत्तेजित स्वर में कहा' 'मुरारी ने शांत भाव से उत्तर दिया', 'लज्जा ने उत्तेजित स्वर में कहा', 'मुरारी ने हँसकर कहा', लज्जा ने उत्तर दिया', 'मुरारी ने हँसकर कहा', लज्जा ने प्रसन्न होकर कहा'। फिर भी 'विदा' में यह दोष कम है परंतु 'विजय' में तो इसकी बाढ़ सी आ गई है। कदाचित ही कोई पृष्ठ इससे खाली मिले। इससे शैली में एक प्रकार की शिथिलता (मौनोटोनी) आ जाती है। ऐसी शैली का अर्थ यही हो सकता है कि लेखक को अपने पर या पाठकों पर विश्वास नहीं है। उसे इस बात का विश्वास नहीं है कि जो बात वह अपने पात्रों के मुख से कहवा रहा है उससे वही भाव व्यंजित होगा अथवा उस समय अवश्यंभावी रूप से वही मुखाकृति हो जायगी जो यह चाहता है। इसी विश्वास की कमी के कारण वह उस भाव को लिख देता है। अथवा लेखक पाठक को बुद्धिहीन एवं मूर्ख समझता है—समझता है कि वे उस कथोपकथन से वह भाव अथवा मुखाकृति न समझ पाएँगे। लेखक को चाहिए कि कथोपकथन

के शब्द ही ऐसे हों जिनसे पाठक स्वयं उस समय के भावानुकूल मुखाकृति तत्क्षण कल्पित कर ले। मेरे विचार से तो उसने पूछा, उसने कहा, उसने उत्तर दिया आदि भी निरर्थक हैं। कथोपकथन का तात्पर्य यही है कि कोई पूछेगा, कोई कहेगा, कोई उत्तर देगा।

कथोपकथन के संबंध में कुछ बातें और ध्यान देने की हैं। कुछ स्थानों पर लंबी लंबी स्पीचें हैं, कहीं कहीं वार्तालाप वाद-विवाद का रूप धारण कर लेता है और कहीं कहीं संवाद में दार्शनिकता और उपदेशात्मकता आ गई है जिसके कारण कथोपकथन अस्वाभाविक हो जाता है।* एक और मर्ज लेखक में है, अनावश्यक विवरण देने और अनावश्यक शब्दावली व्यवहृत करने का। वे प्रायः पात्रों का पारिवारिक इतिहास और वंशावली देने लगते हैं। जो कथानक की दृष्टि से नितांत अनावश्यक है। इससे केवल कलेवर-वृद्धि होती है सौंदर्य-वृद्धि नहीं। उदाहरणार्थ 'विदा' के पृष्ठ ३३ पर 'निर्मल' के दिवंगत पिता का परिचय। जिस विवरण के साथ उन्होंने वह परिचय दिया है वह मेरे निकट कागज और रोशनाई के व्यय के अतिरिक्त और कुछ नहीं। इसी तरह 'विजय' में २६ से ३८ पृष्ठों तक और ३०५ से ३१० पृष्ठों का अपव्यय है। निरर्थक वाक्यों का प्रयोग तो हमें बहुत मिलेगा।

इनकी शैली के विषय में दो-एक बातें और हैं। श्रीवास्तवजी के पात्र कभी कभी रूपकों और उपमाओं में बात करने लगते हैं। दैनिक संभाषण में एकाध उपमा अथवा रूपक अपने आप समाविष्ट हो जाता है। परंतु रूपक में ही कुछ देर बात करना प्रायः देखने में नहीं आता और बातचीत का साधारण नियम तो यह किसी प्रकार नहीं हो सकता। परंतु श्रीवास्तवजी एक रूपक को

---

* देखिए विदा, पृष्ठ १२०-१२१, १६८-१६९, १७८-१७९; विजय, पृष्ठ १४०-१४९, १७८-१८४।

पकड़कर उसी को बढ़ाने लगते हैं, जो स्वाभाविक नहीं लगता। 'विदा' के पृष्ठ ४ पर 'शांता' और 'निर्मल' की बातचीत काटें और फूलों का रूपक लेकर होने लगती है। पृष्ठ ३४४-३४५ पर 'लज्जा' और 'कुमुदिनी' की बातचीत चोर और धन का रूपक लेकर चलती है। परंतु इस प्रकार की बातचीत तो तार्किकों के लिए है जो एक दूसरे को नीचा दिखाने पर तुले हों। इसके अतिरिक्त श्रीवास्तवजी की शैली में पुनरुक्ति दोष बहुत अधिक मिलता है, जिसके कारण कहीं कहीं तो जी ऊब जाता है। 'विदा' के पृष्ठ २१ का प्रथम प्रघट्टक देखिए। आठ बार भूतकाल की क्रिया की पुनरुक्ति है। यदि लेखक का भाषा पर अधिकार हो तो वह इसे नचा सकता था। पृष्ठ ३२ और ३३ में भी यही दोष कुछ अधिक मात्रा में है। डेढ़ पृष्ठ में कम से कम चालीस वार था, थी, थे आदि की माला जपी गई है। ठीक यही दोष पृष्ठ २८३ के दूसरे प्रघट्टक में भी है। प्रेमचंदजी की भाँति श्रीवास्तवजी ने भी सूक्तियाँ लिखने का प्रयत्न किया है; परंतु सभी सूक्तियाँ प्रायः एक ही प्रकार की शब्दावली में कही गई हैं। उदाहरण के लिए देखिए 'विदा' पृष्ठ ७, १५, २७, ४३, २३६, २६०, ३०२, ३३६, ३३७।

श्रीवास्तवजी ने साहित्यिक हिंदी लिखने का प्रयत्न किया है और एक सीमा तक सफल भी रहे हैं, परंतु यह कहना ही पड़ता है कि इनकी भाषा में वह चलतापन और उपयुक्तता नहीं है जो प्रेमचंद की भाषा में मिलती है। कहीं कहीं शुद्ध हिंदी लिखने के प्रयास में उन्होंने साधारण बोलचाल के उर्दू शब्दों को भी बेढंगा संस्कृत रूप दे दिया है जिससे कथोपकथन की सजीवता नष्ट हो गई है, कहीं कहीं उर्दू और हिंदी का विचित्र मिश्रण करके ऐसे वाक्य बनाए हैं जो हास्यास्पद से लगते हैं। जैसे 'विजय' के पृष्ठ ३१ पर यह वाक्य देखिए—"जिस मानसिक रोग से यह 'आक्रांत' होकर जर्जरित

हो गए हैं, वह आप से पोशीदा नहीं।" एक ओर 'आक्रांत' और 'मानसिक' देखिए और दूसरी ओर 'पोशीदा'। जर्जर के स्थान पर 'जर्जरित' को देखिए। इस तरह की बेढंगी भाषा या तो 'हिंदुस्तानी' के हिमायतियों के मुखारविंद से प्रस्फुटित होती है अथवा कभी कभी 'हिंदुस्तानी एकेडमी' की तिमाही पत्रिका में ऐसी विचित्र भाषा के दर्शन हो जाते हैं। प्रतापनारायणजी उर्दू के विद्यार्थी जान पड़ते हैं, उसपर शुद्ध संस्कृत लिखने का नया शौक होने के कारण ऐसी गड़बड़ी स्वाभाविक ही है। परंतु शब्दों और मुहावरों की विचित्र तोड़-मरोड़, अँगरेजी के मुहावरों का बेढंगा अनुवाद, व्याकरण की अशुद्धियाँ इन सब ने मिलकर इनकी भाषा को बिलकुल शिथिल बना दिया है। यहाँ पर कुछ अशुद्ध शब्दों और वाक्यों को हम भूल नहीं सकते—

कालिमा धीरे धीरे प्रसारित होकर संसार को ढकती जा रही थी—('विदा', पृष्ठ १११)।

माधव बाबू ने संतुष्टपूर्ण हँसी हँसकर कहा—('विदा')।

प्रेम-पाठशाला में सब नहीं प्रवेश हो सकते—('विदा' पृष्ठ २१६)।

मंडलीकृत कपोलों में लालिमा छा गई—('विदा', पृष्ठ २५६)।

मैं बहुत अधैर्य स्वभाव का हूँ—('विदा', पृष्ठ २६६)।

वह मेरी बात नहीं माने—('विजय', पृष्ठ १५३)।

'नेता' शब्द का स्त्रीलिंग 'नेत्री' होता है परंतु श्रीवास्तवजी ने उसके लिए 'अभिनेत्री' शब्द का प्रयोग किया है ('विजय', पृष्ठ १६१)। इसी तरह 'विजय' के पृष्ठ २५ पर आया है 'श्यामली संध्या' शब्द। 'श्यामली' शब्द स्वयं श्रीवास्तवजी के कारखाने में बना है। 'विरोधी' के स्थान पर 'विरोधक' शब्द का प्रयोग किया गया है ('विजय', पृष्ठ ३११)। 'हताश' की जगह 'हताशा' बिलकुल 'बताशा' का हमवजन है। 'गुड मार्निंग' (Good morning) के लिए 'सुप्रभात' तथा 'शेकहैंड' (Shake hand) के लिए 'करमर्दन' भी

वहुत अच्छे नहीं लगते। अब कुछ व्याकरण की अशुद्धियों के नमूने देखिए—

(१) हास्य भी मुख पर नृत्य कर रही थी—('विदा', पृष्ठ १३०)।

(२) मोहिनी कटाक्ष—('विजय', पृष्ठ ८३)।

(३) हास्यमयी समीरण—('विदा', पृष्ठ १५०)।

(४) हर वात में (मनोरमा) मेरी प्रतिद्वंदी है—('विजय' पृष्ट, १०६)

इस प्रकार की अशुद्धियों से 'विदा' और 'विजय' भरे पड़े हैं।

भाषा-संबंधी इन दोषों को दिखलाने से मेरा तात्पर्य श्रीवास्तवजी का मूल्य कम करना नहीं है। औपन्यासिक के नाते उनमें गुण भी पर्याप्त हैं। भाषा के संबंध में भी उन्हें थोड़ा सतर्क रहना चाहिए। उपन्यास और कहानियाँ ही हमारे साहित्य के वे अंग हैं जिनसे सर्व-साधारण परिचित होते हैं। कुछ मनुष्य उपन्यासों के द्वारा ही भाषा सीखते है। अतएव यह आवश्यक है कि उपन्यासों की भाषा शुद्ध और ठिकाने की हो, अन्यथा ऐसे मनुष्यों को हमारी भाषा का शुद्ध एवं यथार्थ ज्ञान न हो सकेगा। श्रीवास्तवजी उदीयमान लेखक हैं। उनसे हमें बड़ी बड़ी आशाएँ हैं। उनके अगले उपन्यासों में अधिक परिमार्जित भाषा देखने की हम आशा करते हैं।

पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'

अभी तक जिन उपन्यासकारों का विवेचन हो चुका है उनमें किसी विशेष वाद की ओर आग्रह नहीं लक्षित होता। यद्यपि इनमें बहुत से लेखकों की प्रवृत्ति आदर्शात्मक ही लक्षित होती है परंतु वह आदर्श भी यथार्थ की सीमा से बँधा है। वाद के रूप में आदर्श और यथार्थ का जो अर्थ लगाया जाता है उसके भीतर हमारे उपन्यासकार नहीं आते। परंतु जब चारो ओर नए नए वादों का इलहाम हो रहा है तो हमारे ही साहित्य की उठती हुई जवानी क्योंकर चुप रहे।

पश्चिम के नग्न यथार्थवाद की 'उग्र' झंकार दूर के ढोल की भाँति कुछ 'मतवाले' हिंदी-लेखकों के कर्ण-कुहरों में भी पड़ी और वे भी उसकी बाहरी रूपाकृति की नकल पर महल तैयार करने को कमर कसकर खड़े हो गए। यथार्थ को बहुत दूर खींच लाकर उसका जो अर्थ लगाया गया उससे कम अनर्थ नहीं हुआ। यथार्थ का बिलकुल ही एकांगी अर्थ लगाकर उसे निम्न जीवन की नग्न वास्तविकता, अश्लीलता आदि का पर्याय समझा गया और इनके फल-स्वरूप हिंदी में जिस गरमागरम साहित्य की सृष्टि हुई उसने साधारण जनता और विशेषतया युवकों को खूब रिझाया, खूब ललचाया। कालेज और स्कूल के प्रायः सभी मनचले विद्यार्थियों की अटैची में 'चंद हसीनों के खुतूत' देखे जाने लगे। उपन्यास-साहित्य के इस प्रकार के सबसे प्रतिभा-संपन्न कलाकार, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' ही रहे।

'उग्र' जी में उच्चकोटि की विधायिनी प्रतिभा है, परख है अनुभूति है और सरस व्यंजना-शक्ति है इसे सभी सहृदय स्वीकार करते हैं और करेंगे। पाठकों के मन को मुट्ठी में कर लेने का इनका कौशल निराला है। इस 'उग्र'-वाणी की संमोहन-शक्ति अद्वितीय है। परंतु ऐसा लगता है मानों इतनी सारी विभूतियों का वरदान पाकर भी 'उग्र'जी वह न हो सके जो उन्हें होना था। अपने समाज के जिस गलित-दलित दलदल ने उन्हें फाँस रखा, वेश्यालय, गुंडालय और मदिरालय की जिस मोहिनी माया ने उन्हें भुला रखा; उसी के भीतर उनकी प्रतिभा उछल-कूद करती रही। जीवन के छाया-प्रकाशवाले उभय पक्षों में से उन्होंने अधिकतर उसकी छाया को ही पसंद किया और उसी में रंग भरने में मस्त रहे। कला की उपयोगिता की ओर से बिलकुल आँख मूँद लेने के कारण ही उन्होंने अनुकरण पर अधिक जोर दिया और जो जैसा है उसे उघाड़कर आँखों के सामने बिछा देने में ही कलाकार का कर्तव्य समझा और इसीलिए बड़े दावे के साथ सबको

चैलेंज दिया—"है कोई माई का लाल जो हमारे समाज को नीचे से ऊपर तक देखकर, कलेजे पर हाथ धरकर, सत्य के तेज से मस्तक तानकर इस पुस्तक के अकिंचन लेखक से यह कहने का दावा करे कि तुमने जो कुछ लिखा है गलत लिखा है। समाज में ऐसी घृणित, रोमांचकारिणी, काजल-काली तस्वीरें नहीं हैं। अगर कोई हो तो सोत्साह सामने आवे, मेरे कान उमेठे और छोटे मुँह पर थप्पड़ मारे, मेरे होश के होश ठिकाने करे। मैं उसके प्रहारों के चरणों के नीचे हृदय-पाँवड़े डालूँगा, मैं उसके अभिशापों को सिर-माथे पर धारण करूँगा—सँभाल लूँगा। अपने पथ में कतर-ब्योंत करूँगा। सच कहता हूँ, विश्वास मानिए 'सौगंध औ गवाह की हाजत नहीं मुझे।"

इस विषय पर 'उग्र' जी से नम्र निवेदन है कि उन पर, उनके पात्रों पर लोगों को पूर्ण विश्वास है। समाज में ऐसी घृणित, रोमांचकारिणी, काजल-काली तसवीरें हैं और बहुत हैं। परंतु उनका वर्णन करते समय लेखक को यह न भूल जाना चाहिए कि उनके पाठक ईश्वर नहीं हैं। दुनिया में भला-बुरा सब कुछ है। ईश्वर सबको देखता है, फिर भी वह अलिप्त रहता है। क्योंकि वह अलिप्त रह सकता है और रह रहा है। उसी की यह सामर्थ्य है कि वह इस विशाल विश्व के सब पाप और सब पुण्य देखता रहे। परंतु हम मानवों में वैसी ईश्वरीय अलिप्तता कहाँ? इसलिए हम सब कुछ नहीं देख सकते। यदि हठ करके सब कुछ देखने का प्रयत्न करेंगे तो हमारी आँखें फूट जायँगी और सिर फिर जायगा। ऐसा ही सिर फिरानेवाला साहित्य अश्लील कहलाता है। जहाँ पर स्त्री को घृणापूर्वक अथवा रसपूर्वक वेश्या, व्यभिचारिणी आदि कहकर उसकी लज्जा को अनावृत किया जाता है वहाँ पर मानवों में आसक्ति आ ही जाती है, चाहे कितनी ही चतुराई से काम लिया गया हो। अतएव किसी साहित्य की अश्लीलता-अश्लीलता का मापक यह आसक्ति-अनासक्ति ही है।

जहाँ स्त्री में माता-भगिनी की बुद्धि है वहाँ अश्लीलता नहीं है, क्योंकि वहाँ अनासक्ति है। हमारे यहाँ अश्लीलता को सदैव से ही काव्य का दोष गिना जाता रहा है। कलाकार का यह एक बहुत बड़ा कर्तव्य है कि वह जन-रुचि का ध्यान करके चले। उसकी कृतियों का समाज पर कैसा प्रभाव पड़ता है उसे इसका भी ध्यान रखना चाहिए। अश्लील और कुरुचिपूर्ण प्रसंगों को भी जन-मन के समक्ष लाने के पूर्व शिष्ट आवरण में ढककर उपस्थित करना चाहिए। अन्यथा किसी घृणित तथ्य का उद्घाटन करनेवाले काव्य का वही मूल्य होगा जो किसी सामान्य चित्रकार के यहाँ लगी हुई रमणी की बाजारू तसवीरों का।

'दिल्ली का दलाल' उपन्यास में जिस नग्न वास्तविकता का जिन ब्योरों के साथ उद्घाटन हुआ है वह किसी भी समुन्नत साहित्य के लिए वांछनीय नहीं, इस उपन्यास में स्त्रियों का कुत्सित व्यापार करनेवाले नरपिशाचों का बड़ा ही यथातथ्य चित्रण हुआ है। भले घर की भोली युवतियाँ और बालिकाएँ किस तरह बहकाई, फँसाई, उड़ाई और सताई जाती हैं इसका इतना विशद एवं रोमांचकारी चित्रण शायद ही कहीं मिले। परंतु यह चित्रण शिष्टता की सीमा लाँघ गया। अपने प्रारंभिक जोश में लिखे गए इस उपन्यास में 'उग्र' जी ने नारी-जाति की जो दुर्गति दिखाई उसे देख शर्म से आँखें झुक जाती हैं। इस चटपटे उपन्यास का पाठकों ने जितना आदर किया उससे कहीं अधिक 'उग्र' जी पर बौछारें भी पड़ीं—गुरुजनों की, साहित्यिक महारथियों की। यद्यपि उनकी प्रकृति अपवादों के आगे सिर झुकानेवाली नहीं तो भी उन्होंने अपनी भूल न मानकर भी कुछ कुछ मानी। इसी लिए तो 'बुधुआ की बेटी' दलालों के चंगुल में फँसी हुई बेचारी स्त्रियों की अपेक्षा कुछ अधिक ढकी-छुपी आई यद्यपि इसका आवरण भी झीना ही झीना रहा। पुत्र पैदा करनेवाले

शेखजी की दरगाह, मनुष्यानंद की पत्नी का व्यभिचार, मिसेज यंग का रंग-रहस्य तथा घनश्याम-राधा के प्रसंग का चित्रण पर्याप्त वासना-मय हुआ है। परंतु इसके उपरांत 'चंद हसीनों के खुतूत' उपन्यास बहुत संयत होकर आया। इस बार 'उग्र' जी के हृदय की क्रांति-धारा दूसरी ही दिशा में प्रवाहित हुई। सामाजिक बंधनों में जकड़े हुए युवक-हृदय की चीत्कार में 'उग्र' जी ने योग दिया और उसे ऊँचा उठाया। मनुष्य सबसे पहले मनुष्य है और इसके उपरांत हिंदू, मुसलमान या अन्य कोई। प्रेम पर मर मिटनेवाले अमर शहीद 'मुरारी' और उस प्रेम की प्रतिमा यवन-बाला 'नर्गिस' की प्रेम-कहानी चित्रित करके 'उग्र' जी ने उच्चकोटि के आधुनिक रोमांस का दिग्दर्शन कराया। वास्तव में 'उग्र'जी यदि ऐसे उपन्यास भी लिखते तो गनीमत थी। परंतु 'शराबी' में वे एक बार पुनः वेश्यालय और मदिरालय को सामने लाए। उस विषाक्त वायु में अपना संसार बसाकर भी 'उग्र' जी ने इस उपन्यास में घृणित दृश्यों को बचाने का प्रयत्न किया है। चरित्र-चित्रण, वस्तुवर्णन आदि की दृष्टि से यह उपन्यास बहुत सफल रहा। 'सरकार तुम्हारी आँखों में' भी अच्छा उपन्यास है। महाराज 'मदनसिंह' की सहृदयता, कामुकता एवं पाशविकता का सुंदर चित्रण करके लेखक ने अपने अनुभव का अच्छा परिचय दिया है।

'उग्र' जी का नवीनतम उपन्यास है 'जीजी जी' (संवत् २०००)। इसमें 'उग्र' जी में आश्चर्यजनक परिवर्तन लक्षित होता है। यह उपन्यास स्पष्टतः आदर्शवादी है यद्यपि इसमें वर्णित कहानी कोरा यथार्थ है। मंगलाप्रसाद ने अपनी दूसरी स्त्री के हठ से अपनी सुशीला मातृहीना कन्या (जिसे सारा परिवार 'जीजी जी' कहता था) का विवाह दीनानाथ नामक एक दुश्चरित्र युवक से जिसकी पहली स्त्री की मृत्यु हो चुकी थी कर दिया। परिणाम यह हुआ कि पतिगृह में जाकर

जीजी जी को पति के भयंकर अत्याचारों को जीवन भर मूक भाव से सहन करना पड़ा। गाली-गलौज, मारपीट आदि क्या क्या उन्हें नहीं भुगतने पड़े। अंत में तन और मन से जर्जर जीजी जी बरसात में पुरानी दीवार की तरह एक दिन जो काम करते ही करते लड़खड़ा कर गिरीं तो फिर उठीं नहीं। स्नेहशील पिता एवं अपरिमेय प्यार करनेवाले मुरली भाई के रहते हुए भी उन्होंने सारी विपत्ति स्वयं झेल ली कभी सहायता की याचना न की।

इस उपन्यास के लंबे चौड़े 'दीबाचा' में आधुनिक कम्यूनिस्टों की दलीलों का खंडन करते हुए 'उग्र' जी ने यह प्रतिपादित किया है कि नारी का क्षेत्र, उसका आदर्श सदैव ही अलग रहेगा। वह पुरुष की सी स्वतंत्र कभी नहीं हो सकेगी। यदि होने का प्रयत्न करेगी तो समाज में अशांति ही फैलेगी। जीजी जी का विचार है कि नारी का मंगल इसी में है कि उसे जो कुछ मिले—मीठा, कड़वा—भोगती जाय, बिना चूँ तक किए हुए। वह मुरली से कहती है "जिंदगी सुलगने ही के लिए है—धीरे-धीरे; फिर वह जलना बामन के साथ हो या तिरपन के।" इस तरह इस उपन्यास में पत्नी-विषयक प्राचीन भारतीय भावनाओं का ही पोषण है। इसके जितने भी चरित्र हैं बड़े सजीव हैं। विशेष कर 'नरकू' बामन का चित्रण तो बहुत ही अच्छा है।

'उग्र' जी के उपन्यासों में समाज, व्यक्ति और नियति के प्रति आदि से अंत तक एक व्यंग्य छिपा रहता है। यह उनके नवीन युग के क्रांतिकारी हृदय का प्रसाद है। 'उग्र' जी ऐसे लेखक नहीं जो समाज या जाति को किसी आदर्श पथ की ओर संकेत करके उसकी गति-विधि को उसी ओर मोड़ दें। समाज-सुधार का सबसे बड़ा साधन वे उसकी दुर्बलताओं की निवृत्ति और उस पर व्यंग्य को ही समझते हैं। परंतु व्यंग्य के द्वारा सुधार का काम प्रायः असफल ही

रहा है। मानव के साथ सहानुभूति और समवेदना दिखलाकर ही उसके हृदय पर विजय प्राप्त की जा सकती है। परंतु 'उग्र' जी ने वैसा नहीं किया।

'उग्र' जी की चरित्र-सृष्टि को देखने से पता चलता है कि वे पात्रों के वाह्य चित्रण में जितने सफल रहे उतने मानसिक चित्रण में नहीं। चरित्रों के भीतर पैठकर उनके मनोराज्य की ऊहापोह का, विचारों के संघर्ष का चित्रण करने की ओर उन्होंने अधिक ध्यान नहीं दिया। इनके चरित्रों में प्रायः व्यक्तिगत विशेषताओं की अपेक्षा वर्गगत विशेषताएँ ही अधिक मिलती हैं। इनके उपन्यास शुद्ध चरित्र-कोटि में आते हैं। परंतु इन वर्गगत पात्रों का चित्रण 'उग्र' जी ने पर्याप्त सफलता से किया है। समाज के जिस अंग को वे अपने चित्रण का विषय वनाते हैं उससे पूर्ण परिचित होते हैं।

परंतु 'उग्र' जी की सबसे बड़ी विशेषता है उनकी भाषा की शक्ति एवं सजीवता। किसी बात को प्लैटफार्मी ढंग पर जोरदार बनाकर कहने की इनकी शक्ति अद्भुत है। एक उदाहरण देखिए—

"चारों ओर डंडाशाही, ईंटाशाही, छुराशाही, तलवारशाही, औरंगशाही और नादिरशाही का वोलबाला था। धूर्त नौकरशाही, अपवित्र नौकरशाही और इन सव खुराफातों की जड़ नौकरशाही इस समय घूँघट में मुँह छिपाए है।"*

इस तरह की व्यंजना-प्रणाली में अंशतः भाव-व्यंजना की प्रगल्भता और अंशतः भावावेश का प्रावल्य पाया जाता है, जिसके कारण कथा-वस्तु की मनोरंजकता के अतिरिक्त एक विशेष मोहकता आ जाती है जो उनके उपन्यासों की रंजन-सक्ति की वृद्धि कर देती

* देखिए 'चंद हसीनों के खुतूत'।

है। इस भाषा में काव्य-भाषा की सी अलंकार-रमणीयता होती है और यह रमणीयता प्रतिदिन के परिचित उपमानों द्वारा ही लाई जाती है। उसके लिए काल्पनिक उन्माद अथवा अनुभूति की आवश्यकता नहीं होती। निम्नांकित पंक्तियों में 'शराबी' उपन्यास की 'जवाहर' के नृत्य-सौंदर्य का कितना मोहक चित्रण हुआ है—

"वह इस तरह नाचती है जैसे भोरहरी की हवा में अलसी का फूल। जैसे राजा रामरूप के ऐश बाग में, उस बड़े तालाब में, रिमझिम बरसते सावन में छोटी-बड़ी लहरों पर हंसिनी नाचा करती है।"

एक और नमूना 'दोजख की आग' से देखिए—

"मेरी एक बीवी थी। गुलाब की तरह खूबसूरत, मोती की तरह आबदार' कोहेनूर की तरह बेशकीमत, नेकी की तरह नेक, चाँद की तरह सादी, लड़कपन की हँसी की तरह भोली और जान की तरह प्यारी।

"मेरे एक बच्चा था। चाँदनी सा गोरा, नए चाँद सा प्यारा, युवती के कपोलों सा कोमल, प्रेम सा सुंदर, चुम्बन सा मधुर, आशा सा आकर्षक और प्रसन्न हँसी सा सुखद।

"मेरी एक माँ थी। मसजिद की तरह बूढ़ी, आम की तरह पकी, दया की तरह उदार, दुआ की तरह मददगार, प्रकृति की तरह करुणामयी, खुदा की तरह प्यारी और कुरान-पाक की तरह पाक।"

यदि सच पूछा जाय तो 'उग्र' जी की भाषा ही उन्हें साहित्य-क्षेत्र में अमर कर देने के लिए पर्याप्त है। इस युगांतरकारी लेखक ने यदि अपनी प्रतिभा का संयम के साथ उपयोग किया होता तो साहित्य के उच्चतम आसन पर आसीन होता।

पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' से बहुत-कुछ मिलते-जुलते उपन्यासकार

श्रीयुत ऋषभचरण जैन हैं। इनका 'भाई' उपन्यास तो बिलकुल ही प्रेमचंद जी के ढर्रे पर लिखा गया था। इसमें

ऋषभचरण जैन

वर्णित ग्रामीण जीवन, ग्रामीणों की मनोवृत्ति, उनका रहन-सहन देखकर ऐसा लगता है मानों लेखक पर प्रेमचंद का पूरा पूरा रंग चढ़ चुका था। यदि ऋषभ-चरणजी उसी रास्ते पर चले चलते तो आज उपन्यास-क्षेत्र में उनका विशिष्ट स्थान होता। परंतु यथार्थवाद के 'उग्र' झोंके ने उन्हें भी पथच्युत कर दिया और उनकी प्रतिभा भी अड्डों और अखाड़ों में ही घर करके बैठ गई। फिर तो उन्होंने दूसरी ओर आँख उठाने की तकलीफ ही नहीं की। उस मायामय रंगस्थल में कुछ ऐसा जादू था कि उसने इनकी नजरों को बाँध लिया। पाठकों द्वारा ऐसे उप-न्यासकारों को जो प्रोत्साहन मिलता है उसके कारण और भी ये लोग उसी दलदल में पड़े रहते हैं। स्वयं ऋषभचरणजी ने स्वीकार किया है कि "सिर्फ सदाचार-संबंधी अनर्गल पुस्तकें छापकर कोई प्रकाशक आर्थिक सफलता प्राप्त नहीं कर सकता और व्यापारिक कार्य के लिए चंदा माँगकर गुजर करना भी किसी प्रकाशक की गैरत गवारा नहीं कर सकती"। परंतु आर्थिक लाभ के लिए सामाजिक मस्तिष्क विकृत करना कहाँ तक शोभा देता है कहा नहीं जा सकता।

ऋषभचरणजी ने 'दिल्ली का व्यभिचार', 'दिल्ली का कलंक', 'दुराचार के अड्डे', 'वेश्यापुत्र', 'मयखाना', 'चाँदनी रात', 'चंपा-कली', 'हर हाइनेस', 'पैसे का साथी', 'गदर', 'मास्टर साहब', 'भाई', 'भाग्य', 'रहस्यमयी', 'मंदिर प्रदीप', 'सत्याग्रह', 'बुर्दाफरोश' आदि अनेक पुस्तकें लिखकर छाप डाली हैं और यदि यही रफ्तार रही तो संख्या की दृष्टि में शायद ये किशोरीलाल गोस्वामी से भी आगे बढ़ जाएँ।

ऊपर गिनाए हुए अधिकतर उपन्यास 'दिल्ली का दलाल' के ही

अनुगामी हैं। 'दिल्ली का दलाल' लिख चुकने के उपरांत 'उग्र' जी की लेखनी तो कुछ संयत भी हुई परंतु ऋषभचरणजी के उपन्यास तो नग्न वास्तविकता के पूर्ण प्रदर्शन हैं। जैसा कि 'चंपाकली' की भूमिका से पता चलता है—"पाठक इस चीज को पढ़कर कसक और गुदगुदी का एक साथ अनुभव करेगा, और शायद यह कसक और गुदगुदी उसे काफी दिन तक परेशान रखेगी"। लेखक ने अपने अधिकांश उपन्यासों में 'कसक' और 'गुदगुदी' पर ही अधिक ध्यान रखा है जिसके कारण इनके अधिकतर उपन्यास बाजारू होकर रह गए। यद्यपि पात्रों का वाह्य चित्रण ऋषभजी बड़ी सजीवता के साथ करते हैं परंतु वह इतना नग्न है कि साहित्य-संसार उसे अपनाने में सदैव संकोच करेगा। जैसा कि ऊपर कह चुके हैं 'भाई' आदि कुछ उपन्यास इस दलदल के बाहर के भी हैं, परंतु इनकी प्रतिभा अधिकतर चटक-मटक की ओर ही दौड़ी है। ऋषभचरण की भाषा बड़ी ही भावपूर्ण और सजीव होती है और कथोपकथन में 'कौशिक' जी के कथोपकथन सी चुस्ती रहती है।

बीसवीं शती के कथा-साहित्य के लिए प्रेमचंद ने जिस कलेवर को अपनाया वह सर्वथा पाश्चात्य है इसका उल्लेख किया जा चुका है। कृत्रिमता को छोड़ अधिक से अधिक स्वाभाविकता लाना ही इस आधुनिक ढाँचे की विशेषता है। क्या घटना, क्या चरित्र-चित्रण, क्या कथोपकथन, क्या दृश्य-वर्णन सभी में यह ध्यान रखा जाता है कि वे अधिक से अधिक स्वाभाविक एवं जग-जीवन के निकट हों। हमारे प्राचीन संस्कृत-साहित्य में गद्यबद्ध साहित्यिक आख्यायिकाएँ भी अधिकतर पद्य-बद्ध रचनाओं का ही अनुसरण करती रहीं। उनके परिच्छेदों के आरंभ में अच्छे अलंकृत दृश्य-वर्णन होते थे, पात्रों की बातचीत भी रसात्मक होती थी जिससे कविता का सा ही

चंडीप्रसाद 'हृदयेश'

आनंद मिलता था। हिंदी-कथा-साहित्य के प्रारंभिक दिनों में कुछ कुछ इसी ढंग की रचनाएँ होती रहीं यह कहा जा चुका है। परंतु उपन्यास के नवीन कलेवर के गृहीत हो जाने पर ऐसी प्राचीन ढंग की रचनाएँ कृत्रिम और हास्यास्पद समझी जाने लगी हैं। हमारे साहित्य में दिवंगत चंडीप्रसाद 'हृदयेश' एक ऐसे कलेवर का विकास कर रहे थे जिसमें आधुनिक ढंग का चरित्र-चित्रण आदि तो रहे ही साथ-साथ भारतीय वर्णन-प्रणाली का भी निर्वाह होता चले। उनमें प्रतिभा थी, पांडित्य था और था अपनी संस्कृति एवं आदर्शों के प्रति असीम अनुराग। अतएव इसमें संदेह नहीं कि प्राच्य एवं पाश्चात्य के मेल से वे हम लोगों को एक नवीन कलेवर दे जाते जिसे गर्व के साथ हम अपना कह सकते। परंतु उनकी असामयिक मृत्यु ने यह होने न दिया।

अपने जीवन के थोड़े से वर्षों में ही 'हृदयेश' जी हमें बहुत कुछ दे गए। नंदन-निकुंज' इनकी सरस, भावपूर्ण कहानियों का संग्रह है; 'मंगलप्रभात' एक बृहद्काय सामाजिक उपन्यास। 'मंगलप्रभात' को सामाजिक उपन्यास न कहकर धार्मिक या नैतिक कहना ही अधिक उपयुक्त लगता है। यह एक आदर्शवादी उपन्यास है जिसमें सेवा, त्याग, आत्मशुद्धि आदि की 'महिमा' का वर्णन है, परंतु यह न समझना चाहिए कि इसके पात्र सब देवता ही हैं। यदि इसमें महिमामयी विधवा 'सुभद्रा', प्रेममयी 'अन्नपूर्णा', साक्षात् तप-स्वरूप 'आनंद स्वामी' एवं 'बाबूजी' और कर्तव्यशील 'राजेंद्र' एवं 'वसंत' का उज्ज्वल चित्रण किया गया है तो साथ ही साथ प्रवंचक 'प्रेमतीर्थ', दुष्ट 'संग्रामसिंह', पिशाच 'यदुनंदनसिंह' एवं वासना की दासी 'राधा' तथा कुटनी 'चंपा' का भी यथेष्ट सजीव चित्रण मिलता है। 'मंगलप्रभात' से यह स्पष्ट लक्षित होता है कि 'हृदयेश' जी को चरित्र-चित्रण की कला ज्ञात थी।

परंतु 'मंगल-प्रभात' की सबसे बड़ी विशेषता है इसकी वर्णन-प्रणाली। ऐसा लगता है मानों 'हृदयेश' जी बात को सीधे ढंग से कह देना कहना ही नहीं समझते थे। इनका एक वाक्य भी बिना अलंकारों की सहायता के आगे नहीं बढ़ता। उपमाओं, उत्प्रेक्षाओं की भरमार सी है। प्रत्येक परिच्छेद के आरंभ में लंबे लंबे अलंकृत वर्णन हैं। कहानी के बीच बीच में दार्शनिक, धार्मिक एवं नैतिक उद्गार भरे पड़े हैं। कहीं कहीं तो ये उद्गार इतने बड़े हो गए हैं कि जी ऊब जाता है। यदि इस उपन्यास में से अनावश्यक वाक्य निकाल दिए जायँ, धार्मिक उपदेश छाँट दिए जायँ, शब्दों को अनलंकृत कर दिया जाय तो ७५० पृष्ठों से कम होकर इसका आवरण लगभग २०० पृष्ठ रह जाय। यह सब होते हुए भी 'मंगल-प्रभात' अपने ढंग का अच्छा उपन्यास है। इसके अरिरिक्त 'हृदयेश' जी का एक और उपन्यास 'मनोरमा' भी है।

चतुरसेन शास्त्री

श्री चतुरसेन शास्त्री ने 'हृदय की परख', 'हृदय की प्यास', 'अमर अभिलाषा' एवं 'आतमदाह' ये चार उपन्यास लिखे हैं। 'हृदय की परख' में काल्पनिकता अधिक है। 'हृदय की प्यास' साधारणतया अच्छा उपन्यास है। इसमें आधुनिक शिक्षा से उत्पन्न सौंदर्योपासना, अविवेक और मतिभ्रम तथा पूर्व-संस्कार के कारण कर्तव्यपरायणता और पश्चात्ताप का चित्रण हुआ है। पुस्तक सोद्देश्य है और लिखने का तर्ज पुराना। 'अमर अभिलाषा' का नाम यदि लेखक 'विधवा-तत्त्व-दर्शन' अथवा 'विधवा-विवाह-मीमांसा' रखता तो अधिक उपयुक्त होता। इसमें भगवती, नारायणी, सुशीला, कुमुद, मालती और बसंती नामक छः विधवाओं की कहानियाँ हैं। इस उपन्यास में इन विधवाओं की यंत्रणाओं का चित्रण करके समस्या के सुलझाव की ओर भी इंगित किया गया है। हिंदू-विधवा अबला का तप रूप है। यदि वह अपनी

वासनाओं का दमन और इंद्रियों का निग्रह करके पवित्र जीवन व्यतीत कर सकती है तो अत्युत्तम है। परंतु यदि वासनाएँ प्रबल हैं तो उसका विवाह उचित ही नहीं आवश्यक भी है। पुस्तक के अंतिम परिच्छेद के उपदेशात्मक वाद-विवाद में यही सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। गाँव की बड़ी-बूढ़ियों और उनके अंधविश्वासों आदि का चित्रण बहुत अच्छा है। हमारे समाज में विधवाओं के विषय में इतनी जागर्ति हो गई है कि यह उपन्यास पुराने ढंग और समय का लगता है।

उपन्यास की भिन्न भिन्न कहानियों में कोई नैसर्गिक संबंध नहीं है। वे अलग अलग भी लिखी जा सकती थीं। प्रत्येक कहानी स्वतंत्र है। लेखक ने संबंध स्थापित करने का प्रयत्न किया अवश्य है परंतु वह सूत्र बड़ा क्षीण है। भगवती और नारायणी बहनें हैं और कुमुद एवं मालती सखियाँ। एक स्थान पर कह दिया गया है कि प्रकाश कुमुद का ममेरा भाई है। प्रकाश सुशीला की कहानी का मुख्य पात्र है। यही सुशीला और कुमुद की कहानियों का संबंध है। हरगोविंद वसंती को भगा लाया था और उसीने भगवती का भी सर्वनाश किया। वसंती और सुशीला परिचित हैं। यही भिन्न भिन्न कहानियों का संबंध है। स्पष्ट है कि सारे संबंध बाह्य हैं आंतरिक नहीं और इससे प्रभाव की पूर्णता नष्ट हो जाती है।

उपन्यास यथार्थवाद के उग्र रूप की ओर झुकता हुआ सा है। विधवाओं की दुर्दशा का जो खाका शास्त्रीजी ने खींचा है वह यथा-तथ्य है। परंतु कहीं कहीं उसमें अस्वाभाविकता और अश्लीलता आ गई है यद्यपि प्रकाशक महोदय के अनुसार 'चीज अधिक सुंदर, अधिक स्वाभाविक और अधिक सुरुचिवर्धक बन गई है'। छजिया ने जब भगवती को हरगोविंद के कमरे में पहुँचाकर बाहर से दरवाजा बंद कर लिया तो वहाँ पर लेखक को विवरण का मोह छोड़ संकेत

का सहारा लेना चाहिए था। पुस्तक प्रथमतः स्त्रियों के लिए लिखी गई है। एकाध स्थान पर तो पाठिकाओं को ही संबोधित किया गया है। स्त्रियों की पुस्तक में ऐसी अश्लीलता सुरुचि का परिचय तो किसी प्रकार नहीं देती।

प्रकाश, श्यामा बाबू, कुमुद, सुशीला और मालती के रूप में लेखक ने युवक-युवतियों के सामने आदर्श उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। प्रकाश और सुशीला के संबंध की सभी घटनाएँ असंभव न होने पर भी उपन्यासोचित ही हैं। सुशीला को बचाना, राजा की हत्या, स्त्रियों का डेपुटेशन आदि घटनाएँ उपन्यास में ही प्रायः होती हैं, वास्तविक जीवन में शायद ही कभी होती हों। प्रकाश को लेखक ने मूर्तिमान आदर्श बनाना चाहा है जिससे वह अस्वाभाविक हो उठा है। प्रकाश ने सुशीला की रक्षा की। दोनों कदाचित एक-दूसरे को प्यार भी करते हैं, परंतु विवाह नहीं करते। प्रकाश सुशीला को अपनी धर्म-बहिन बना लेता है। संभवतः लेखक ने आदर्श यह रखा है कि जिसकी रक्षा करे उसे बहिन के समान माने। उससे विवाह की इच्छा रखना वासना है, पाप है। पुस्तक का उद्देश्य स्पष्ट रूप से उपदेशात्मक अथवा प्रचारात्मक है। अपने इस उद्देश्य में लेखक सफल भी हुआ है। इस प्रकार की प्रचारात्मक पुस्तकों में उपन्यास-कला का प्रस्फुटन अथवा विकास ढूँढ़ना व्यर्थ ही होगा, परंतु श्री ऋषभ-चरण जैन के अनुसार 'अमर अभिलाषा' 'विश्व-साहित्य' में गणना-योग्य है। शास्त्रीजी अच्छे कलाकार और छोटी कहानियों के उत्कृष्ट लेखक हैं। परंतु इस उपन्यास में कला की दृष्टि से उन्हें सफलता नहीं मिली है। प्रचार और कला दो भिन्न भिन्न वस्तुएँ हैं।

ऋषभचरणजी की संमति में पुस्तक में गुण ही गुण हैं और उपन्यास 'सर्वथा निर्दोष और प्रशंसनीय' है। परंतु आद्योपांत पुस्तक पढ़ चुकने पर इससे सहमत होना थोड़ा कठिन है। कुछ भूलें तो बड़ी

भद्दी हो गई हैं। पृष्ठ ६० पर प्रकाश सुशीला को एक फोटो दिखाता है और कहता है कि 'सुशीला, यदि माता जीवित होती तो तुम्हें प्यार करती।' मेरी तुच्छ बुद्धि से इसका अर्थ यही हुआ कि प्रकाश की माता मर चुकी थी। परंतु पृष्ठ २३८ पर जब सुशीला लाट साहब के पास डेपुटेशन ले जाने की चर्चा करती है तो प्रकाश की माता आगे आकर कहती है कि "मैं सहायता करूँगी"। यदि माँ मर चुकी थी तो यह नई कहाँ से टपक पड़ी ? विमाता होने का कहीं भी परिचय नहीं मिलता। तो क्या पुत्र का मुकदमा देखने और डेपुटेशन में जाने की उत्सुकता के निवारण के निमित्त उसने स्वर्ग से मर्त्यलोक की यात्रा की ? इसी प्रकार बसंती की कहानी में भी भद्दी विरोधात्मक उक्तियाँ हैं। हरगोविंद और गोविंदसहाय एक ही व्यक्ति जान पड़ते हैं। फिर दो नामों के प्रयोग का क्या कारण है, यह मैं नहीं समझ पाया। इससे केवल उलझन बढ़ती है।

'आत्मदाह' की कथा और भी बिखरी हुई है। इसमें लेखक का क्या उद्देश्य है यह भी समझ में नहीं आता। एक भावुक, परिवार-वत्सल, मित्रवत्सल व्यक्ति सुधींद्र ले लिया गया और उस पर एक के उपरांत दूसरी विपत्तियों का पहाड़ लगातार गिराते गए। पुस्तकारंभ सुधींद्र की प्रियपत्नी माया की मृत्यु से होता है। इसके उपरांत उसकी बहिन इंदु पति जयगोपाल के दुराचरण की अग्नि में भस्म हो जाती है तदनंतर जयगोपाल की कुटिलता से राजाराम को कारावास होता है जिस दुःख से दुखी होकर माता की मृत्यु होती है। अपनी पत्नी सुधा के भाई मधुसूदन के साथ सुधींद्र लड़ाई में विदेश जाता है। जहाँ से मधुसूदन एक टाँग कटाकर लौटता है। चिलियानवाला में मधुसूदन गोली का शिकार बन जाता है। इसके प्रतिवर्तन-स्वरूप आन्दोलन में भाग लेने के कारण सुधींद्र को कालापानी एवं सुधा को कारावास का दंड मिलता है। कालापानी से लौटने पर सुधींद्र को अपने पिता एवं सुधा की मृत्यु का समाचार मिलता है जिससे

वह विक्षिप्त सा हो जाता है। सुधा के मृत बालक की शीशी को कलेजे से चिपटाए जब हम पागल सुधींद्र को काशी की सीढ़ियों पर रोटी के टुकड़ों के लिए कुत्तों से स्पर्धा करते हुए देखते हैं तो मानव की इस नगण्यता पर बड़ी करुणा उठ खड़ी होती है।

'आत्मदाह' को देखकर ऐसा लगता है कि लेखक के पास कोई एक पूर्ण कहानी नहीं थी। भिन्न-भिन्न कहानियों अथवा घटनाओं का बखान करने के लिए एक पात्र चुन लिया और उसे देश-विदेश में भटकाते फिरे। बहुत सी बातों का बिलकुल बेकार समावेश किया गया है जिसका मूल कहानी से कोई संबंध नहीं। उदाहरणार्थ सुधींद्र के मित्र हरिप्रसाद, सूर्यकुमार एवं प्रियवर्मा आदि का वर्णन।

'अमर अभिलाषा' की भाँति इस पुस्तक में भी असावधानी के कारण लेखक से भद्दी भूलें हो गई हैं। पृष्ठ ७६ पर बताया गया है कि सुधींद्र की छोटी बहिन इंदु के पति राजाराम तथा लड़की सुधा है। पृष्ठ १०१ पर बताया गया है कि सुधींद्र के छोटे भाइयों का नाम क्रमशः रामजस, वीरेंद्र तथा राजेंद्र था। परंतु आगे चलकर रामजस के स्थान पर सदैव राजाराम का प्रयोग हुआ है एवं वीरेंद्र के स्थान पर कभी राजेंद्र और राजेंद्र के स्थान पर वीरेंद्र का। माया की मृत्यु के समय वीरेंद्र की शादी की आयोजना हो रही थी और पृष्ठ २८६ पर लिखा है कि वीरेंद्र अविवाहित था। पृष्ठ ३२६ पर ही लिखा है कि राजाराम (अथवा रामजस), की दूसरी बहू का नाम रेवती था परंतु पृष्ठ ३३७ पर रेवती बसंती हो हो जाती है। पृष्ठ ३६२ पर वीरेंद्र की मृत्यु की चर्चा है परंतु ३६६ पर कहा जाता है कि मधु और राजेंद्र की मृत्यु ने उन्हें हिला दिया था। पृष्ठ ४४० पर राजाराम फिर असली रामजस हो गए हैं। इंदु की लड़की का नाम भी सुधा एवं सुधींद्र की दूसरी पत्नी का नाम भी सुधा रखा गया है। इससे उलझन बढ़ती है।

अब थोड़ा सा शास्त्रीजी की भाषा-शैली पर विचार करना चाहिए। श्री ऋषभचरणजी ने 'अमर अभिलाषा' के 'अधिक प्रभाव शाली वर्णन', 'अधिक वेधक व्यंजना', 'मस्ती-भरी वाक्य रचना', 'लेखक की सर्वतोमुखी प्रतिभा', 'लेखनी की धमक' एवं 'रक्त रोक देनेवाली तेजी' का अनुभव किया है। मुझ हृदयहीन और अल्पबुद्धि को इनमें से अधिकांश का अनुभव नहीं हुआ। शास्त्रीजी में प्रतिभा और मौलिकता अवश्य है परंतु उनकी वर्णनशैली अनाकर्षक और भाषा साधारण है। उनकी भाषा में पछाँहीपन है। 'जिदन, कालीप्रसाद ने खूब शराब पी हुई थी', 'उसने एक रेशमी दुलाई बदन पर ओढ़ी हुई थी', 'तुमने भी देखभाल नहीं करी,' 'उसे तैंने जान से ही मार डाली होती। जिंदी क्यों छोड़ दी' आदि पश्चिमी प्रयोग हैं जो शुद्ध खड़ी बोली में नहीं प्रयुक्त होते। 'चूड़ी', 'स्त्री' और 'गुड़िया' के बहुवचन 'चूड़ियें' 'स्त्रियें', गुड़ियें' बनाए गए हैं। 'वैसी ही कुरता', 'मुर्दों की क्रिया-कर्म तो होता नहीं था', 'एक बूँद आँसू टपक गए' आदि दोष हम प्रेस के सिर नहीं मढ़ सकते। 'भाव-भंगी' देखी जाती है परंतु वसंती 'गोपी की भावभंगी सुन रही थी'। 'भगिनी' को 'भगनी' और 'अनेक' को 'अनेकों' किया गया है। 'ससुराल' का रूप 'स्वसराल' बनाया गया है। अष्ट-सिद्धि के वजन पर 'नवनिद्धि' का निर्माण हुआ है। शास्त्रीजी की शैली प्राचीन ढंग की है। स्थान स्थान पर वे पाठकों को संबोधित करके कुछ कहते चलते हैं। जैसे 'पाठको, अब हम आपको वहाँ लिए चलते हैं' अथवा 'प्यारे पाठको, आप ही यह सोचें' आदि। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि शास्त्रीजी में प्रतिभा है, मौलिकता है, अनुभव है और भावुकता है।

कवि भगवती. चरण वर्मा के अभी तक दो उपन्यास—'चित्र-लेखा' और 'तीन वर्ष', प्रकाशित हुए हैं और दोनों ही अपने

आप में पर्याप्त महत्त्वपूर्ण हैं। 'चित्रलेखा' ने हिंदी जगत में बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की तथा इसका सवाक् चित्र भी बन गया। लेखक के अनुसार इस उपन्यास में एक समस्या है और है मानव जीवन को तथा उसकी अच्छाइयों और बुराइयों को देखने का लेखक का निजी दृष्टिकोण। 'पाप क्या है और उसका निवास कहाँ है ?"—यही समस्या है। इसका हल पाने के लिए लेखक ने दो विरुद्ध प्रकृति के बड़े ही सबल पात्रों की अवतरणा की है। बीजगुप्त मूर्तिमान अनुराग है, कुमारगिरि विराग। एक भोग है दूसरा त्याग। "संयम कुमारगिरि का साधन है और स्वर्ग उसका लक्ष्य। किंतु आमोद-प्रमोद ही बीजगुप्त के जीवन का साधन है तथा लक्ष्य भी है।" इन्हीं दो पात्रों के जीवन में लेखक ने अपनी समस्या का समाधान ढूँढ़ा है। परिस्थितियों के आवर्त्त में कुमारगिरि का संयम स्खलित होता है, उसका गर्व खर्व होता है। इधर परिस्थितियों के प्रवाह में ही भोगी बीजगुप्त एक महान त्यागी बन जाता है। जगत इन दोनों पात्रों को दो दृष्टियों से देख सकता है। एक दृष्टि से "बीजगुप्त देवता है। संसार में वे त्याग की प्रतिमूर्ति हैं, उनका हृदय विशाल है। और कुमारगिरि पशु है। वह अपने लिए जीवित है, संसार में उसका जीवन व्यर्थ है। वह जीवन के नियमों के प्रतिकूल चल रहा है, अपने सुख के लिए उसने संसार की बाधाओं से मुख मोड़ लिया है।" दूसरी दृष्टि से "योगी कुमारगिरि अजित हैं। उन्होंने ममत्व को वशीभूत कर लिया है, वह संसार से बहुत ऊपर उठ चुके हैं। उनकी साधना, उनका ज्ञान और उनकी शक्ति पूर्ण है। और बीजगुप्त वासना का दास है—उसका जीवन संसार के घृणित भोग विलास में है। वह पापी है—पापमय संसार का वह एक मुख्य भाग है।" इन दोनों दृष्टियों से ऊपर उठकर लेखक अपनी दृष्टि से महाप्रभु रत्नाम्बर के द्वारा पाप-पुण्य की

भगवतीचरण वर्मा

समस्या का समाधान कराता है—"संसार में पाप कुछ भी नहीं है, वह केवल मनुष्य के दृष्टिकोण की विषमता का दूसरा नाम है × × × × × × × जो कुछ मनुष्य करता है वह उसके स्वभाव के अनुकूल होता है, और स्वभाव प्राकृतिक है। मनुष्य अपना स्वामी नहीं है वह परिस्थितियों का दास है—विवश है। वह कर्त्ता नहीं है केवल साधन है। फिर पुण्य और पाप कैसा ?× × × × × × संसार में इसी लिए पाप की एक परिभाषा नहीं हो सकी—और न हो सकती है। हम न पाप करते हैं और न पुण्य करते हैं, हम केवल वही करते हैं जो हमें करना पड़ता है।"

किंतु यह तो समस्या का केवल एक पक्ष हुआ उसका समाधान नहीं। इसमें तो व्यक्ति के आत्मपक्ष की पूर्णतया अवहेलना है और है अकर्मण्यता एवं नैराश्य का परोक्ष आह्वान। व्यक्ति की सीमा को स्वीकार करते हुए भी हम उसकी कर्म-स्वतन्त्रता को पूर्णतया नकार नहीं सकते। हम मानते हैं कि जो कुछ मनुष्य करता है वह उसके स्वभाव के पूर्णतया अनुकूल होता है और स्वभाव पूर्वनिश्चित है। इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर कृष्ण ने कहा था—

"स्वभावजेन कौन्तेय, निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्य वशोऽपि तत् (गीता अध्याय १८)

अर्थात् "हे अर्जुन जिस कर्म को तू मोह से नहीं करना चाहता है उसको भी अपने पूर्वकृत स्वाभाविक कर्म से बँधा हुआ परवश होकर करेगा। किन्तु उसी गीता में इस यंत्रवत परिचालित इच्छा शक्ति के ऊपर आत्मशक्ति की सत्ता भी स्वीकार की गई है। स्वभाव के बंधन से विमुक्त हुई आत्मा की अपनी स्वतंत्र सत्ता भी रहती है जो सदैव प्रकृति की अनुगामिनी ही नहीं कही जा सकती। स्वभावज मोहविमुक्त आत्मा स्वपथ-निर्देशिका होती है। अतएव

'हम केवल वही करते हैं जो हमें करना पड़ता है' में केवल आंशिक सत्य ही स्वीकार किया जा सकता है।

इस तथ्य की पूर्णता को स्वीकार करके ही लेखक ने पाप को मनुष्य की दृष्टिगत विषमता का परिणाम कहा है। अतएव इस कथन में भी एकांगिता का दोष आ गया है। पाप और पुण्य का ग्रहण भी दो भिन्न अर्थों में किया जा सकता है। साधारण अर्थ में सामाजिक सदाचार ही पुण्य और उसके विपरीत आचरण पाप है। सामाजिक व्यवस्था को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए मानव ने अपने अनुभव से सुकर्म तथा कुकर्म का भेदभाव किया है। समाज द्वारा वर्जित एवं हेय कर्मों की परिगणना ही पाप में की जाती है। समाज के इन आदेशों में विषमता भी है और अतिरंजना भी। सामाजिक दृष्टि से जो व्यक्ति पापी है वह दूसरी दृष्टि से देखने में महात्मा भी दिखलाई पड़ सकता है किंतु पाप-पुण्य का वास्तविक अर्थ इससे ऊपर होना चाहिए। यदि पुण्य का अर्थ उन कर्मों से लिया जाय जो मनुष्य शाश्वत सुख की उपलब्धि के लिए करता है जो इसके अंतर्गत वे ही कर्म आएँगे जिनके द्वारा ब्रह्म, जगत एवं मानव की एकात्मता सजग एवं सचेत हो अर्थात् जिनके द्वारा व्यक्तिजीवन का लोकजीवन में लय हो। इसके विपरीत कर्म ही पुण्यरहित अथवा पापपूर्ण होंगे। यहाँ पाप शब्द नकारात्मक होगा।

आत्मपक्ष की अवहेलना को छोड़कर वास्तविकता की दृष्टि से श्री वर्मा का प्रयत्न बहुत ही ठीक-ठिकाने का, अनुभवजनित एवं तर्कसंगत है। अधिकांश देखने में यही आता है कि बेचारा मानव निरुपाय सा परिस्थितियों की लहरों में उठता-गिरता रहता है और कला इसी उठते-गिरते मानव का भावात्मक इतिहास है। मानव के इस भावात्मक इतिहास का अंकन वर्माजी ने पूर्ण सचाई के साथ किया है। किसी हद तक 'चित्रलेखा' हिंदी में अपने ढंग का प्रथम उपन्यास

है। संस्कारों के बंधन में जकड़ी हुई भावनाओं को नवीन दृष्टि से देखना, उनके वास्तविक मूल्य को परखना तथा विचार एवं ज्ञान के प्रकाश में उनकी नवीन कलात्मक व्याख्या करना भी आज के कलाकार का एक कर्तव्य है।

'चित्रलेखा' स्पष्टतः सोद्देश्य है अतएव इसकी घटनाएँ एवं उनकी संघटना एक पूर्वनिश्चित योजना के अनुसार हैं। कथा का आरंभ, उसका विकास एवं अंत सभी पहले से निश्चित करके ही लेखक ने लेखनी उठाई होगी। इस प्रकार के उपन्यासों में कृत्रिमता आ जाने की संभावना रहती है। जीवन की गति किसी निश्चित योजना पर अवलंबित नहीं है। कुछ परिस्थितियों के बीच अपने जन्मजात संस्कारों को लिए मनुष्य अवतरित होता है। इन परिस्थितियों का प्रभाव उसके स्वभाव पर पड़ता है और स्वभाव के अनुसार वह नवीन परिस्थितियों की उद्भावना करता है। इस प्रकार चरित्र और परिस्थिति के घात-प्रतिघात से ही जीवन की धारा प्रवाहित होती है और उसका अवसान भी अतर्कित एवं अनिश्चित ही होता है। आजकल साहित्य के क्षेत्र में भी अधिक से अधिक अनुकृति पर जोर देने के कारण घटना-चरित्र-सापेक्ष उपन्यासों की ओर अधिक झुकाव रहता है। यह यथार्थ के मोह का ही परिणाम कहा जा सकता है। 'चित्रलेखा' की सभी घटनाएँ पूर्वनिश्चित हैं सही किंतु कलाकार के कौशल ने उन्हें इस प्रकार नियोजित किया है कि उनमें यंत्रवत शुष्कता अथवा कृत्रिमता नहीं आने पाई है। महाप्रभु रत्नांबर ने ही जैसे श्वेतांक एवं विशालदेव के द्वारा कथा को दो धाराओं में विभाजित कर दिया है। इन दोनों कथाओं के केंद्र क्रमशः बीजगुप्त एवं कुमारगिरि हैं और दोनों का संबंध-सूत्र नर्तकी चित्रलेखा है। अतएव इन दोनों प्रधान पात्रों की कहानी चित्रलेखा के द्वारा दूध-पानी की तरह आपस में मिल गई है। यशोधरा

की कहानी प्रासंगिक है और उसका मूल समस्या के साथ घना संबंध है। उपन्यास में घटनाओं की बहुलता नहीं है। योगी कुमारगिरि का राजसभा में अपने आत्मबल के द्वारा सबको अभिभूत करनेवाली घटना को छोड़ सभी घटनाएँ ऐसी हैं जिन्हें बुद्धि स्वीकार करे। आत्मबल का वह चमत्कार भी असंभव नहीं कहा जा सकता। कथा में एक धारा है जो पर्याप्त संयत है। यद्यपि घटनाएँ पूर्वनिश्चित हैं किंतु उनका प्रवाह स्वाभाविक है।

सच बात तो यह है कि यह उपन्यास शुद्ध चरित्र-प्रधान है जिसमें कुछ चरित्रों की विचित्रता का ही दिग्दर्शन है। इस प्रकार के उपन्यासों में घटनाएँ उसी परिमाण में संघटित की जाती हैं जितनी चरित्र की विवृति के लिए आवश्यक हों। यह उपन्यास एक तरह से बीजगुप्त, योगी कुमारगिरि तथा चित्रलेखा के जीवन का इतिहास है। ये पात्र विकासमान नहीं हैं। अथ से इति तक वे एक तरह के ही हैं। परिस्थितियों का आघात उन्हें विचलित करता है जिसमें उनका व्यक्तित्व अस्थिर हो उठता है किंतु उनका मनोबल प्रबल है। चित्रलेखा के लिए योगी कुमारगिरि का स्खलन अथवा यशोधरा की ओर बीजगुप्त का आकर्षण उनके चरित्र के किसी नवीन पक्ष को अनावृत नहीं करता। वे स्खलन तथा आकर्षण भी शक्तिशाली व्यक्तित्व के ही अंग हैं। कुमारगिरि का चित्रलेखा के लिए मोह, उसके हृदय का द्वंद्व, उसका स्खलन दिखला कर लेखक ने उसे अतिमानव होने से बचा लिया है। वह वही है जो उसे होना चाहिए। इस अंधकार पक्ष को छोड़ उसके चरित्र का केवल एक ही पहलू है जो प्रकाश से पूर्ण है। किंतु कुमारगिरि की तपोपूत काया में अहं की मात्रा थोड़ी न थी। उसके योग ने उसे शरीर पर विजय प्राप्त करना भले ही सिखाया हो किंतु वह सहिष्णुता और हृदय की उदारता उसे न मिली थी जिसके द्वारा वह विश्व के दोनों पक्षों को

समभाव से देख सकता। उसका अहंकार महाप्रभु रत्नांबर की अवहेलना करने से भी नहीं हिचका था। विशालदेव से वह कह उठा था—"भ्रम में पड़े हुए गुरु के शिष्यों में भ्रमों का होना स्वभाविक है।"

कुमारगिरि की अपेक्षा बीजगुप्त में अधिक मानवता है और इसी लिए जिस तत्व की उपलब्धि कुमारगिरि को कठिन साधनों में न हो सकी थी वही बीजगुप्त ने हृदय की साधना से उपलब्ध कर लिया था। उसका हृदय इतना विशाल था, उसमें इतनी उदारता थी कि वैभव के रस में डूबे रहने पर भी कमल पत्र के समान वह अछूता था। जिस विलासिता में वह जीवन भर आकंठ डूबा रहा समय आने पर उसे बिलकुल ही त्याग देने में उसे तनिक भी हिचकिचाहट न हुई। भोग करते हुए भी वह भोगों में बँधा नहीं है। वास्तव में मृत्युलोक ऐसे ही मनुष्यों की स्पृहा करता है।

चित्रलेखा का व्यक्तित्व भी बड़ा सबल है। नर्तकी होते हुए भी वह विदुषी है। जीवन के कठोर अनुभवों ने उसे संसार को परखने की सूक्ष्मदर्शिता दी है। वह पाटलीपुत्र के युवक हृदयों की गीत है किंतु ये युवक उसके समक्ष शिशु के समान हैं। गुप्तसाम्राज्य में उसका एक स्थान है और यदि वह कहीं झुक सकती है तो अपने से सबल व्यक्ति के सामने ही। बीजगुप्त की महत्ता को, उसके रूप एवं गुणों को वह एक ही दिन में परख लेती है और इसी लिए प्रार्थी बीजगुप्त के समक्ष वह स्वयं प्रार्थिनी हो उठती है। फिर तो इन दोनों में दांपत्य प्रेम सा हो जाता है और जीवन की धारा मर्त्यलोक की समस्त मिठास लिए हुए बड़े वेग से बह चलती है। पाटलीपुत्र जानता है कि नर्तकी चित्रलेखा बीजगुप्त की है और बीजगुप्त नर्तकी चित्रलेखा का। सामाजिक दृष्टि से इससे दोनों का आदर कुछ बढ़ ही गया। किंतु राजसभा में जिस दिन चित्रलेखा ने

कुमारगिरि को पराजित किया उस दिन दुनियाँ की दृष्टि में विजयिनी होकर भी उसके हृदय ने हार स्वीकार की। कुमारगिरि के लिए उसका कुतूहल बढ़ा और बीजगुप्त के सौजन्य, उदारता एवं आत्म-समर्पण की उपेक्षा सी करती हुई वह बढ़ चलती है योगी कुमारगिरि की ओर। योगी कुमारगिरि को उसने महिमा में अचल हिमालय की भाँति पाया और यद्यपि उसने 'प्रकाश पर लुब्ध पतिंगे को अंधकार का प्रणाम' कह कर उसका उपहास करने का प्रयत्न किया फिर भी उसके रूप का दर्प उस इन्द्रियजित के आगे जैसे आहत सा हो उठा। यह उस रूपगर्विता के हृदय पर जैसे एक ठेस सी थी। उसके रूप-वैभव की उपेक्षा कोई भी मनुष्य इस तरह कर सकेगा यह मानों चित्रलेखा की कल्पना से परे था। अतएव योगी कुमारगिरि को डिगाने की भावना के भीतर एक अभिमानिनी नारी की प्रतिहिंसा ही प्रबल थी। जैसे ही वह योगी महिमा के शृंग से पतित हुआ वैसे ही नारी का समस्त आकर्षण एकाएक तिरोहित हो गया। उसने पाया कि मैंने उस योगी को ही नहीं गिराया वरन् अपने को भी गिरा लिया। इस अनुभूति ने उसे अपनी ही दृष्टि में अपने को तुच्छ एवं दयनीय बना लिया। यदि कुमारगिरि इसके रूप के प्रलोभन को झेल ले जाता तो संभव है चित्रलेखा के लिए उसका आकर्षण पूर्ववत बना रहता। बीजगुप्त के प्रति वह समभाव से इसलिए आकर्षित रही कि बीजगुप्त उसके सामने कभी कम नहीं हुआ। कुमारगिरि की कुटी से विदा होते समय विदुषी चित्रलेखा का हतप्रभ चित्र बड़ा दयनीय हो उठता है। उसी दिन उसके हृदय ने बीजगुप्त की महत्ता को पूर्ण रूप से आयत्त किया और कृतकृत्य हो उठी तब जब उसी के लिए सब कुछ त्याग कर जाता हुआ बीजगुप्त पैरों पर पड़ी चित्रलेखा को बिना किसी दुविधा के पुनः ग्रहण कर लेता है। चित्रलेखा के चरित्र में सबलताएँ भी हैं और दुर्बलताएँ भी। वह विदुषी है।

दुनियाँ के विषय में उसका अनुभव खरा है। जीवन के प्रति वह जागरूक है। आत्मसंमान उसमें पूर्ण है। जगत को देखने का उसका अपना दृष्टिकोण है और उसमें इतनी तर्क-शक्ति भी है कि वह अपने पक्ष का सफलतापूर्वक समर्थन कर सके। उसमें वचन-चातुरी भी है और हँसते हँसते तीव्र व्यंग करने की शक्ति भी। महाराज चंद्रगुप्त की सभा में उसने अलौकिक आत्मशक्ति का परिचय दिया था। किंतु इन सब गुणों के होते हुए भी उसमें अहंकार की मात्रा कम नहीं। उसे अपने रूप की शक्ति का बोध है और वह यह सहन नहीं कर सकती कि उस शक्ति के सामने कोई तन कर खड़ा रह सके। उसके इसी अभिमान ने उसे भी प्रवंचित किया और कुमारगिरि को भी।

'चित्रलेखा' की वर्णन-प्रणाली उत्कृष्ट कोटि की है। संवादों में बड़ी सजीवता एवं चुस्ती है। भाषा पात्रानुकूल एवं सरस है। उसमें नाटकीय रसमयता है।

'विराटा की पद्मिनी' की भाँति 'चित्रलेखा' की पृष्ठभूमि भी ऐतिहासिक है यद्यपि कहानी बिलकुल कल्पित है। चंद्रगुप्त एवं चाणक्य ये दो पात्र ऐतिहासिक हैं किंतु उनका बहुत ही थोड़ा वर्णन आ पाया है। जहाँ तक समसामयिक वातावरण का संबंध है वर्माजी पूर्ण सफल रहे हैं। नागरिकों की वेशभूषा, उनका रहन-सहन, उनकी बातचीत, गुप्तराज्य-सभा की मर्यादा आदि के चित्रण में बड़ी सतर्कता से काम लिया गया है। इस तरह 'चित्रलेखा' इस युग की एक अनुपम काव्य कृति है।

'चित्रलेखा' के उपरांत वर्माजी का 'तीन वर्ष' उपन्यास निकला जिसकी भूमिका में इन्होंने लिखा—"इस उपन्यास के संबंध में मुझे कुछ नहीं कहना है। यह आपके सामने है और आपके सामने विश्व साहित्य के अच्छे से अच्छे उपन्यास भी हैं। हाँ, इतना

अवश्य कहूँगा कि यह कहकर कि यह हिंदी का उपन्यास है, इसमें होगा ही क्या इसको रख न दीजिएगा—पढ़िएगा अवश्य। हिन्दी साहित्य अब इतना गिरा हुआ नहीं है जितना लोगों ने उसे समझ रखा है।" इससे ऐसा लगता है कि वर्माजी में यह भावना जोर पकड़ती जान पड़ती है कि उन्होंने कोई नई चीज, ऐसी चीज जिसके लिए लोगों ने प्रयास नहीं किया था, उपस्थित की है। यह भावना इनकी सभी कृतियों में लक्षित होती है। 'तीन वर्ष' एक आदर्शवादी विद्यार्थी 'रमेश' की कहानी है, जिसने युनिवर्सिटी में प्रविष्ट होने के पूर्व अपना सारा समय पुस्तकों में ही बिताया है। उसका परिचय 'अजित' से होता है। जो एक राजा का पुत्र है और जो जीवन की वास्तविकता को उपेक्षा की दृष्टि से देखता है। परंतु उसके इस बाह्य आवरण के भीतर एक दार्शनिक बैठा है जो ज़ीवन के विषय में चिंतनशील है। यही नहीं, उसके जीने में भी एक कला है। उसकी उपेक्षा बुद्धि की कमी अथवा दुर्बलता के कारण नहीं है बल्कि एक विचित्र नैतिक जटिलता के कारण है, जो उसके रहन-सहन के ढंग द्वारा उपस्थित हो गई है। उसने जीवन में अत्यधिक अनुभव प्राप्त किए हैं और उन्हें यों ही जाने दिया है। 'अजित' की कल्पना जिस रूप में लेखक ने की है वह प्रशंसनीय है। दोष केवल यह है कि कहानी समाप्त होते होते वह रमेश का भाग्य-निर्माता सा बन बैठता है और साधु एवं सुधारक बनने की आकस्मिक प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है। रमेश को उसके विरुद्ध जो शिकायत है वही हम लोगों को भी होती है। एकाएक उसे परोपकार के देव के रूप में देखकर हमारा विश्वास अस्थिर हो उठता है। जीवन भर की पोषित आदतें जब जी चाहे तभी एकाएक छोड़ नहीं दी जा सकतीं और यदि वे किसी नैतिक दबाव के कारण जैसा कि रमेश के संग ने अवश्य उसके ऊपर डाला होगा, गायब

भी हो जाती हैं, तो भी अपना चिह्न तो छोड़ ही जाती हैं। इसके विपरीत रमेश की आचार-शिथिलता कोई आश्चर्य की बात नहीं है। आदर्शवादियों की रीति ही यही है। वे एक सीमा से बिलकुल दूसरी सीमा पर आ पहुँचते हैं। रोकने के लिए वास्तविकता की भावना नहीं उपस्थित होती। परंतु वह इतनी आसानी से नवीन वातावरण एवं समाज की आधुनिक रीति-नीति में अभ्यस्त हो जाता है कि अस्वाभाविक सा जान पड़ने लगता है। फिर भी यह उतना बड़ा दोष नहीं। परंतु दूसरे भाग में तो वह बिलकुल केंचुल बदल देता है। लज्जाशील, अध्ययनशील, किताबी कीड़ा रमेश एकदम दानव बन बैठता है। मद्यपान में कोई उसकी समता नहीं कर सकता; वह अकेले ही बदमाशों के एक पूरे समूह को भयभीत कर सकता है। जो कोई भी उसे देखता है उसका मुरीद बन जाता है। अजित की छत्र-छाया से निकलकर वह एक प्रतारक के पास चला जाता है। पहले एक वेश्या की नजरों पर वह चढ़ जाता है और अनंतर दूसरी की। दूसरी उससे प्रेम करने लगती है; केवल उसका पेशा उसके रास्ते का रोग है। वह मर जाती है और तब रमेश की आँखें खुलती हैं। 'प्रभा' का प्रेम मिथ्या था और इसलिए सामाजिक बाला होने पर भी वह वेश्या थी। परंतु 'सरोज' का प्रेम एक उच्च वस्तु था, यद्यपि वह वेश्या का होने के कलंक से कलुषित था—संसार की दृष्टि में। विचार होता था कि अब वह शांति और सांत्वना प्राप्त करेगा—परंतु नहीं वह अब भी उद्विग्न और अशांत है और 'प्रभा' को धनलुब्ध होने के कारण भला-बुरा कहने का लोभ संवरण नहीं कर सकता।

'तीन वर्ष' को देखकर ऐसा लगता है कि लेखक को कुछ वस्तुओं की अस्पष्ट परंतु उत्तेजनापूर्ण भावना थी और उसने सोचा कि एक उपन्यास-रचना के लिए इतना ही पर्याप्त होगा। इस उपन्यास की रचना और उपादान-विधान में पर्याप्त कौशल का आभास मिलता है,

परंतु पात्र मिथ्या हैं, स्थितियाँ मिथ्या हैं, भावनाएँ मिथ्या हैं। यहाँ घटनाएँ, एक पूर्वनिश्चित उद्देश्य अथवा विधान की पूर्ति के लिए पात्रों पर जबरदस्ती डाली गई हैं। यह और भी आश्चर्य की बात है कि उन्होंने एक वेश्या देवी को हमारे सामने इस प्रकार उपस्थित किया है मानों वे कोई नई चीज पेश कर रहे हों। हिन्दी-साहित्य में तो इसकी कमी नहीं है।

एक प्रकार से 'तीन वर्ष' अत्यधिक आधुनिक उपन्यास है। उसका विषय भारतीय समाज का एक ऐसा अंग है जो अभी अस्तित्व में आ ही रहा है। इतना ही नहीं वह एक ऐसा अंग है जिस पर पाश्चात्य सभ्यता का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है और जो फलस्वरूप थोड़ा-बहुत, उन सब शंकाओं, अनिश्चयों और नैतिक दुर्बलताओं को प्रतिबिंबित करता है जो पाश्चात्य संसार की विशेषताएँ हैं। अभी तक हिंदी-लेखकों ने इस पर यथोचित ध्यान नहीं दिया था यद्यपि अनेक कहानियाँ और उपन्यास भी ऐसे थे जिनका विषय भारतीय विश्व-विद्यालयों का जीवन था। परंतु उनमें से अधिकांश हमारे ध्यान देने योग्य नहीं थे। उनमें भारतीय विश्वविद्यालय के एक विद्यार्थी की वास्तविक परिस्थिति समझने का यथार्थ प्रयत्न नहीं मिलता। वे अधिकतर पाश्चात्य सभ्यता पर प्रहार की भावना ही उत्पन्न करने में समर्थ होते थे। यह कार्य करने का भार वर्माजी ने अपने ऊपर लिया और अपने हिसाब से पूरा कर भी लिया। यही उनकी आत्म-तुष्टि की भावना का कारण है। उन्होंने न तो बुरा कहने का प्रयत्न किया न भला। केवल चित्रित करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने जिन दो प्रकार के चरित्रों के चित्रण का ध्येय बनाया है वे अपने आपमें पर्याप्त महत्त्वपूर्ण हैं और उनका अंकन भी बड़े कौशल से हुआ है। शेष के लिए उन्होंने विश्वविद्यालय के वातावरण को जीवन प्रदान करने का प्रयत्न किया ; एक तो छोटे से छोटे विवरण पर ध्यान देकर और

दूसरे विद्यार्थियों के आपस के लंबे लंबे संवादों द्वारा। परंतु इन संवादों में जीवन नहीं है, वे नाटकीय नहीं हैं; और पुस्तक से बिना मुख्य विषय को हानि पहुँचाए अलग किए जा सकते हैं। जिन पात्रों के बीच ये संवाद या विवाद होते हैं उनमें वैयक्तिकता नहीं है।

सियारामशरण गुप्त

आधुनिक उपन्यासकारों में कवि श्रीसियारामशरण गुप्त का एक विशेष स्थान है। अभी तक इनके तीन उपन्यास 'गोद', 'अंतिम-आकांक्षा' और 'नारी' निकल चुके हैं। इन उपन्यासों में बहुत ही साधारण उपादानों का सहारा लिया गया है और अत्यंत सहज भाव से उनकी अभिव्यंजना हुई है। भगवतीचरण वर्मा के 'तीन वर्ष' से स्पष्ट लक्षित होता है कि उन्होंने उत्तेजना को ही प्रेरणा मान लिया है। इसके विपरीत 'नारी' आदि उपन्यासों को देखने से लगता है कि गुप्तजी की प्रेरणा यथार्थ, अकृत्रिम और निष्कपट है। 'नारी' हिंदी की सबसे आधुनिक कृति है किंतु आधुनिक उपन्यासकारों की भाँति लेखक ने कहीं किसी प्रकार का दावा नहीं किया है। उनका विवेक इतना सजग एवं अद्वितीय है कि उसके संबंध में भ्रम नहीं हो सकता। इससे उनके तीनों उपन्यासों में एक सजातीयता, एक पारिवारिक अनुरूपता आ जाती है, यद्यपि तीनों के विषय नितांत भिन्न हैं। इन उपन्यासों में हम एक उत्तरोत्तर विकास का भी अनुभव कर सकते हैं। जीवन के संबंध में जिस भाव की व्यंजना 'नारी' के अंतिम पृष्ठों पर की गई है वह एकाएक नहीं आ जाती। इससे गुप्तजी की सफलता बिल्कुल वैयक्तिक है। यह संभव नहीं जान पड़ता कि वे कभी अधिक संख्या में पाठकों को आकर्षित कर सकेंगे। उनका आकर्षण परिमित ही रहेगा यद्यपि अपनी परिमिति के भीतर वह निश्चित और असंदिग्ध होगा। जिन मनुष्यों को उन्होंने लिया और अपनाया है, जिनके कष्टों, आपत्तियों, परीक्षाओं, दुर्बलताओं का चित्रण

वे करते हैं, वे पीछे हट रहे हैं, मुख्य स्थान छोड़कर गौण स्थान में चले जा रहे हैं। वे केवल भावुकतापूर्ण दया उत्पन्न करते हैं और कुछ नहीं। परंतु कौन कहेगा कि जैसे वे हैं उस रूप में इस या उस राजनीतिक सिद्धान्त की आखों से नहीं, उन्हें देखने का लेखक ने निरर्थक प्रयत्न किया है? वे हिंदू सभ्यता के कुछ आधारभूत लक्षणों के प्रतिरूप हैं और यह एक ऐसा स्रोत है कि जिसके सूख जाने की कोई आशंका नहीं। अतएव यह संभव है कि बाबू सियाराम शरण के पात्र किसी समय में व्यवहारातिक्रांत हो जायँ, परंतु भावों, रागों एवं मनोवेगों का द्वंद तथा उनके द्वारा प्रतिपादित जीवन-दर्शन तो रहेगा ही। वे अपने आप में शाश्वत हैं। इसी में गुप्तजी की पुस्तकों की शक्ति और स्थायित्व निहित है।

इनका पहला उपन्यास 'गोद' है। इसमें एक भाभी के वात्सल्य-स्नेह का वर्णन है। शोभाराम दयाराम का छोटा भाई है। इसे पार्वती (दयाराम की स्त्री) तथा दयाराम दोनों ही पुत्रवत् मानते हैं। शोभाराम की सगाई विधवा कौशल्या की लड़की किशोरी से हो जाती है। किंतु विवाह के पूर्व ही एक अप्रत्याशित घटना के कारण बड़ी विषम समस्या उपस्थित हो जाती है। प्रयाग के मेले में किशोरी अपनी माँ से छूट जाती है और दूसरे दिन स्वयंसेवकों द्वारा पहुँचाई जाती है। गाँववालों को किशोरी की पवित्रता पर संदेह हो जाता है और इसकी चर्चा ऐसे रूप में चल पड़ती है कि दयाराम शोभाराम का विवाह दूसरे एक जमींदार के यहाँ ठीक कर लेता है। यहाँ उसे धन की भी लालच थी। स्नेहशीला पार्वती बेबस सी हो जाती है। इस ओर से निराश होकर कौशिल्या किशोरी का विवाह एक कुरूप वयस्क वर के साथ ठीक करती है किंतु शोभा की भावुकता व्यथित हो उठती है और वह छिपे-छिपे किशोरी से विवाह कर लेता है। अंत में कुछ

दिनों के बाद दयाराम भी उसे क्षमा कर देता है। मातृवेदना से संयुक्त पार्वती निहाल हो उठती है।

इस उपन्यास में हमारे गाँवों के एक पक्ष का बड़ा सुंदर चित्रण किया गया है। हमारी नैतिकता की भावना इतने क्षीण आधार पर टिकी है कि अनुमित आघात भी उसे छिन्न-भिन्न कर देने में सफल हो जाते हैं। सदाचार का प्रश्न उठते ही ग्रामीण समाज दानव की भाँति कठोर हो उठता है और संदेह मात्र पर व्यक्ति को कठोर से कठोर दंड देने में भी नहीं हिचकता। शोभाराम का साहस ग्रामीण अंधसंस्कारों में जकड़े व्यक्ति के लिए अप्रत्याशित कहा जा सकता है। किंतु यह हमारी उठती हुई चेतना का परिचायक भी है। शोभा एवं पार्वती के स्नेह में जो आदर्श निहित है वह सीता-लक्ष्मण के आदर्श से कम नहीं है।

'अंतिम-आकांक्षा' का नायक (रामलाल) एक घरेलू नौकर है। ऐसे उपेक्षित व्यक्ति को अपनी कथा का नायक बनाकर गुप्तजी ने संकेत किया है कि साहित्य व्यक्ति का नहीं वरन् उसके भीतर विराजमान मानव का भावात्मक इतिहास है। साधारण से साधारण स्थिति के प्राणी में भी महत्ता के दर्शन किए जा सकते हैं। 'कमला' अपने स्वामी एवं उनकी बालिका से इतना स्नेह करने लगता है कि उनके लिए बड़े से बड़ा त्याग भी उसके निकट नगण्य है। बारातवाले यह जानकर कि रामलाल ने डाकू की हत्या की है जिद पकड़ लेते हैं कि जब तक वह घर में न रहेगा उसके स्वामी के यहाँ आना जाना ग्रहण न करेंगे। रामलाल के हृदय की यह सबसे बड़ी कामना थी कि अपने हाथों पाली हुई बिटिया का विवाह देखकर अपनी आँखों को तृप्त कर लें। किंतु जब वह अवसर आया तो अपमानित होकर उसे घर छोड़ना पड़ा। जिस समय वस्त्राभूषणों से सजी सजाई स्वामी-कन्या के हाथों में वह दो रुपए देता है उस समय गुप्तजी की

हृदयालुता मानों चीख उठती है। अभी तक हमारे साहित्यकारों में यह कमी थी कि इस प्रकार के साधारण पात्र उनकी कल्पना में आते ही न थे।

गुप्तजी का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है 'नारी'। इसमें चिरंतन नारी की अनुपम अभिव्यक्ति है। इस उपन्यास की नायिका जमुना एक अत्यंत साधारण स्त्री है; आदर्शवाद उसे छू नहीं गया है, उसे कोई उच्चाकांक्षा नहीं है। उसका संसार छोटा सा और एक विस्तृत अज्ञान पारावार द्वारा परिवेष्ठित है। उसके विश्वास स्वल्प परंतु दृढ़ हैं। वह अपने बच्चे को प्यार करती है, अपने पति को प्यार करती है, और सबसे अधिक प्यार करती है अपनी आंतरिक सरलता, सदाचार, न्याय, सत्यशीलता अथवा दाक्षिण्य को। दीनवत्सलता एवं दयालुता जीवन-दर्शन का आदि भी है और अंत भी। बुराई को वह जानती नहीं, पहचानती नहीं; पहले तो संसार की भलाई में सरल विश्वास के कारण, और बाद को अपने अनुभव की गहराई के कारण—"मनुष्य का ज्ञान है ही कितना"। बुराई की शक्ति इसमें है कि वह भलाई से लड़ने के लिए उसको अपनी ही सतह पर ले आए; और भलाई की विजय इसमें है कि वह बुराई का अतिक्रमण कर जाय। सांसारिक दृष्टि से जमुना सब कुछ खो चुकी है। उसका पति, जिसको उसने प्रायः फिर से पाया था, चौधरी की बदमाशी और चालाकी के कारण उससे फिर छीन लिया जाता है। उसके नाम पर कलंक लगाया जा चुका है। वह नहीं जानती कि वह अजित को, जिसका व्यवहार पूर्ण निष्कपट रहा है, आत्मसमर्पण करे या नहीं। उसका पुत्र उससे अलग कर दिया जाता है, और वह बिरवा भी, जिसको उसने पुत्र के समान सींचा और पोसा था, उसका नहीं रहा—"संसार में पुरुष ही अकेले निर्दय नहीं होते, पशु-पंछी, पेड़-पौधे सबके भीतर एक तरह का खून है।"

भौतिक और आत्मिक दोनों प्रकार के अंधकार में वह डूब जाती है। उसी समय हल्ली उसके पास अपने सहानुभूतिपूर्ण शब्द लेकर आता है और उन शब्दों से उसका घनीभूत अंधकार प्रकाशित हो उठता है आत्म-जागर्ति का मूल्य उसे क्लेश, दुःख, संताप और वेदना से देना पड़ा है, और इससे उसे इस सत्य की प्राप्ति हुई कि "बाहर जो आसानी से मिल जाता है वह प्रायः अच्छा नहीं होता।" हल्ली से उसके अंतिम शब्द ये हैं—"सह ले इसे सह ले। कमजोर क्यों पड़ता है? जितना ही अधिक सह सकेगा, उतना ही तू बड़ा होगा।" यह एक ऐसी मनःस्थिति है जो जमुना के लिए ही संभव हो सकती थी। यह आरंभ से उसमें सुप्त अवस्था में उपस्थित थी परंतु इसके लिए कि वह सचेत होकर उसके जीवन की प्रेरक शक्ति हो जाय यह आवश्यक था कि वह उन सभी वस्तुओं को दे जिनसे उसका अनु-राग-संबंध था।

बाबू सियारामशरण के उपन्यासों में दो संसार हैं। एक तो घटनाओं का बाह्य संसार और दूसरा पात्रों का आंतरिक एवं अनुभूति-संसार, जहाँ वास्तविक नाटक चरितार्थ होता है। पहला दूसरे का बाह्य एवं दृष्टिगोचर प्रतीक है। वे पात्र जिनको यह कार्य सौंपा गया है तीन हैं—जमुना, अजीत और हल्ली। इन्हीं तीनों के जीवन की पारस्परिक क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं से उपन्यास निर्मित हुआ है। बाबू सियारामशरण के सब पात्रों में पाई जाने वाली एक विशेषता इनमें भी है। वह है स्नेह का गुण जो उनकी दुर्बलता भी है और शक्ति भी। उनकी आत्माएँ तत्त्वतः उच्च हैं। अन्य दो पात्र चौधरी और उसका पुत्र हैं। उनका अंकन पूर्ण नहीं है फिर भी वे शक्ति-संपन्न हैं, जीते-जागते हैं। जहाँ पर बाबू सियारामशरण पूर्ण चित्रण नहीं करते वहाँ वे संकेत करते हैं—और यही सब उच्च कोटि के चित्रकारों की रीति है। साधारण ग्रामीणों की अंधभक्ति, विश्वास

और भावनाओं का बड़ी सुंदरता से चित्रण किया गया है।

प्रसिद्ध पत्रकार ठाकुर श्रीनाथसिंह ने अभी तक चार उपन्यास 'उलझन', 'जागरण', 'प्रभावती' और 'प्रजामण्डल' लिखे हैं। इनमें 'जागरण' ने पर्याप्त ख्याति पाई है। 'जागरण' अपने को नियंत्रित रखनेवाली एक सजग बुद्धि की कृति है। इसकी भूमिका में ठाकुर साहब ने कहा है कि उन्होंने ऐसी ही प्रेरणा के वशीभूत होकर लिखा है जैसी मुहम्मद ईसा अथवा हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों को हुआ करती थी। उनकी भूमिका से यदि भगवतीचरण वर्मा की भाँति उद्धत दर्प का नहीं, तो कम से कम एक प्रकार के विश्वासयुक्त अभिमान का भाव अवश्य प्रकट होता है, जिसका तात्पर्य यह है कि जो कुछ उन्होंने लिखा है वह दोषरहित है। वास्तविकता यह है कि कहानी ग्रामसुधार की योजना पर आश्रित है—उसी प्रकार की जैसी महात्मा गाँधी ने समझी और बताई है। महात्माजी के लिए अहिंसा और कष्ट एवं आत्मशुद्धि के द्वारा आत्मज्ञान के सिद्धांत जीती-जागती वस्तुएँ हैं। उस पुस्तक के पृष्ठों में, और जैसा इस कहानी के पात्रों द्वारा दिखलाया गया है, ये सिद्धांत जीते जागते नहीं हैं और इसी कारण चलते-फिरते, आगे बढ़ते भी नहीं जान पड़ते। कारण ढूँढ़ने दूर नहीं जाना पड़ेगा। उन्होंने ऊपर ही ऊपर से उनकी वकालत की है। मुख्य भाव कहानी की तीव्रता की स्थिति पर पहुँचते पहुँचते टुकड़े टुकड़े हो जाता है; लेखक के अनुसार उसके एकाएक प्रादुर्भूत होने की बात तो दूर रही। अंत में हम नहीं समझ पाते कि सर कृपाशंकर अपने कार्य-क्षेत्र को एकाएक छोड़कर क्यों वापस चले जाते हैं—राजा साहब और सेठजी के व्यवहार के कारण अथवा निराश होकर। जो भी हो पुस्तक के छिद्र साधारण से साधारण पाठक को भी दिखाई पड़ जायँगे। अछूतों के विषय में लंबे लंबे वाद-विवाद, राजा के कर्मचारियों की नृशंसता,

श्रीनाथ सिंह

स्त्रियों का उद्धार, राजनीतिक अस्त्र के रूप में सत्याग्रह की उत्कृष्टता एवं प्रभावोत्पादकता—ये सब बातें दी हुई परिस्थितियों से स्वभावतया नहीं निकलती हैं, वरन् उनका इस कारण समावेश है कि ऐसी बातें होनी ही चाहिए, उसी प्रकार जिस प्रकार पत्रकार कहा करते हैं कि अमुक अमुक बातें पत्र में होनी ही चाहिए।

जहाँ तक कथा-वस्तु के प्रबंध का संबंध है, सदैव दैवी सहायता अथवा हवाई जहाज बड़ी आसानी से लेखक के इच्छानुसार उपस्थित हो जाते हैं। संक्षेप में उपन्यास स्पष्ट रीति से प्रचारात्मक है। लेखक की सदाशयता स्पष्ट है। शिक्षा-रूपी गोलियाँ कहानी की चाशनी में लपेट दी गई हैं। इससे शायद उन्हें निगलने में साधारण पाठक को सहायता मिलती है।

अपनी सुंदर कहानियों के द्वारा सूरजपूरा के राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह पर्याप्त प्रसिद्धि पा चुके हैं। इधर कुछ वर्षों से उन्होंने उपन्यास-रचना आरंभ की है और 'राम-रहीम', 'सूरदास', 'पुरुप और नारी', 'टूटा तारा', 'सावनी समा', 'गांधी टोपी' नाम के उपन्यास लिखकर प्रकाशित करा चुके हैं। राम-रहीम सर्वप्रथम निकला और अपने कलेवर तथा व्यंजना-शैली के कारण एक प्रकार की नवीनता लिए हुए था। लेखक के 'दो शब्द' के अनुसार इस उपन्यास में 'रोजमर्रे की एक दिलचस्प कहानी का टेक लेकर धर्म और समाज के तमाम कच्चे चिट्ठे खोलकर रख देने की कोशिश की गई है। भारतवर्ष के अंतर्गत इस युग के आचार को, इस युग के विचार को, इस युग की पुकार को दो जीती-जागती स्त्रियों के जीवन-पट पर प्रस्फुटित करने का प्रयास किया गया है। यहाँ अध्यात्म के साँचे में शृंगार है, फैशन का दामन थामे दर्शन है। इसी लिये वास्तविकता की सादी जमीन पर नैतिकता की किनारी टकी है—यथार्थवाद के मौसम में

राधिकारमणप्रसाद सिंह

आदर्शवाद के छींटे हैं। आजकल की टकसाली कला के पहलू में अपनी पुरानी धज भी कायम रखने की कोशिश की गई है।"

राजा साहब ने जिन दो स्त्रियों का चित्रण किया है वे हैं बेला और बिजली। बेला बेला ही है—बेला सी कोमल, बेला सी विमल। बिजली भी यथार्थ बिजली है—बिजली सी चपल, बिजली सी प्रबल। यदि बेला शरद के हास सी मीठी है तो बिजली अंगूरी के झाग सी तीखी। एक दीपशिखा सी निष्कंप है दूसरी कामना की किलोल सी विकल। एक में त्याग है दूसरी के योग। एक के रोम-रोम में राम रमा है दूसरी के लिए राम-रहीम, मखौल के मसाले हैं। एक पर पुरुष ने अनाचार-अत्याचार किया दूसरी ने पुरुष की छाती का रक्त पिया। एक आजीवन धर्म को छाती से चिपकाए रही, दूसरी ने पाँवों तले रौंद-रौंदकर धर्म की धज्जियाँ उड़ाईं। एक का धर्म कुछ बिगाड़ न सका, दूसरी को पीस डाला। बेला ने आजीवन राम पर विश्वास रखा, बिजली ने रहीम के दया की परीक्षा की। आत्मलोक और परलोक की बातें तो बताई नहीं जा सकतीं परंतु इस लोक के लिए तो बेला के सीतापति राम पत्थर के राम ही रहे। बिजली का रहीम ही उपयोगी सिद्ध हुआ। यही राम-रहीम का जीवन-दर्शन है। इसके द्वारा आधुनिक भौतिकवाद एवं हिंदुओं के अंधवाद, अनाचारवाद और अध्यात्मवाद की आलोचना का प्रयत्न किया गया है।

इस उपन्यास की एक विशेषता यह है कि इसमें पाश्चात्य सभ्यता के पुजारी उच्च वर्गों से लेकर निम्न वर्गों तक का चित्रण किया गया है और प्रतीत होता है कि भारतीय समाज के प्रायः सभी वर्गों से राजा साहब का परिचय है। जैसी सतर्कता के साथ राय साहब, नवाब साहब, मैनेजर साहब, मिस साहिबा, मिस्टर सलीम, मिस्टर अमीन आदि का चित्रण हुआ है वैसी ही सतर्कता से दिनेश पंडित, श्रीधर पंडित, गुरुवर गिरधारी लाल एवं नेता ओझा, मूँगा सोनार,

गनेश चौकीदार का भी। स्त्री पात्रों में बेला की सास-ननद, मिश्रानी जी तथा गनेश-बहू आदि के चित्रण में पर्याप्त सजीवता है। बिजली और बेला का तो कहना ही क्या? स्वर्ग एवं मर्त्य का प्राच्य एवं पाश्चात्य का, लौकिक तथा लोकातीत का यह जोड़ा पूर्ण कलात्मकता के साथ निर्मित हुआ है। बिजली में चमक है, तड़प है, बाढ़ है, बहार है, नृत्य है, कटाक्ष है। बेला में "लाज है, लिहाज है, आँसू है, उल्लास है, सरलता है, तरलता है, गरिमा है, गांभीर्य है।" बिजली की चमक-विलास के सामने बेला का जीवन उदास है, बेला के अडिग विश्वास के सामने बिजली का वैभव बुलबुला है। यदि हमारा समाज शीघ्र ही सचेत नहीं हो जाता तो इसी तरह की बिजलियाँ अत्याचार के बादलों से फट-फटकर हमारे सिर गिरेंगी और नारी के आदर्श का वह स्वप्न जो हम युगों से पोसते आए हैं छिन्न-भिन्न होकर विला जायगा।

राम-रहीम की कल्पना एवं उसकी संघटना में सतर्क कलात्मकता है। बेला और बिजली दोनों की कहानियाँ अलग-अलग विकसित होती चली गई हैं और अंत में एक स्थान पर जाकर दोनों का संगम हो जाता है, दोनों एक दूसरे से सटकर प्रवाहित होने लगती हैं। वास्तव में यह उपन्यास बेला और बिजली की परिस्थितियों का तुलनात्मक चित्रण है। इस कार्य में लेखक पर्याप्त सफल रहा है। हाँ कुछ स्थलों पर संवाद एवं वर्णन इतने लंबे चौड़े हो गए हैं कि पाठक का धैर्य छूट जाता है और वह ऐसे स्थलों को छोड़कर आगे बढ़ जाता है। लंबे-चौड़े अलंकृत वर्णनों को देखकर लेखक के 'दो शब्द' का ध्यान आ जाता है—"आजकल की टकसाली कला के पहलू में अपनी पुरानी धज भी कायम रखने की कोशिश की गई है।"

मानसिक विश्लेषण के नवीन निष्कर्षों के कारण योरप के कथा-साहित्य में पर्याप्त उथल-पुथल रही। फ्रायड, जुंग, एडलर आदि के

मन-संबंधी विचारों का वहाँ के कथाकारों ने पूर्ण उपयोग किया। इस नवीन मनोविश्लेषण के अनुसार "आदि काल से लेकर आज तक के विकास-काल में सृष्टि के एक अज्ञात रहस्य-

इलाचंद्र जोशी

मय नियम के क्रम से जो जो वृत्तियाँ मानव अथवा पूर्वमानव के भीतर बनती और बिगड़ती चली गईं उनमें समयानुक्रम से संस्कार-परिशोधन होते चले गए। पर जिन प्रारंभिक वृत्तियों का परिशोधन हुआ वे नष्ट न होकर उसके अज्ञात चेतना-लोक में संचित होती चली गईं। विकास की प्रगति के साथ ही साथ परिशोधित वृत्तियों का भी पुनः परिशोधन हुआ, और इस नए परिशोधन के पूर्व की वृत्तियाँ भी अज्ञात चेतना के उसी अतल लोक में छिपकर अज्ञात ही रूप में संचित हो गईं। यह क्रम आज-तक बराबर प्रवर्त्तित होता चला गया है। इस अपरिमित दीर्घकाल के भीतर असंख्य मूल पशु-प्रवृत्तियाँ और उनके संस्कार उस अगाध अज्ञात चेतना-लोक में दवे और भरे पड़े हैं। आधुनिक मनुष्य ने सभ्यता के ऊपरी संस्कारों के लेप से अपने सफेद मन में अवश्य सफेद-पोशी कर ली है पर जिस परदे पर वह सफेद-पोशी की गई है वह इतना झीना है कि जरा जरा सी बात में वह फट जाता है, और उसमें तनिक भी छिद्र पैदा होते ही उसके नीचे दबी पड़ी पशु-प्रवृत्तियाँ परिपूर्ण वेग से विस्फुटित होने लगती हैं। इन मूल पशु-प्रवृत्तियों को जितने ही जोर से सभ्य मनुष्य नीचे को दबाता है उतने ही प्रवेग से वे रबर की गेंद की तरह ऊपर से उछाल मारने लगती हैं।"* मनुष्य के सारे कार्य व्यापारों में अंतर्मन के अतल में दबी पड़ी इन प्रवृत्तियों का विशेष हाथ होता है। इस मनोवैज्ञानिक तथ्य से प्रभावित हो योरप के उपन्यासकार बड़े वेग से अपनी रचनाओं में

---

* 'प्रेत और छाया' की भूमिका से।

इसकी सत्यता प्रतिपादित कर चले। एक समय ऐसा आया कि मनोविश्लेषण की प्रवृत्ति संक्रामक रोग की तरह वहाँ के उपन्यास-वाङ्मय में फैल गई। विज्ञान का ज्ञान कला का साधक होता है। किंतु इसके लिए आवश्यकता इस बात की है कि कलाकार उस ज्ञान को पूर्ण आत्म-निमज्जित करके ही कलात्मक अभिव्यंजना करे। किसी भी वैज्ञानिक सिद्धांत के प्रकाश में व्यक्ति को देखना बुरा नहीं। डास्टायवस्की जैसे सिद्ध कलाकार सदैव ऐसा करते रहे हैं। किंतु आवश्यकता इस बात की है कि ध्यान व्यक्ति पर रहे सिद्धांत पर नहीं। योरप के इस प्रकार के अधिकांश उपन्यासकारों का ध्यान व्यक्ति की अपेक्षा सिद्धांतों पर ही अधिक होने के कारण उनकी कृतियाँ पूर्ण रूप से कलापरक न हो सकीं। योरप की इस मनोविश्लेषण की प्रवृत्ति हिंदी में बहुत बाद में श्री इलाचंद्र जोशी की कृतियों में परिलक्षित हुई। उनके अब तक चार उपन्यास—'घृणामयी', 'संन्यासी', 'पर्दे की रानी' तथा 'प्रेत और छाया' निकल चुके हैं। 'घृणामयी' का अधिक प्रचार नहीं हो सका। 'संन्यासी' के द्वारा ही जोशीजी उपन्यासकार के रूप में प्रसिद्ध हुए। यह उपन्यास एक व्यक्ति की आत्मकथा है जिसने क्रमशः दो स्त्रियों से प्रेम किया किंतु अपने भीतर की संदेहशीलता एवं चिरंतन अहंकार के कारण न तो उन स्त्रियों का सुखी कर सका न स्वयं ही सुखी हो सका। शांति उसे अपने हृदय के स्तर-स्तर से प्यार करती है और इस प्यार का संबल लेकर ही अपने नियमित जीवन-क्रम की सुस्थिर गति में व्याघात डालकर नंदकिशोर के साथ बाहर निकल आती है इलाहाबाद में उनकी गृहस्थी कुछ ही दिनों तक सुख से चल पाती है कि नंद कशोर के भीतर की पशु-प्रवृत्ति उद्बुद्ध हो उठती है। बलदेव के प्रति जिसके व्यक्तित्व की सबलता, हृदय की सचाई, परिस्थितियों की दयनीयता आदि शांति के हृदय में निर्विकार करुणा भावना की सृष्टि करते हैं—संदेह और तज्जनित ईर्ष्या की भावना से नंदकिशोर

का अंतर्मन क्षुब्ध हो उठता है। वह अपने इस ओछेपन पर आवरण डालना चाहता है किंतु उसके भीतर का पशु फिर-फिर हुंकार उठता है और इस पशु एवं मानव के संघर्षण स्वरूप उसके दिन बड़ी मानसिक अशांति में बीतने लगते हैं। एक दिन ऐसा आता है कि बड़ी विषम परिस्थितियों में चिर आहत, चिर अपमानित नारी की प्रतिमूर्ति शांति को अपने गर्भ में प्रणय के पुरस्कार स्वरूप एक अबोध प्राणों का स्पंदन लिए हुए नंदकिशोर के अनजान में ही घर छोड़कर चला जाना पड़ता है। इधर नंदकिशोर भी अपने भैया पर दो-चार दिनों तक निष्फल क्रोध का प्रदर्शन कर उनके साथ शिमला-शैल के आमोद-प्रमोद में मानसिक उत्ताप को शीतल करने के लिए चल पड़ता है। प्रोफेसर मिश्र की लड़की जयंती—जिसे उसने सर्वप्रथम आगरे में देखा था—के साथ विवाह करके उसने जयंती के जीवन को भी व्यर्थ कर दिया। कैलाश से प्रेम करते हुए भी बुद्धिमती जयंती अपने कृत्रिम वैवाहिक जीवन को चतुराई से झेल ले जाती यदि नंदकिशोर का पशु उस दिन उत्तेजित होकर धक्के मारकर कैलाश को निकाल न देता। किंतु उस दिन उसने पूर्ण रूप से अनुभव किया कि इस अभिमानी पुरुष के साथ उसका विवाह होना असंभव है और दो दिन बाद ही चूल्हे के ऊपर बैठकर वह अपने को भस्म कर डालती है। किसी भी व्यक्ति का इस प्रकार का अंत संभाव्य भले ही हो किंतु सुरुचि पूर्ण नहीं प्रतीत होता। इस घटना की नंदकिशोर के मस्तिष्क पर बड़ी प्रबल प्रतिक्रिया हुई और वह बहुत दिनों तक मानसिक शांति की खोज में इधर-उधर भटकता रहा अंत में कई वर्षों के उपरांत उसे 'शांति' भी मिली तथा उसका 'ललन' भी। जीवन के कटु अनुभवों के कारण शांति शून्य सी हो चली थी और सारे स्नेह-बंधनों को छिन्न-भिन्न कर वह सदैव के लिए चली जाती है। नंदकिशोर संन्यासी हो जाता है और फिर नेता-

गिरी के चक्कर में जेल चला जाता है। जेल से छूटने पर वह अपने को बिल्कुल रिक्त पाता है। यह है 'संन्यासी' की कथा।

यह शुद्ध चरित्र-प्रधान उपन्यास है जिसमें प्रायः आधे दर्जन पात्रों का चरित्र-अध्ययन किया गया है। कथा का प्रधान नायक नंदकिशोर है और उसके चरित्र की विवृति ही कथा का उद्देश्य है। उसने स्वयं यह कहानी कही है। एक प्रकार से इस कहानी के दो भाग हैं—पहले में है नंदकिशोर एवं शांति का एक दूसरे के लिए आकर्षण, काशी से पलायन, प्रयाग में साथ-साथ जीवन, बलदेव से साक्षात्कार, नंदकिशोर का शांति के प्रति संदेह तथा नंदकिशोर के भाई द्वारा तिरस्कृत शांति का गृह-परित्याग। दूसरे भाग में नंदकिशोर का मानसिक परिताप, जयंती के लिए आकर्षण, उसके साथ विवाह, वैवाहिक जीवन के अनुभव, कैलाश-जयंती के प्रति संदेह, कैलाश का अपमान, जयंती की आत्महत्या आदि वर्णित हैं। तीसरा भाग जिसे उपसंहार कहना चाहिए बहुत ही संक्षिप्त है इसमें अशांत नंदकिशोर का निरुद्देश्य भ्रमण, शांति से भेंट, उसका निर्विकार व्यवहार तथा पुत्र एवं प्रिय का मोहबंधन तोड़कर सदैव के लिए अदृश्य हो जाने आदि का वर्णन है। इसमें शांति का चरित्र बहुत ही अस्पष्ट एवं सुलझा हुआ है। प्रथम दर्शन में हम उसे एक साधारण नारी समझते हैं जो नगर की एक बड़ी ही घृणित गली में भ्रमण करने में भी नहीं हिचकती। किंतु धीरे धीरे उसके चरित्र की सबलता अनावृत होती जाती है। उसमें बुद्धि भी है और स्त्रियोचित हृदय भी। दुख और दुःखियों के प्रति उसमें समवेदना है। बलदेव एवं उसकी बहिन की दयनीयता से वह आर्द्र हो उठती है। आत्मसंमान का भी मूल्य वह जानती है एवं अपने पैरों पर खड़े होने की क्षमता भी उसमें है। समय आने पर सारे मोहबंधनों को छिन्न-भिन्न कर देने की शक्ति भी उसने अपने भीतर ही पाली। नंदकिशोर, बलदेव, कैलाश तथा जयंती

के चरित्रों में कुछ विरोधी दुरूहताएँ हैं। नंदकिशोर ऊपर से जितना सरल एवं सज्जन लगता है भीतर से उसका अहंकार उतना ही प्रबल है। उसके भीतर की दुर्दमनीय संदेह-वृत्ति उसे कभी चैन नहीं लेने देती। वह उस आदिम पुरुष का प्रतीक है जो नारी की अपनी कोई सत्ता ही नहीं रहने देना चाहता। उसमें कल्पना की प्रखरता है, कर्म की भीरुता। कैलाश और जयंती के चित्रण में लेखक को पर्याप्त सफलता मिली है। जयंती के जीवन का अंत करना यदि आवश्यक ही था तो किसी अन्य सुरुचिपूर्ण रीति को भी अपनाया जा सकता था।

'श्रीकांत' एवं 'शेषप्रश्न' आदि उपन्यासों की भाँति 'सन्यासी' में भी पात्रों के कथोपकथनों द्वारा जीवन एवं जगत की कुछ समस्याओं पर नवीन दृष्टियों से विचार करने का प्रयत्न किया गया है। कुछ उक्तियाँ बड़ी अनुभूतिमूलक भी हैं किंतु पुस्तक में ऐसे स्थल भी हैं जहाँ लगता है कि लेखक अनावश्यक कलेवर-वृद्धि कर रहा है। साधारणतः यह उपन्यास अपने ढंग का अच्छा है।

'पर्दे की रानी' में मनोविश्लेषण के निर्देशन की प्रवृत्ति और भी स्पष्ट हो गई है। पूर्व-अर्जित संस्कारों का मनुष्य के क्रिया-कलापों पर कितना सबल प्रभाव पड़ता है इसको दिखलाने का प्रयत्न इस उपन्यास में किया गया है 'सन्यासी' की भाँति ही यह भी आत्म-चरितवत् लिखा गया है। इसकी नायिका है 'निरंजना' जिसकी माँ वेश्या है एवं पिता हत्यारा किंतु सोलह वर्ष की अवस्था तक यह सभ्य बालिकाओं की भाँति अपनी हीन अवस्था का बोध हुए बिना लालित-पालित होती रही। मरते समय माँ ने उसे मनमोहन नामक एक व्यक्ति के संरक्षण में छोड़ दिया और वह उन्हीं के साथ रहने लगी। मनमोहन के पुत्र इंद्रमोहन की लोलुप दृष्टि उसके रूप पर पड़ी और वह वासना-तृप्ति के लिए व्याकुल हो उठीं। इंद्रमोहन युवक था, विलायत लौटा हुआ, धनवान् पिता का पुत्र। निरंजन के

जन्मगत संस्कार ने इंद्रमोहन के साथ खुलकर खेलने के लिए उसे प्रोत्साहित किया किंतु जब शराबी इंद्रमोहन ने होटल में जबर्दस्ती उसके शरीर-भोग का प्रयत्न किया तो वह संत्रस्त हो उठी। उन्हीं दिनों मनमोहन ने भी उसके समक्ष अश्लील प्रस्ताव किया और उसके खरीखोटी सुनाने पर उसकी वेश्या माँ एवं काला पानी वासी पिता का रहस्योद्घाटन कर दिया। निरंजना के सुकुमार हृदय पर यह एक निष्ठुर प्रहार था। वह मनमोहन का आश्रय छोड़कर कालेज छात्रा-वास में चली जाती है। कॉलेज में शीला से उसकी मित्रता बहुत बढ़ जाती है। शीला एक सम्भ्रांत परिवार की बालिका है। कालेज छोड़ने के कई वर्षों बाद मसूरी में निरंजना को शीला मिलती है अपने पति के साथ। भाग्य की बिडंबना से यह पति महोदय निरंजना के पूर्व प्रेमी इंद्रमोहन ही है। इंद्रमोहन की पुरानी आग फिर भड़क उठती है और वे निरंजना को स्वानुकूल बनाने के अधिक सभ्य एवं संयत रीतियों का अनुसरण करते हैं। निरञ्जना भी प्रकृति की स्वाभाविक प्रेरणा एवं अपने जन्मजात संस्कार के कारण पुनः इंद्रमोहन को आकर्षित करने के सारे प्रयत्न करने लगती है। इस पशु-प्रवृत्ति के बीच उसका अंतर्वासी सदैव शीला जैसी स्नेहशीला सखी को वंचित करने के प्रयत्न से उसे विमुख करना चाहता है। यह इस मानवी भावना का ही परिणाम था कि इंद्रमोहन के प्रस्ताव पर जी जान से सहमत होनेपर भी वह कह सकी "शीला के प्रति मेरे हृदय में बरा-बर एक सच्चा सम्मान और सहृदय आत्मीयता का भाव वर्त्तमान रहा है, मैं सोचकर स्वयं आश्चर्य में हूँ कि अपनी किस भयंकर मनो-वृत्ति से प्रेरित होकर मैं इतने दिनों तक सब कुछ समझते हुए भी शीला को इस हद तक मार्मिक चोट पहुँचाने में समर्थ हुई। शीला अत्यन्त अनुभूतिशीला और समझदार है, वह ओछी नहीं है इस-लिए कभी अपने मन की वास्तविक वेदना को प्रगट नहीं होने देगी पर

उसकी प्रकृति की उस सुरुचि और संयम का इस तरह अनुचित लाभ उठाना वास्तव में हम दोनों की निपट हीनता का परिचायक है। मैं वास्तव में उसकी परम शत्रु हूँ, फिर भी मैं उस शत्रुता को चरम सीमा तक नहीं पहुँचाना चाहती। विश्वास मानिए इस समय मुझमें आपसे कुछ कम उन्माद नहीं समाया हुआ है पर मेरे प्रतिरोध का केवल कारण शीला है। जब तक शीला जीवित है तब तक आप मुझसे हर्गिज ऐसी आशा न करें।" शीला के इस कथन के भीतर विवेक-बुद्धि के साथ-साथ एक अव्यक्त, अज्ञात संकेत आप से आप ध्वनित हो उठा है। पाशव वृत्ति प्रधान इंद्रमोहन ने उसी दिन अपना भयंकर निश्चय कर लिया होगा। वह मसूरी से उस समय चला जाता है किंतु कुछ ही दिनों बाद अपनी दानवता को बढ़ी मूँछ-दाढ़ी एवं फटे-पुराने कपड़ों में छिपाए हुए, बरबस ही दीनता का अभिनय करता हुआ वह पुनः निरंजना के समक्ष उपस्थित होता है। यह समाचार देने के लिए कि शीला की मृत्यु हृदयगति बंद हो जाने से हो गई और अब स्वयं उसे इस मर्मघाती घटना के बाद जीवन से कोई मोह नहीं रह गया। उसका यह उपाय सफल हो जाता है और शीला उसके इस अभिनीत पत्नीप्रेम को देख श्रद्धा से भर उठती है। षड्यंत्र के मामले में अपने जीवन का खतरा बताकर वह उसकी करुणाभावना को भी आंदोलित करता है। नारीसुलभ इस श्रद्धा एवं करुणा के उदय होते ही वेश्या-पुत्री की समर्पण भावना प्रबल हो उठती है और अपनी संपूर्ण भावुकता के साथ वह कह पड़ती है—"आप मुझे जहाँ ले चलने को कहेंगे चलूँगी, इंद्रमोहनजी मृत्युपर्यन्त आपका साथ न छोड़ूँगी।" इंद्रमोहन की अवरुद्ध वासना को अवसर मिला, उसकी कूटनीति को सफलता। नैपाल जाते हुए उसने रेलगाड़ी में ही निरंजना का कौमार्य प्रथम बार खंडित किया। विधि की विडंबना से इन दोनों अभिशप्त प्राणों का यह प्रथम और अंतिम पापमिलन था। शैतानी प्रवृत्तियों

की प्रेरणा से इंद्रमोहन ने शीला के मृत्यु की वास्तविक कथा जब निरंजना से कह सुनाई तो वह घृणा एवं क्रोध में पागल सी हो उठी। निरंजना के प्रति अपने प्रेमाधिक्य को प्रमाणित करने के लिए इंद्रमोहन गाड़ी से कूदकर जान दे देता है। अतलस्पर्शी क्षोभ एवं मानसिक उथलपुथल के बीच जब निरंजना अपने गुरु के पास जाकर आपबीती कह सुनाती है तो गुरु उसे सांत्वना वाक्यों से संयत करने का प्रयत्न करते हैं एवं कर्तव्य का सच्चा पाठ पढ़ाते हैं—"उस प्रथम और अंतिम प्रेम मिलन के फलस्वरूप मातृत्व की जो स्थिति तुमने पाई है उसे ग्लानि का कारण न समझ कर गौरव के रूप में ग्रहण करना तुम्हारा कर्तव्य है।" गुरु के इस आदेश को मानकर निरंजना मातृपथ के मंगलमय मार्ग पर चल पड़ती है। यही है जोशीजी की 'पर्दे की रानी'।

इस उपन्यास में भी आत्मकथा वाली प्रणाली का अनुसरण किया गया है। जोशीजी ने अवचेतन मन की क्रियात्मक शक्ति का निदर्शन करने का इसमें पूरा प्रयत्न किया है। निरंजना के भीतर दो प्रेरक शक्तियाँ थीं। एक तो उसका शिक्षित एवं संस्कृत तर्क-बुद्धि-समन्वित सतह पर लहरानेवाला मन तथा दूसरा इस मन के अतल में बाड़वाग्नि की तरह छिपा हुआ अवचेतन मन जिस पर माता-पिता की पूरी पूरी छाप थी। अपने भीतरी मन की इस परोक्ष क्रिया को वह स्वयं भी कभी कभी लक्ष्य करती है—"मेरे भीतर वेश्या के संस्कार पूर्ण मात्रा में वर्त्तमान हैं यदि ऐसा न होता तो मैं इंद्रमोहनजी को अपनी भाव-भंगीमा से उस तरह रिझाने की चेष्टा न करती और उन्हें इच्छानुसार नचाकर अकारण परेशान न करती और होटलवाली घटना और उसके बाद की दुर्घटना का कारण न बनती।" जिस दिन से उसने अपने माता-पिता के पतित जीवन की कहानी जानी थी उसी दिन से उसके मन में एक विचित्र गाँठ सी पड़ गई। इसी को कहते

है । इंद्रमोहन का चरित्र जिन परिमाणुओं से ग्रथित है उनमें पर्याप्त स्वाभाविकता है । वह 'शरीफ बदमाश' का अच्छा उदाहरण है। निरंजना के गुरु एक आदर्श व्यक्ति हैं जिनके अनुभव खरे हैं। निरंजना के जीवन में एकमात्र गुरु ही उसे कल्याण-पथ की ओर संकेत करनेवाले थे । उपन्यास पर्याप्त मनोरंजक है और कुछ वार्तालाप बड़े ही मार्मिक एवं अनुभूतिमूलक हैं ।

जोशीजी का तीसरा उपन्यास है 'प्रेत और छाया' जिसमें इनकी मनोवृत्ति एवं सिद्धांत बिल्कुल परिस्फुट हो उठे हैं । इस उपन्यास का नायक है पारसनाथ । इसका पिता बैजनाथ तिब्बत प्रदेश के कलिम्यांग नगर का एक बहुत बड़ा व्यापारी है । उसके जीवन का प्रधान उद्देश्य धनोपार्जन एवं कादंब तथा कामिनी की आराधना है। पारसनाथ एम० ए० की परीक्षा देकर कलकत्ता से कलिम्यांग आया और वहाँ एक ऐसी घटना हो गई जिसने उसके जीवन की धारा ही बिल्कुल पलट दी । दुर्वृत्त पिता के पापमय जीवन को तो वह देख ही रहा था एक दिन इस 'तिब्बती दानव' ने उसे यह सूचना दी कि वह उसका पिता नहीं । उसकी माँ का किसी वैद्य से संबंध था और पारसनाथ उसी का पुत्र है । अपने जन्म की इस कलंकपूर्ण कथा ने उसके अवचेतन मन में बड़ी गहरी जड़ जमा ली और जब तक यह जड़ उखाड़कर निकाल नहीं दी गई तब तक उसकी आत्मा प्रेत-छायाओं से घिरी रही और वह न तो स्वयं सुखी रह सका न जिनके संपर्क में आया उन्हें सुखी कर सका । उसने न जाने कितनी स्त्रियों के साथ यौन-संबंध स्थापित किया था और फिर उसे तोड़ भी डाला था । एक दिन युक्तप्रांत के एक नगर के किसी होटल में उसने मंजरी नाम की एक दरिद्र लड़की को देखा जो उन लोगों का मनोरंजन करने के लिए बुलाई गई थी । इस लड़की में कुछ ऐसी विचित्रता एवं कारुणिकता थी कि पारसनाथ उसकी ओर आकर्षित

हो गया। दूसरे दिन जब मंजरी द्वारा उसे ज्ञात हुआ कि वह कालिज में पढ़ती है और उसकी असह्य दरिद्रता ने उसे बाध्य किया कि वह होटल में रूप-प्रदर्शन कर अपना तथा अपनी अंधी माँ का पेट भरे तो पारसनाथ मंजरी के प्रति सहानुभूति से भर आया। मंजरी की मानसिक एवं शारीरिक पवित्रता ने उसे और प्रभावित किया। वह उसे आर्थिक सहायता करने लगता है और धीरे धीरे उसके घर भी आने जाने लगा। नरक की सी यंत्रणा भोग कर जब एक प्रलय की रात में मंजरी की अंधी माँ के प्राण-बंधन मुक्त हो गए तो पारसनाथ के घर जाने के सिवा मंजरी के लिए कोई उपाय न रह गया। पासियों के बीच वह दुर्गंध से पूर्ण घर भी परिवर्तित परिस्थिति में मंजरी को स्पृहणीय था। मंजरी को घर लाकर पारस ने अपने कलंकित जीवन की सारी कथा उसे सुना डाली। जिस पर उसने कहा था कि "कोई भी दुखी प्राणी घृणा के योग्य नहीं हो सकता चाहे वह कितना ही हीन क्यों न हो।" धीरे धीरे इन लोगों में यौन-संबंध स्थापित हो जाता है। मंजरी जितनी ही पारसनाथ के पास आती गई वह उतना ही काल्पनिक आशंकाओं से भरता गया। कभी वह बच्चों की सी बातें करने लगता, कभी बहुत दयनीय हो उठता। अनेक प्रकार के भयों, भ्रांतियों और दुश्चिंताओं से उसके जीवन का आकाश छाया रहा। इसी बीच भुजौरिया जी की पत्नी नंदिनी से भी जिसे वह चित्र-कला सिखाया करता था उसकी घनिष्ठता बहुत बढ़ गई। वह रात रात नंदिनी के यहाँ बिताने लगा और मंजरी से बहाने बनाने लगा। नंदिनी एक सहृदय वेश्या थी जिसने संमानपूर्ण जीवन बिताने के लिए भुजौरिया से विवाह किया था। किंतु स्त्रैण भुजौरिया का उद्देश्य उसके द्वारा धनोपार्जन करना था। पारसनाथ से परिचय होने पर नंदिनी बेतरह उस पर रीझ गई और अपनी संपूर्ण कला से उसे रिझाने का प्रयत्न करने लगी।

पुरुषत्वरहित भुजौरिया का कोप निष्फल सिद्ध हुआ और नंदिनी तथा पारसनाथ का संबंध दृढ़तर होता गया। इधर मंजरी गर्भवती हो गई। जैसे जैसे गर्भ बढ़ता गया पारसनाथ का मन काल्पनिक दुश्चिंताओं से आक्रांत होता गया। वह मंजरी से कतराने लगा। जिस दिन उसे बच्चा हुआ वह रात भर उसके पास बैठा रहा किंतु उसके अंतर में शांति न थी। जैसे जैसे बच्चा बढ़ने लगा पारसनाथ के भीतर शूल सा चुभने लगा और चार महीने बाद एक दिन माँ एवं शिशु को अनाथ छोड़कर वह नंदिनी के साथ भाग निकला। नंदिनी उसे लेकर अपनी वेश्या-बहिन के पास लखनऊ पहुँची। कुछ दिनों के उपरांत नंदिनी के प्रति भी पारसनाथ का व्यवहार बड़ा बुरा हो गया। नंदिनी ने फिर से अपनी वृत्ति आरंभ की और पारसनाथ की उपेक्षा करने के लिए बाध्य हुई। पारसनाथ वहीं पर शराब के नशे में मस्त होकर कुत्तों की तरह नंदिनी की रोटियाँ तोड़ा करता। नंदिनी उससे डरने लगी। दोनों में कई बार लड़ाई हो गई किंतु फिर भी सहृदय नंदिनी उसका ख्याल रखती थी। पारस को नशे में पागलपन का फिट सा आने लगा। समाजियों के बीच वह भी विक्षिप्त सा जीवन बिताने लगा। उसने मंजरी की छोटी बहिन हीरा को गाने की शिक्षा देनी आरंभ की और उसे इतनी कुशल बना दिया कि उसका रोजगार भी चल निकला। वह हीरा को लेकर कलकत्ते चला जाता है और उसके गहने लेकर भागने की तैयारी करता है कि इतने ही में एक ऐसी घटना घटती है जिससे उसके अंतर की गाँठ बिल्कुल खुल सी जाती है। उसके पिता का पुराना नौकर चंद्रबहादुर उसे मिल जाता है और अनुरोध करके उसे घर ले जाता है। रोगग्रस्त पिता उससे बड़े प्रेम से मिलते हैं और उसे बताते हैं कि उसके जन्म के विषय में उन्होंने झूठ कहा था और वह वास्तव में उन्हीं का पुत्र है तब उसकी माँ बड़ी ही सती-साध्वी

ली थीं। उसकी चेतना की गाँठ खुल पड़ती है और हीरा को धोखा देने का इरादा बिल्कुल बदल जाता है। पिता की अनुमति से वह हीरा से विवाह कर लेता है और भले आदमी की तरह जीवन बिताने लगता है। इधर पारस के छोड़ जाने के उपरांत मंजरी का लड़का मर जाता है और वह घर छोड़कर चली जाती है। उसे नारी-संस्कृत-निकेतन में स्थान मिलता है और वहीं से उसके डाक्टरी पढ़ने की व्यवस्था हो जाती है। वह कलकत्ते चली जाती है। वहाँ एक प्रोफेसर से उसका प्रेम हो जाता है और दोनों विवाह कर लेते हैं। कुछ दिनों के उपरांत प्रोफेसर की भी मृत्यु हो जाती है और मंजरी विख्यात डाक्टर हो जाती है। पारसनाथ तथा मंजरी की एक बार बड़े ही मार्मिक अवसर पर भेंट होती है। किंतु मंजरी उसके साथ बड़ी कठोरता का व्यवहार करती है।

इस उपन्यास में लेखक ने पारसनाथ को विभिन्न परिस्थितियों में डालकर उसके क्रियाकलापों एवं भावना-ग्रंथियों में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया है। पारसनाथ आरंभ में बड़ा ही सुरुचिपूर्ण, अध्ययनशील एवं सहृदय व्यक्ति था किंतु उसके पिता ने उसके जन्म की मिथ्या कलंकपूर्ण कहानी कहकर उसके अवचेतन मन में बड़ी प्रबल ग्रंथि डाल दी जिसके फलस्वरूप उसकी चेष्टाएँ बड़ी रहस्यमयी हो गईं। उसका व्यक्त मन अपने कलंकित जन्म की अवांछनीय स्मृति को दबाना चाहता था पर अव्यक्त मन उतनी ही प्रबलता से उसे स्मरण रखने की चेष्टा करता था। इस अंतर्द्वंद्व के कारण-स्वरूप पारसनाथ की असाधारण मानसिक दशा हो गई। मंजरी की जब उसने दुखद कहानी सुनी तो उसके प्रति सहानुभूति से भर उठा, क्योंकि वह स्वयं दुखी था और उसके अव्यक्त मन ने मंजरी के साथ तदात्मता कर ली। किंतु मंजरी के साथ यौन-संबंध स्थापित होते ही उसके स्वभाव में परिवर्तन हो चला। यह संबंध उसे

अपनी माँ के कलंकित जीवन की स्मृति दिलाने लगा जिसे वह दबाने की भरपूर चेष्टा करता था। परिणाम-स्वरूप वह मंजरी से कतराने लगा। जब मंजरी को बच्चा हुआ तो उसका व्यक्त मन शिशु-स्नेह से भर उठा किंतु इस शिशु-जन्म ने उसे अपने जन्म की स्मृति दिलाकर एक विचित्र कड़ुवाहट घोल दी। मंजरी की अंधी माँ की प्रेत-छाया-कल्पना का मूल उत्स भी उसका अव्यक्त मन ही था। इन कल्पनाओं से वह इतना भयभीत हो उठा कि मंजरी एवं नवजात शिशु उसके लिए नितांत असह्य हो उठे। शिशु के छोड़ जाने में उसकी प्रतिशोध भावना की भी तृप्ति होती थी। उसके पिता ने भी तो उसे ऐसा ही निर्दय आघात पहुँचाया था। उसका अव्यक्त मन जिस सुखावस्था में स्वयं नहीं पहुँच पाया था उसमें बालक को भी नहीं देखना चाहता था। मंजरी एवं पुत्र के परित्याग ने उसके अंतर में एक और भी ग्रंथि डाल दी। नंदिनी के यहाँ उसकी विक्षिप्तता के मूल में भी उसकी ये ग्रंथियाँ ही थीं। वह स्वयं छला गया था अतएव किसी को छल-कर उसका अव्यक्त मन संतोष-लाभ करता था। नंदिनी की बहिन के साथ विश्वासघात करने के निश्चय में उसके अव्यक्त मन की प्रतिशोध-भावना को तृप्ति मिली। अंत में लेखक ने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि अव्यक्त मन की ग्रंथि के खुलते ही वह एकाएक साधारण हो उठता है और उसका कर्तव्यज्ञान पुनः लौट आता है।

जहाँ तक अदृश्य मन की रूपरेखा खींचने का प्रयत्न है जोशीजी पर्याप्त सफल रहे हैं। इस सफलता का कारण अपने सिद्धांत के प्रति उनकी अतिशय सतर्कता एवं सजगता रही है। किंतु जिस प्रकार उनके नायक का व्यक्तित्व अव्यक्त मन की उलझनों से आच्छन्न हो उठा है उसी प्रकार जोशीजी की कला उनके सिद्धांतों से परिवेष्टित हो गई है। सिद्धांत आगे आ गए हैं कला पीछे पड़ गई है। पात्र, घटनाएँ, वार्तालाप सभी इस प्रकार नियोजित किए गए हैं कि अचेतन

मनवाला मनोवैज्ञानिक सिद्धांत परिपूर्ण रूप से प्रकाशित हो उठे। यही कारण है कि इस नियंत्रित कृति में मिथ्या का आभास मिलने लगता है। इस उपन्यास के पात्र कृत्रिम हैं, परिस्थितियाँ कृत्रिम हैं एवं वार्तालाप भी कृत्रिम हैं। इसका प्रधान कारण यही है कि जोशी जी ने विज्ञान के प्रकाश में कला की अभिव्यंजना न करके वैज्ञानिक रीति से कला को बाँधने का उपक्रम किया है। ऐसे उपन्यासों में अपनी कोई स्वाभाविक गति नहीं होती, कार्य-कारण-संबंधों द्वारा वे स्वयं परिचालित नहीं होते वरन् अपने आशय के अनुसार लेखक उनका स्वयं परिचालन करता है। व्यक्तियों का आंतरिक विश्लेषण ही लक्ष्य होने के कारण इसमें घटना-बहुलता नहीं है।

'संन्यासी', 'पर्दे की रानी' तथा 'प्रेत और छाया' तीनों में एक तरह की पारिवारिक अनुरूपता है। तीनों की कथा एवं पात्रों में भी समानता है। तीनों की अभिव्यंजना-प्रणाली भी एक सी ही है। 'संन्यासी' में एक पुरुष दो स्त्रियों से प्रेम करता है किंतु अपनी संदेह-शीलता के कारण एक के साथ भी निर्वाह नहीं कर पाता। 'पर्दे की रानी' का इंद्रमोहन भी दो स्त्रियों का प्रेमी है। एक है उसकी स्त्री शीला तथा दूसरी उसकी प्रेमिका निरंजना। निरंजना का उपभोग करने के लिए वह शीला की हत्या करने से भी नहीं हिचकता। किंतु निरंजना के साथ भी वह न रह सका। वह गाड़ी से कूदकर स्वय जान दे देता है। 'प्रेत और छाया' में भी वही एक पुरुष की कई स्त्रियों से प्रेम करने की कथा है। 'संन्यासी' की शांति तथा 'प्रेत और छाया' की मंजरी में बड़ी अनुरूपता है। निरंजना एवं नंदिनी मिलती-जुलती सी हैं। नंदकिशोर, इंद्रमोहन तथा पारसनाथ एक से अधिक स्त्रियों से प्रेम करने की दृष्टि से समान हैं किंतु जिन अवयवों से तीनों के चरित्र गठित हैं उनमें पर्याप्त भिन्नता है। तीनों के क्रियाकलापों में अव्यक्त मन का अधिक हाथ है किंतु पारसनाथ के

अव्यक्त मन का इतना विश्लेषण किया गया कि वह अस्वाभाविक सा हो उठा है। नंदकिशोर अपेक्षाकृत अधिक स्वाभाविक है।

जोशीजी के उपन्यासों को पढ़ने से सबसे पहले ध्यान जाता है भाषा पर। आपने प्रायः शुद्ध संस्कृत के शब्दों का व्यवहार करने का प्रयत्न किया है किंतु व्याकरण-संबंधी अशुद्धियाँ स्थान स्थान पर मिलती हैं। सब्दों का रूप भी कहीं कहीं बिल्कुल अशुद्ध है।

रूसी साम्यवाद इस युग की एक प्रधान क्रांति रही है जिसने विश्व भर के राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन को एक चुनौती सी दी है। वर्तमान युद्ध में रूस की अप्रत्याशित दृढ़ता एवं अभूतपूर्व विजय ने उसके पक्ष को और भी सबल बना दिया है। विश्व के अन्य देशों में भी रूसी विचारधारा का अनुमोदन करनेवाली जनता की संख्या-वृद्धि हो रही है।

यशपाल

जब से भारतवर्ष में कांग्रेस की स्थापना हुई तभी से यह इस देश की राजनीतिक चेतना का प्रतीक रही है। कांग्रेस का प्रधान लक्ष्य भारत की स्वतंत्रता प्राप्त करना रहा है और इसकी पूर्ति के लिए उसने अहिंसात्मक सत्याग्रह को अपना साधन बनाया। स्वदेशी आंदोलन, हिंदू-मुसलिम ऐक्य आंदोलन, राष्ट्रभाषा तथा अछूतोद्धार आंदोलन आदि कांग्रेस के कार्यक्रम रहे हैं। महात्मा गांधी का कांग्रेस पर सदा से ही बहुत बड़ा प्रभाव रहा है और प्रायः उन्हीं के नेतृत्व में कांग्रेस अगला कदम उठाती रही है। कांग्रेस की मंद-मंथर गति से असंतुष्ट होकर देश को शीघ्र से शीघ्र स्वतंत्र कर देने के प्रयत्न में कांग्रेस से विभिन्न और भी दल निकले किंतु समय ने उनका साथ न दिया। इन दलवालों में क्रांतिकारियों का बलिदान असफल होते हुए भी स्तुत्य है। रूसी साम्यवाद की सफलता-से प्रभावित भारतीय साम्यवादियों का एक दल भी कुछ वर्षों से उठ खड़ा हुआ है। इन साम्यवादियों ने अपने को बिल्कुल रूसी

आदर्शों के साथ तदात्म कर लिया है और कांग्रेस से भिन्न अपना कुछ नाममात्र का कार्यक्रम बना लिया है। वर्तमान युद्ध में जिस दिन से रूस क्षेत्र में आया यहाँ के साम्यवादियों ने इसे लोकयुद्ध घोषित करके इसे सफल बनाने के लिए जनता से अपील की। जिस समय कांग्रेस के हजारों नेता जेल में पड़े थे उस समय सूटधारी भारतीय कम्यूनिस्ट काफ़ी-भवन में बैठकर लोकयुद्ध को सफल बनाने का मौखिक वाद-विवाद किया करते थे।

कहते हैं कि श्री यशपाल का पहले हिंसात्मक विप्लव में विश्वास था किंतु निर्दोष रक्तपात की व्यर्थता से उनका वह विश्वास विचलित्त हो उठा। इधर उनका झुकाव रूसी तरीकों की ओर अधिक दिखाई पड़ रहा है। अपने प्रथम उपन्यास 'दादा कामरेड' में उन्होंने अहिंसात्मक विप्लव की व्यर्थता प्रतिपादित की है तथा दूसरे 'देश-द्रोही' में साम्यवाद की उपयोगिता उपयुक्त सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। ये दोनों ही उन्पयास सोद्देश्य हैं। उपन्यास में राजनीतिक समस्याओं को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न सर्वप्रथम श्री प्रेमचंद ने किया था। वे गांधी-कार्यक्रम के समर्थक थे और उनके रंगभूमि, कर्मभूमि, प्रेमाश्रम आदि में स्थल स्थल पर उन्हीं कार्यक्रमों का चित्रण किया गया है। इसके उपरांत केवल जैनेंद्र की 'सुनीता' में एक क्रांतिकारी की थोड़ी सी झलक दिखाई पड़ी। इस दृष्टि से प्रेमचंद के बाद राजनीतिक विषयों पर उपन्यास लिखनेवाले यशपाल ही प्रथम ठहरते हैं। किंतु दोनों के दृष्टिकोण में बड़ा अंतर है। अभिव्यंजना के ढंग में भी पर्याप्त विभिन्नता है। प्रेमचंद ने युग की उथल-पुथल को कलाकार की संपूर्ण सचाई के साथ केवल चित्रित करने का प्रयत्न किया है; यशपाल ने उपन्यास को सिद्धांत-प्रचार का साधन बनाया है। यह इनकार नहीं किया जा सकता कि यशपाल में उच्च कोटि की विधायक प्रतिभा है। उनकी कहानियाँ इसकी साक्षी हैं। किंतु उनकी कहानियों

में कला के जिस उत्कृष्ट रूप का दर्शन होता है वह उपन्यासों में नहीं मिल पाया। इसका प्रधान कारण यही है कि उपन्यास के माध्यम से वे एक निश्चित ध्येय की सिद्धि चाहते थे। जिन प्रबल भावनाओं ने उन्हें 'गांधीवाद की शव-परीक्षा' लिखने की प्रेरणा दी थी वे ही भावनाएँ उनकी कला का भी नियंत्रण कर रही थीं।

'दादा कामरेड' मई सन् १९४१ में प्रकाशित हुआ था। हरीश जेल से भागा हुआ एक क्रांतिकारी है। इन लोगों की एक गुप्त पार्टी है जिसके नेता हैं 'दादा'। जेल से भागने के बाद हरीश अनुभव करता है कि "गुप्त पार्टी बना दस-पाँच आदमियों में अपनी शक्ति को संकुचित कर देने से कोई लाभ नहीं है।" वह कहता है "अब तक हमारी संपूर्ण शक्ति डकैतियाँ करने में अधिकतर और कुछ राजनीतिक हत्याओं में काम आई है। किंतु हमारा उद्देश्य तो यह नहीं है। हमारा उद्देश्य तो यह है कि इस देश की जनता का शोषण समाप्त कर उनके लिए आत्मनिर्णय का अधिकार प्राप्त करना।........"
हमें अपना टेकनीक बदलना चाहिए........बजाय शहादत के परिणाम की ओर ध्यान देना चाहिए। रूस ने क्या किया?........
हम अपने आदमियों के जरिए कांग्रेस में घुसें और दूसरे जन-आंदोलन में हाथ उठावें।" उसके इस मत-परिवर्तन से उसकी पार्टीवाले उसके विरुद्ध हो जाते हैं क्योंकि वहाँ तो तर्क को कोई स्थान नहीं। पार्टी की गुप्त बैठक में बी० एम० द्वारा प्रस्ताव होता है कि हरीश को शूट कर दिया जाय। किंतु हरीश को शैला द्वारा इस निश्चय की सूचना मिल जाती है और वह अपनी रक्षा कर लेता है। इस हरीश के भीतर सच्ची लगन के साथ-साथ मानवोचित हृदयालुता भी है। शैला, यशोदा एवं लाहौरवाले मजदूर अख्तर के प्रसंग में उसकी इस सहृदयता का यथेष्ट परिचय मिलता है। लाहौर में मजदूरों की विपन्नता को देखकर वह सोचता है "आकाश में गरजनेवाली बिजली

की तरह मजदूरों की इस शक्ति को क्रांति के तार में कैसे पिरोया जा सकता है।" और मजदूर-संगठन के लिए प्रयत्नशील होता है। एक ओर तो इस राजनीतिक क्रांतिकारी हरीश की कथा है और दूसरी ओर सामाजिक क्रांतिकारिणी शैला की। यशपाल ने शैला के व्यक्तित्व तथा विचारों के द्वारा स्त्री-पुरुष के संबंधों की भी कुछ विवेचना करने की कोशिश की है। शैला बिल्कुल स्वच्छंद प्रकृति की शिक्षित स्त्री है। वह कहती है—"कर लो किसी को अपना या हो लो किसी के, मैं तो संभव नहीं देख पाती। क्या संसार भर की अच्छाई एक ही व्यक्ति में समा सकती है? और जगह दिखाई देने पर अच्छाई को कैसे इनकार किया जा सकता है? क्या मनुष्य-हृदय का स्नेह केवल एक ही व्यक्ति पर समाप्त हो जाना जरूरी है?" यह शैला हरीश की बड़ी सहायता करती है। राबर्ट-नैन्सी प्रसंग को लाकर आधुनिक प्रेम के रूप को भी दिखाने का प्रयत्न किया गया है। आज-कल स्त्री का क्या स्थान होता है यशोदा इसका जीवित उदाहरण है।

इस प्रकार 'दादा कामरेड' लिखकर यशपाल ने अपने राजनीतिक एवं कुछ सामाजिक विचारों को व्यक्त करने का प्रयत्न किया है। अपने इस उद्देश्य में तो वे पर्याप्त सफल रहे किंतु इससे उच्चतर कलाकार का जो उद्देश्य होता है उसकी पूर्ति इसमें पूरी पूरी तरह नहीं हो पाई। यह अवश्य है कि उपन्यास पर्याप्त मनोरंजक है, वर्णन-प्रणाली आकर्षक है तथा वातावरण का बड़ा सजीव चित्रण है। इस उपन्यास में यशपाल ने ऐसा क्षेत्र चुना है जो हिंदी के लिए अछूता था। यदि थोड़ी सी कलात्मक तटस्थता वे रख पाते तो यह अपने ढंग का अनोखा उपन्यास होता। हरीश, बी० एल० दादा, शैला, यशोदा, अख्तर सभी के चरित्रों में कुछ न कुछ विशेषता है। सभी का व्यक्तित्व अलग-अलग है। हाँ उन्हें विकास-स्वातंत्र्य अवश्य नहीं मिला है।

यशपाल का दूसरा उपन्यास 'देश-द्रोही' सन् १९४३ में प्रकाशित हुआ। इसमें इनकी मनोवृत्ति और भी स्पष्ट हो गई। गांधीवाद तथा कांग्रेस की आलोचना एवं रूसी समाजवाद का प्रतिपादन इस उपन्यास का लक्ष्य प्रतीत होता है। अपनी उर्वर कल्पना एवं पुस्तकीय ज्ञान के सहारे लेखक ने स्वानुभव से परे के प्रदेशों, वस्तुओं एवं व्यक्तियों का इसमें चित्रण करने का प्रयास किया है और यह नहीं कहा जा सकता कि उसे सफलता नहीं मिली। इस उपन्यास की लीला-भूमि बड़ी विस्तृत है। इसमें भारतीय, वजीरी, अफ़गान, रूसी आदि कई प्रकार की जातियों का चित्रण किया गया है।

'देश-द्रोही' का कथानायक है भगवानदास खन्ना जो सीमाप्रांत के फौजी अस्पताल का डाक्टर है। एक रात छापा मारकर वजीरी लोग बहुत सा सामान एवं पशुओं के साथ साथ कैप्टेन खन्ना को भी उठा ले गए। 'अजानी अंधेरी राह' में डाक्टर खन्ना की अननुभूत यंत्रणा का यशपाल ने बड़ा व्योरेवार वर्णन किया है। जब दर्द से वेहाल अचेत डाक्टर खन्ना की चेतना लौटी तो उन्होंने अपने को वजीरियों के वीच में पाया। अपनी कल्पना से लेखक ने वजीरियों की रहन-सहन, उनकी रीति-नीति, उनकी सामाजिक एवं आर्थिक अवस्था तथा लूट में आए हुए व्यक्ति के साथ उनके पाशविक व्यवहार का वड़ी सतर्कता से वर्णन किया है। वजीरियों को लालच था कि डाक्टर खन्ना के घरवाले काफी रुपया देकर उसे छुड़ा लेंगे। उन्होंने प्रस्ताव किया कि डाक्टर अपने घर चार हजार रुपयों के लिए चिट्ठी लिखे। वह चिट्ठी बन्नू के किसी मातवर आदमी के हाथ देहली भिजवा दी गई। डाक्टर का एक एक दिन नारकीय यंत्रणा सहते हुए आशा में अटका रहा। इन अपढ़ उजड्ड पठानों के धार्मिक विश्वासों एवं आचार-विचार ने डाक्टर के समक्ष जीवन-तथ्य का एक नया पहलू उद्घाटित कर दिया। वह सोचने लगा कि आदमी जितना जाहिल

रहता है उतना ही अधिक अभिमान और भरोसा उसे अपने आचार का होता है। परिस्थिति-भेद से जिस प्रकार के लोगों को वह बिल्कुल तुच्छ और हेय समझता वे ही उसे कीड़े-मकोड़े से भी हेय समझ रहे थे। उसके इस यंत्रणामय जीवन में सरसता भरने के लिए इब्बा और नूरन संकेत करतीं किंतु भय से डाक्टर आँख न उठा पाता। प्रायः पाँच महीने बाद जब कबीले के एक वजीरी ने बन्नू से लौटने के बाद समाचार दिया कि उसका पत्र दिल्ली भेज दिया गया था किंतु उसका उत्तर न आया तो निराशा से डाक्टर का मस्तक झुक गया। ईद के दिन डाक्टर को कलमा पढ़ाकर मुसलमान बना लिया गया। कबीलेवालों ने इसे बड़े सवाब का काम समझा। अब डाक्टर को जान पड़ने लगा कि मनुष्य का अपना विश्वास ही भगवान है और भगवान की प्रेरणा उसे अपनी बुद्धि के अनुसार समझ पड़ती है। उसके विचार में जबरदस्ती मुसलमान बनाया जाना घोर अन्याय और मूर्खता थी परंतु वजीरियों की दृष्टि में बड़ा भारी सवाब, जिससे उन्हें बहिश्त की हूरें मिलेंगी। 'खन्ना' से 'अन्सार' होकर डाक्टर गज़नी लाया गया और उसका प्रबंध पोस्तीनों के व्यापारी अब्दुल्ला सौदागर के यहाँ हो गया।

सिंपदा के छ मास के जीवन के उपरांत डाक्टर को अब्दुल्ला की दूकान की नौकरी स्वर्ग जान पड़ रही थी। अब्दुल्ला का लड़का नासिर जो सहृदय, उदार एवं नवीन भावनाओं में रँगा था उससे पर्याप्त सहानुभूति रखने लगा। नासिर जैसे अपने चारों ओर फैले अज्ञान और संकुचित जीवन से छटपटा रहा था। अपना अनुभव और जानकारी लिए हुए डाक्टर के रूप में उसे एक सहारा सा मिल गया। इधर सांघातिक बीमारी में इलाज तथा तीमारदारी करने के कारण अब्दुल्ला अन्सार से बड़ा प्रसन्न हो उठा और अपनी लड़की से निकाह कर देने का प्रस्ताव किया। डाक्टर के लिए यह

बहुत बड़ा प्रलोभन था; वह इन्कार न कर सका और नर्गिस के ओठों की उत्तेजनाहीन सुवासित मदिरा ने उसे तृप्ति की आत्मविस्मृति में डुबो दिया। किंतु थोड़े ही दिनों बाद उसकी दब गई कल्पना फिर सजीव हो गजनी के क्षितिज से परे पर फड़फड़ाने लगी। उसका मन इस प्रकार के उद्वेगहीन, उद्देश्यहीन जीवन से उकता गया और वह नासिर के साथ सोवियट रूस की सीमा में जाने की युक्ति सोचने लगा। चरस के गुप्त व्यापारियों की मदद से नासिर और डाक्टर स्तालिनाबाद के कस्बे में पहुँच गए। वहाँ से वे अधिकारियों द्वारा समरकंद भेजे गए और वहाँ अफसर के सामने पेश हो अनेक प्रकार की जिरह का उत्तर देने के उपरांत डाक्टर को चिकित्सा-विभाग में खोज का काम दे दिया गया। नासिर गुर्जी तेल के कारखाने में काम करने के लिए भेज दिया गया।

स्वास्थ्य-गृह में डाक्टर का विशेष संपर्क वहाँ के खोज-विभाग के अध्यक्ष डाक्टर जिमोनोफ़ से रहने लगा। डाक्टर जिमोनोफ़ को राजनीति से कोई काम न था। उन्हें वैज्ञानिक अनुसंधान की सुविधाएँ प्राप्त थीं वे इसी में संतुष्ट थे। डाक्टर जिमोनोफ़ के अतिरिक्त खन्ना का अधिक संबंध था कामरेड खतून से। वे शिशुशाला की अध्यक्ष थीं और दाइयों की शिक्षा की देखरेख करना उनका काम था। ज़ारशाही के जमाने में खतून पर्याप्त यंत्रणा झेल चुकी थीं। अतएव अब "इस स्त्री के लिए जीवन का प्रत्येक कार्य संसारव्यापी पूँजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध निरंतर युद्ध की शृंखला है!" डाक्टर जिमोनोफ़ तथा खतून के अतिरिक्त उस स्वास्थ्य-गृह में एक और व्यक्ति था जिसका आकर्षण डाक्टर के लिए दुर्दमनीय था। यह थीं गुलशाँ। स्वभाव की गुणग्राहकता और जीवन में पूर्णता की इच्छा उसे गुलशाँ की ओर खींच रही थी। किंतु राज का विचार भी एकांत क्षणों में उसके मानसलोक को आंदोलित किया करता था और वह

गुलशाँ के मोहपाश को काटकर निकल भागना चाहता था। गुलशाँ सचमुच डाक्टर को प्यार करती थी किंतु अपनी पलायन-वृत्ति के कारण डाक्टर समरकंद में टिक न सका। राजनीतिक शिक्षा लेने के लिए वह मास्को चला गया। वहीं पर उसे नासिर भी मिल गया। वहाँ कुछ दिन रह चुकने के उपरांत डाक्टर काले समुद्र की राह भारत की ओर चल पड़ा। नासिर ने भी उसका साथ दिया। गुलशाँ का सामीप्य उसे राज की सुध दिलाता था और रूस की समाजवादी व्यवस्था अपने दलित भारतवर्ष की। इन दोनों सुधों का आकर्षण उसके लिए दुर्दमनीय था।

इधर जब पति का कोई समाचार नहीं मिला तो उनकी पत्नी राजदुलारी खन्ना बहुत व्याकुल हुईं। यह व्याकुलता परिणति पर पहुँच गई जब सीमांत के फौजी अफसरों ने डाक्टर खन्ना की मृत्यु का संवाद भेजा। पति-वियोग के इस असहनीय दुख से निस्तार पाने के लिए राज ने चुपके से बहुत सी अफीम खा ली किंतु तत्काल उपचार हो जाने के कारण वह मर भी न सकी। उसके इस दुख में सबसे अधिक समवेदना दिखाई डाक्टर खन्ना के मित्र शिवनाथ एवं बद्री बाबू ने। ये दोनों ही राष्ट्रीय कार्यकर्ता हैं। एक समय था जब कि खन्ना एवं शिवनाथ ने बम बनाकर आतंक के द्वारा राष्ट्रोद्धार की स्कीम बनाई थी और अनुभव की कमी के कारण पहले ही बम में शिवनाथ पकड़ लिया गया। जेल से छूटने के बाद शिवनाथ कांग्रेस समाजवादी दल का नेता बन बैठा। बद्री बाबू दक्षिणपंथी कांग्रेसी थे। उनका गांधी-कार्यक्रम में विश्वास था। मजदूरों के कार्यक्रम को हाथ में ले शिवनाथ ने उनके नेतृत्व को चुनौती सी दी। बहुत दिनों तक पति का शोक मनाते रहने के बाद जब राज ने अपने घर में अपनी वास्तविक स्थिति देखी तो वह बद्री बाबू की प्रेरणा से उन्हीं के सेवाश्रम में गई और उनका हाथ बँटाने लगी। धीरे-धीरे वह

उनके निकट आती गई और एक दिन खबर छपी "राजनैतिक विवाह ! देहली के प्रसिद्ध नेता बद्री बाबू का श्रीमती राजदुलारी से अदालती विवाह।" तीसरे ही दिन समाचार था—"चाँदनी चौक देहली में युद्ध-विरोधी व्याख्यान देने के कारण त्याग-मूर्ति बद्री बाबू की गिरफ्तारी।" राज रानीखेत में बद्री बाबू के आश्रम में रहने लगी और कुछ समय उपरांत उन्हें पुत्र भी उत्पन्न हुआ। इधर देश में सन् १९४२ की उथल-पुथल शुरू हुई। शिवनाथ फरार होकर मजदूरों को ध्वंसकार्य के लिए प्रेरित करता रहा।

बंबई में कुछ दिन नाम बदलकर कम्यूनिस्ट पार्टी का काम करते रहने के उपरांत डाक्टर खन्ना भी कानपुर पहुँचे और डाक्टर वर्मा के नाम से दवा की दुकान खोलकर कम्यूनिस्ट पार्टी का काम करने लगे। रूस के ऊपर जर्मन आक्रमण होते ही कम्यूनिस्टों ने इस युद्ध को लोकयुद्ध कहना आरंभ किया और सरकार ने भी इनके ऊपर से सारे प्रतिबंध हटा लिए। उन दिनों शिवनाथ की बहिन यमुना कानपुर में ही थी। राज की बहिन चंदा भी अपने पति के साथ वहीं रहती थी। डाक्टर खन्ना यमुना से मिले और वहीं उनकी शिवनाथ से भी भेंट हो गई। सिद्धांत में भेद होने पर भी दोनों मित्रों में पूर्व-वत् प्रेम था। डाक्टर चंदा के घर भी आने जाने लगा और उसके शील से चंदा उसकी ओर खिंचती सी आई। राजाराम के संदेह ने इस आकर्षण को और भी तीव्र बना दिया। डाक्टर को भी चंदा की 'गोद' में एक विशेष प्रकार का सुखानुभव होता। शिवनाथ युद्ध-प्रयत्न में रोड़े अटकाने के लिए मिल-मजदूरों को ध्वंसकार्य के लिए उत्तेजित कर रहा था और खन्ना लोकयुद्ध की सफलता के लिए अपनी पार्टी के साथ प्रयत्नशील था। शिवनाथ के भड़काने से एक मिल में मजदूरों ने आग लगानी चाही। खन्ना और उसके साथी उन्हें रोकने के लिए पहुँच गए। दोनों दलों में मारपीट हुई जिसमें खन्ना बेतरह

घायल हो गया। अर्ध-मृतक अवस्था में न जाने किन लोगों ने उसको उसी के घर में डाल दिया। चंदा को शिवनाथ का खन्ना के नाम एक पत्र मिला जिसमें चोट लगने के कारण सहानुभूति प्रदर्शित की गई थी तथा यह चेतावनी दी गई थी कि २४ घंटे के भीतर वह कानपुर छोड़ दे क्योंकि उसके बाद पुलिस को उसका असली पता दे दिया जायगा। उसके चोट की खबर सुनकर चंदा आकुल हो उठी और उसके घर पहुँच गई। संयोग से राजाराम चार दिन के लिए बाहर गए थे। खन्ना के अनुरोध से चंदा उसे लेकर रानीखेत राज के पास चल पड़ी। चंदा के द्वारा सब समाचार जानकर राज मूर्छित हो गई। मूर्छा छूटने पर उसने बड़ी बेबसी प्रकट की। रात भर किसी तरह वहाँ बिता कर सबेरे फिर चंदा खन्ना को लेकर चल पड़ी। उधर से रास्ते में ही राजाराम आते दिखाई पड़े। पास आते ही उन्होंने चंदा को पीटना शुरू कर दिया। वह अचेत हो गई। खन्ना के पास पहुँचकर उसके कुछ कहते ही राजाराम कह उठा—"चुप धूर्त, देशद्रोही, बदमाश। दूसरों के घर आग लगाकर तमाशा देखनेवाले बेशरम।" राजाराम की आज्ञा से कुलियों ने खन्ना को डाँडी से उठा पत्थरों के बीच समतल भूमि पर लिटा दिया और चल दिए। पेड़ के नीचे पत्थरों के ऊपर पड़ा खन्ना अधखुली आँखों से उन्हें जाते हुए देख रहा था। उसका हृदय निराशा और अवसाद से मुँह को आ रहा था। दोपहर के बाद संध्या और संध्या के बाद रात्रि। बीतते हुए समय के साथ क्षीण होती उसकी जीवनशक्ति, भूख, प्यास, पीड़ा और ज्वर का प्रबल उत्ताप। निर्बलता से उसका चैतन्य विलीन हो रहा था, पीड़ा की अनुभूति कम होती जा रही थी। षष्ठी के चंद्रमा की हिम शीतल क्षीण ज्योत्स्ना में प्राण-शक्ति की उष्णता प्रत्येक साँस के साथ कम होती जा रही थी। वह बड़बड़ा रहा था, "चाँद मैं देश-द्रोही नहीं······चाँद उनसे कहना······हाँ साहस से······"

इस प्रकार 'देशद्रोही' एक अभागे जीवन की व्यर्थता की कहानी है जो लेखक के इशारे पर संपूर्ण जीवन नाचता रहा और अंत में नितांत असहाय अवस्था में मर गया। जब वह छात्र रहा तो देश-प्रेम के बड़े-बड़े मंसूबे बाँधे किंतु शिवनाथ के गिरफ्तार होते ही सब कुछ भूलकर साधारण मनुष्यों की तरह परीक्षा पास करके फौज में डाक्टर हो गया। लेखक ने वहाँ भी उसको चैन से न रहने दिया और 'एक अजान अँधेरी राह' की निस्सीम यंत्रणा के उपरांत उसे वर्बर वजीरियों के बीच ला पटका। वहाँ वह जीवन की जाने किस लालसा से वजीरियों के बर्बर व्यवहारों को मूक भाव से सहता रहा। अपनी सारी विद्या लेकर भी वह उनके लिए बिल्कुल व्यर्थ ही सिद्ध हुआ। उसमें इतना पौरुष भी न था कि इब्बा और नूरन के प्रेम-निमंत्रण पर उत्साह प्रकट कर सकता। इन स्त्रियों ने भी उसकी स्त्रैणता पर थूक दिया। जब खन्ना से अन्सार होकर वह गजनी पहुँचा तो राज का ध्यान रहते हुए भी वह नर्गिस के रूपाकर्षण को सहन न कर सका और उससे विवाह कर लिया। लेखक से उसका सुख वहाँ भी न देखा गया। संपूर्ण समर्पण करके भी नर्गिस उसे बाँध न सकी और वह रूस की सीमा की ओर भाग चला। समरकंद में वह एक उपयोगी कार्य में लग गया और यदि वहाँ भी स्थिर रह सकता तो जीवन को कुछ सार्थक बना सकता किंतु गुलशाँ को देखकर राज की और रूस को देखकर देश की याद ऐसी प्रबल हो उठी कि वह वहाँ भी न ठहर सका और भारत के लिए चल पड़ा। यदि उसने थोड़ी बुद्धि से काम लिया होता तो चोरों की तरह भारत लौटने की अपेक्षा सबकी जानकारी में आता और सरकार तथा जनता दोनों ही उसका सत्कार करती किंतु लेखक को यह मंजूर न था। भारत में उसके कार्यक्रम की भी कोई निश्चित दिशा न थी। यहाँ भी कर्मक्षेत्र से पलायन की प्रवृत्ति ही अधिक दृष्टिगोचर होती है। देश में सबके

लेनेवाला सिपाही एक लिए समान अधिकार प्राप्त कराने का व्रत प्रौढ़ा के पैर पर सिर रखकर लेटने की कामना में तृप्ति मानता है। उसे व्यवहार का तनिक भी ध्यान नहीं। अपने सुख के लिए उसने चंदा का जीवन भी कंटकित कर दिया। जिस राज के सुख का ध्यान करके वह दिल्ली नहीं गया उसी राज के यहाँ छिपने के प्रस्ताव पर वह तुरंत सहमत हो जाता है। किंतु राज में उससे कहीं अधिक व्यवहार-बुद्धि थी। वह जीवन में सदैव वंचित रहा। उसके परम प्रिय मित्र शिवनाथ और बद्री बाबू ही उसके दुःख के प्रधान कारण हुए। यद्यपि लेखक ने उसका अंतिम समय बड़ा ही करुण चित्रित करने का प्रयत्न किया है किंतु उस करुणा-भावना का उद्रेक पाठक में नहीं हो पाता। इसका प्रधान कारण उसका लेखक के हाथ की कठ-पुतली होना है।

जिस उद्देश्य से इस उपन्यास की रचना हुई वह उद्देश्य भी पूरा नहीं हो सका। लेखक ने कांग्रेस-कार्यक्रम की अपेक्षा कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यक्रम को अधिक उपयोगी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है किंतु जिन पात्रों के द्वारा इस उद्देश्य की अभिव्यक्ति हो सकती वे इतने निर्बल हैं, व्यक्तित्व की उनमें इतनी कमी है कि उनका कोई कार्यक्रम ही नहीं स्पष्ट हो सका। हाँ लेखक ने संवादों एवं व्यंग्योक्तियों के द्वारा कांग्रेस कार्यक्रम की खिल्ली उड़ाने का अवश्य सफल प्रयत्न किया है। किंतु ऐसे स्थलों पर ऐसा लगता है मानों लेखक उपन्यासकार न होकर राजनीतिक इति-हासकार है। कांग्रेस के अनुयायियों का व्यंग्यचित्रण अवश्य बहुत सफल हुआ है। बद्री बाबू का चित्रण अथ से इति तक व्यंगात्मक है। जहाँ भी इनका वर्णन हुआ है वहाँ प्रच्छन्न व्यंग अवश्य है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

"बद्री बाबू सेवाश्रम में ही रहते। अपनी आवश्यकताओं को

उन्होंने कम कर दिया; मोटा खाना, मोटा पहरना और यथासंभव पैदल चलना। सेवाश्रम के काम के लिए उन्हें चाँदनी चौक जाना पड़ता तो पैदल ही जाते। यह देख उनकी सुविधा और समय के विचार से सेठ भाटिया ने अपनी एक मोटर उनके व्यवहार के लिए दे दी।

मोटर और दूसरे यंत्रों से बद्री बाबू को प्रेम न था। जीवन की सादगी को नष्ट कर, उसमें विषमता लानेवाली मैशिनरी को भी वे अच्छा न समझते थे; परंतु उनका समय जनता का समय था। कांग्रेस के दूसरे कार्यकर्त्ताओं के बहुत कुछ कहने सुनने पर इस समय का सदुपयोग करने के लिए उन्होंने मोटर का व्यवहार स्वीकार कर लिया था।"

लेखक के अनुसार कांग्रेस पूँजीपतियों की संस्था है और उसके "भीतर संगठित होकर वैधानिक उपायों द्वारा उसे समाजवादी शक्ति बना सकने का स्वप्न व्यर्थ है। श्रेणी-संघर्ष की चेतना शोषित वर्ग में उतनी अधिक जागृत नहीं जितनी कि शोषक वर्ग और उनके सहायकों में हो रही है। कारण यह कि वे शिक्षित हैं और साधनसंपन्न। कांग्रेस को जनमत से समाजवादी शक्ति बनाने के प्रयत्न कांग्रेस के विधान के अनुसार अवैधानिक बनते जा रहे हैं। जनमत पैदा करने के साधन सब पूँजीपतियों के हाथ में है। वे शोषित जनता के 'हाय-रोटी' कहने की संकीर्णता, स्वार्थ और श्रेणी-हिंसा कहते हैं और अपनी श्रेणी के अधिकार बढ़ाने के आंदोलन को 'हाय देश' कह उसे त्याग बताते हैं। यदि कांग्रेस आंदोलन में सहयोग दे पाने की शर्त ईश्वर में विश्वास होना हो सकती है तो फिर जनता को मूर्ख बनाया जा सकने की कोई सीमा नहीं।" यशपाल के इस कथन में यदि थोड़ा बहुत सत्य भी हो तो भी कला के अध्ययन से इसे व्यक्त करने में वे समर्थ नहीं हो सके हैं।

'देशद्रोही' की योजना बहुत ही श्रमसाध्य है। उसमें अपनी कोई गति नहीं। घटनाओं, परिस्थितियों एवं पात्रों सभी का नियंत्रण तथा परिचालन लेखक द्वारा ही होता है। लेखक का प्रभाव हमारे मन से क्षणमात्र के लिए भी नहीं हटने पाता। कथा का नायक है भगवानदास खन्ना। उसका व्यक्तित्व बड़ा ही निर्बल है। लेखक अपने मनोनुकूल उसे एक वातावरण से उठाकर नवीन वातावरण में रखता चला गया है। लेखक के इच्छानुसार खन्ना प्रत्येक वातावरण में ढलता चला गया है। वातावरण की उसके चरित्र पर जो प्रतिक्रिया दिखाई गई है वह अत्यंत क्षीण है। वातावरण निर्माण में भी उसके व्यक्तित्व का कोई हाथ नहीं। इस प्रकार पात्र, घटना एवं परिस्थिति सभी में एक प्रकार की कृत्रिमता सी प्रतीत होती है। इस उपन्यास के पात्रों को यदि कुछ स्वतंत्रता दी गई होती तो इसका अंत जिस रूप में हुआ है न होता।

इस उपन्यास में ६ प्रकरण हैं और प्रकरण के नामकरण में भी लेखक ने विशेषता लाने का प्रयास किया है। पहला प्रकरण है 'अजानी अँधेरी राह' इसमें खन्ना का वजीरियों द्वारा अपहरण, रास्ते के कष्ट एवं वजीरियों के बीच का जीवन वर्णित है। दूसरा प्रकरण 'समय का प्रवाह' है। इसमें भगवानदास का विद्यार्थी जीवन एवं शिवनाथ तथा बद्री बाबू के परिवर्तित राजनैतिक कार्यक्रम एवं खन्ना की वियोगिनी स्त्री राज का वर्णन है। 'बहिश्त की राह' में खन्ना का अब्दुल्ला सौदागर के यहाँ जाने का वर्णन है। 'त्याग की राह' में दिल्ली के राजनैतिक जीवन के बीच बद्री बाबू के कार्यक्रम का वर्णन है। यह प्रकरण अथ से इति तक व्यंगात्मक है। बद्री बाबू की ओर राज का आकर्षण भी इसी में वर्णित हैं। 'जीवन की चाह' में डाक्टर रूस ले जाया गया है और वहाँ के जीवन का थोड़ा दिग्दर्शन कराया गया है। 'ग्राम की राह' में भी बद्री बाबू का

व्यंगचित्रण है। इसमें बद्री एवं राज के विवाह का वर्णन है। 'घर की राह' में रूस से चलकर कानपुर डाक्टर के पहुँचने तक का वर्णन है। 'अपने की चाह में' कानपुर के राजनैतिक कार्यक्रम के बीच खन्ना एवं चंदा की घनिष्ठता का वर्णन है। अंतिम प्रकरण है 'देशद्रोही' जिसमें घायल होकर खन्ना चंदा के साथ रानीखेत जाता है और लौटती वेर राजाराम द्वारा रास्ते में अकेला छोड़ा जाकर मर जाता है। प्रथम छ प्रकरणों में लेखक ने डाक्टर खन्ना एवं बद्री बाबू के जीवन का तुलनात्मक चित्रण करने का प्रयास किया है। एक प्रकरण में डाक्टर का वर्णन देकर दूसरे में दिल्ली के शिवनाथ, बद्री बाबू एवं राज का वर्णन किया है। इस प्रणाली से लेखक का प्रयत्न चरित्रों को अधिक प्रभावशाली बनाने का रहा है। प्रकरण का नामकरण उपयुक्त हुआ है। शील-निरूपण के लिए साम्य, वैषम्य एवं व्यंग्य का सहारा लिया गया है।

व्यंग्य के विषय में यहाँ दो शब्द कह देना अनुपयुक्त न होगा। व्यंग्य का उपयोग योरोपीय उपन्यास-साहित्य में प्रचुरता से हुआ है और हो रहा है और किसी न किसी रूप में प्रायः सभी उपन्यासकार इसका प्रयोग करते हैं। इसका प्रधान उद्देश्य किसी न किसी प्रकार का सुधार होता है। लेखक की कुछ अपनी धारणाएँ होती हैं जिनके प्रकाश में लाकर वह सभी बातों को देखता है। जो बातें उसकी धारणाओं से मेल नहीं खातीं उन पर वह प्रहार कर के हल्की सिद्ध करने का प्रयत्न करता है और परोक्ष रूप से अपनी धारणाओं का प्रतिपादन करता है। तटस्थ एवं सहृदय कलाकार के हाथ पड़ यह व्यंग्य-परिपाटी बड़ी प्रभावपूर्ण सिद्ध होती है किंतु कभी-कभी लेखक सीमोल्लघंन कर जाता है और व्यक्तिगत रागद्वेष के कारण उसके व्यंग्य कठोर प्रहार हो जाते हैं। यशपाल ने बद्री बाबू को अपना लक्ष्य बनाया है। बद्री बाबू गांधीवादी विचारधारा एवं कार्यक्रम के प्रतीक

हैं। जिस रूप में उनका चित्रण किया गया है उससे वे और वह महान संस्था जिसका वे प्रतिनिधित्व करते हैं स्थान स्थान पर उपहासास्पद हो उठी है। फिर भी यह कहना ही पड़ेगा कि व्यंग्य-चित्रण में यशपाल को पर्याप्त सफलता मिली है।

उपन्यास में लेखक द्वारा वर्णन या कथन तथा पात्रों के संवाद ये दो अंग होते हैं। लेखक जितना ही अपने को अलग रखता है उसकी कृति उतनी ही कलापरक होती है। यशपाल ने अपने कथनों अथवा वर्णनों तथा पात्रों के संवादों दोनों को ही सिद्धांत-प्रतिपादन का माध्यम वनाया है। कहीं कहीं तो इस प्रवृत्ति के कारण लेखक विल्कुल इतिहासकार सा बन बैठा है और वे वर्णन अथवा संवाद नितांत नीरस हो उठे हैं। गांधीवाद, समाजवाद, साम्यवाद, आदि की व्याख्या के साथ साथ पिछले पाँच सात वर्षों का राजनीतिक इतिहास सा देने का प्रयत्न किया गया है।

देशकाल एवं व्यक्ति के भेद से मानव द्वारा निर्धारित मूल्यों में भी अंतर पड़ जाता है। किंतु कुछ स्थायी मानव-मूल्य ऐसे हैं जो कभी किसी अवस्था में परिवर्तित नहीं होते। इस तथ्य का यशपाल ने सफल साक्षात्कार किया है। जीवन के प्रति भारतीयों का जो दृष्टिकोण है वह वजीरियों का नहीं, जो वजीरियों का है वह रूसियों का नहीं। शिक्षा एवं वातावरण का हमारी धार्मिक तथा नैतिक भावनाओं पर वड़ा प्रवल प्रभाव होता है। अपने जीवन में निरंतर देखते देखते जिन रीतियों एवं विश्वासों को हम निर्विवाद सत्य समझ वैठते हैं उनका यथार्थ मूल्य कितना होता है इसका बड़ा ही सुंदर वर्णन वजीरियों एवं खन्ना के वर्णन में किया गया है।

यशपाल में उच्च कोटि की प्रतिभा है इसे इंकार नहीं किया जा सकता। कई दृष्टियों से देशद्रोही अनुपम है। केवल पुस्तकीय अनुभव एवं कल्पना के सहारे लेखक ने वजीरिस्तान एवं रूस के कुछ

प्रदेशों, वहाँ के व्यक्तियों, उनकी रीति-नीति, आचार-विचार, धार्मिक तथा सामाजिक भावनाओं आदि का बड़ा ब्योरेवार चित्रण किया है। वजीरियों का वर्णन विशेष रूप से आकर्षक है। वातावरण एवं प्रकृति को सजीव कर देने की यशपाल में पूर्ण क्षमता है। जहाँ कहीं लेखक राजनैतिक सिद्धांतों से ऊपर उठकर मानवीय भावनाओं के चित्रण में लगा है वहाँ पर्याप्त रसमयता आ गई है। स्त्रियों की चेष्टाओं, उनकी वेशभूषा, उनकी भावनाओं का जहाँ भी वर्णन हुआ है वह मनमोहक है। इस उपन्यास में स्त्रियों के कई प्रकार देखने को मिलते हैं। यद्यपि उनको पर्याप्त विकास स्वातंत्र्य नहीं मिला है फिर भी जितनी झलक मिलती है उसमें प्रभा है। 'राज' का चित्रण बहुत सफल कहा जा सकता है। उसके लिए लेखक काफी सहानुभूतिशील प्रतीत होता है। जितने भी परिवर्त्तन 'राज' के चरित्र में दिखाए गए हैं वे आकस्मिक नहीं हैं और उन सबका मनोवैज्ञानिक कारण भी है। अधिकांश पात्रों के मानसिक उथल-पुथल का चित्रण न करके उनके व्यवहारों का ही चित्रण मिलता है किंतु खन्ना का थोड़ा बहुत मानसिक विश्लेषण करने का प्रयास भी परिलक्षित होता है और उसमें लेखक सफल रहा है। बद्री बाबू का चित्रण जिस रूप में भी हुआ है सजीव है। सभी दृष्टियों से देखने पर लगता है कि यदि यशपाल हाथ धोकर साम्यवाद के प्रतिपादन में न लग जाते, उसे प्रधानता देकर कला को गौण स्थान दे देते तो 'देशद्रोही' अपने ढंग का बड़ा सुंदर उपन्यास होता।

श्री सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' उच्च कोटि के साहित्यकार हैं। कहानी-क्षेत्र में आपको पर्याप्त ख्याति मिल चुकी है।

अज्ञेय

'शेखर; एक जीवनी' उपन्यास के क्षेत्र में उनका एक नवीन प्रयोग है जो प्रकाशक की दृष्टि में "आनेवाले हिंदी उपन्यास के लिए प्रकाश-स्तंभ का कार्य संपन्न करेगा।" लेखक के अनुसार यह उनके दस वर्षों के परिश्रम का फल है।

वास्तव में यह उपन्यास बड़ा ही श्रमसाध्य (लेबर्ड) प्रतीत होता है। प्रथम दो भाग सरस्वती प्रेस से प्रकाशित हो चुके हैं, तीसरे की प्रतीक्षा है।

यह उपन्यास एक व्यक्ति के आत्मानुभूत जीवन-तथ्यों के अंकन का प्रयास है। यह व्यक्ति है 'शेखर' जो जीवन का अधिकांश जी चुकने के वाद जीवन पथ की घटनाओं का मूल्यांकन करने बैठा है। इस शेखर में अपनी वैयक्तिकता है और व्यक्तियों, वस्तुओं एवं घटनाओं को देखने की अपनी दृष्टि। उसकी बुद्धि इतनी जागरूक है कि संस्कारजन्य भावनाओं को वह अंतिम सत्य के रूप में कभी नहीं ग्रहण कर पाया। उसका अहं इतना प्रबल है कि प्रत्येक घटना को तर्क के प्रकाश में विश्लिष्ट करके ही आयत्त कर पाता है। दैनिक जीवन की छोटी से छोटी घटना उसके मानस में लहरियाँ उठा देती हैं और वह अंतर्मुख होकर उसके मूल सत्य के विश्लेषण का प्रयास करता है। तर्कशील होने के साथ साथ वह सहानुभूतिशील भी है और इस दूसरे गुण ने ही उसकी जीवनी को कुछ कलात्मक मूल्य दे रखा है।

'जीवनी' के पहले भाग में शेखर अपने वालजीवन की छोटी से छोटी घटनाओं की भी बड़ी सतर्कता से छानबीन करता है। ये घटनाएँ जिस रूप में चित्रित की गई हैं उसमें पर्याप्त सजीवता है। नवीन मनोविश्लेषण के सिद्धांतों ने वालमन की गति के विषय में हमें नवीन तथ्य दिए हैं। कलाकार का कर्तव्य है कि वह इन नवीन तथ्यों का भरपूर उपयोग करे यद्यपि इस उपयोग में पर्याप्त सतर्कता अपेक्षित है। शेखर के वाल्य-जीवन-वर्णन में स्थान स्थान पर इन तथ्यों का सफल प्रयोग मिलता है। एक उदाहरण देखिए—"और दूसरी स्मृति। वह अकेला अजायबघर में फिर रहा है, उस कमरे में जिसमें वन्य और हिंस्र पशु प्रदर्शित किए गए हैं। एकाएक ही वह

देखता है उसके सामने एक भीमकाय बाघ प्रकट हो गया है। एक पंजा झपटने के लिए उठा—भयंकर दाँत—वह जीभ—आरक्त आँखें और वह चीख उठता है, भय से विह्वल होकर···और भागता है···।

"वह बाघ केवल एक चर्म के अंदर भरा हुआ फूस है, यह बात बालक नहीं जानता। वह भागता है, उसे जान पड़ता है कि वह बाघ उसके पीछे चला आ रहा है, क्षण भर में उसे पा लेगा, वह घूमकर देखता भी नहीं क्योंकि वह उन दाँतों को, उस जीभ को, उन आँखोंको फिर नहीं देखना चाहता···।"

"और वह अकेला है, कोई उसका डर दूर करनेवाला नहीं है··· वह किसी तरह बाहर तक आ पाता है और सड़क पर भागता है। तभी एक चपरासी उसे पहचान कर पकड़ लेता है, गोद में उठा लेता है और वह अपने को भागने में असफल पाकर बड़े जोर से चीख उठता है कि अब वह बाघ झपटा—!"

"जो नहीं झपटता। काफी देर तक। तब शिशु डरते डरते घूस-कर देखता है, उसे वहाँ न पाकर आश्वासन की साँस लेता है···।'

"वह डर उस समय दब गया, किंतु उसने शिशु के मन में घर कर लिया। उस दिन के बाद उसे भयंकर स्वप्न आने लगे, रात को वह चीख-चीख उठता और कभी जागकर यदि पाता कि कमरे में अंधेरा है तब तो वह अंधकार एक नहीं, असंख्य बाघों से सजीव हो उठता, एक से एक खूँखार·····उस दिन से उसके कमरे में रात भर प्रकाश रहने लगा, किंतु किसी ने जाना नहीं कि उसे क्या हो गया है, क्यों उसे ऐसे भयंकर स्वप्न आने लगे हैं, क्यों वह दुबला और चिड़चिड़ा होता जा रहा है।"

"वह डर अपने आप ही मिटा। एक बार एक वैसा ही बाघ उसके घर लाकर रखा गया और बहुत मुश्किल से अपने भाइयों की देखादेखी वह उसके पास भी गया, उसकी पीठ पर भी बैठा और

उसे निर्जीव पाकर साहस करके उसके मुँह में हाथ डालकर भी देखा। तब डर यकायक उड़ गया, तब शिशु ने चाकू लेकर उस खाल को फाड़ डाला, उसके भीतर घास फूस को बिखेर कर हँसने लगा।"

"इसका एक और गहरा असर भी हुआ। शिशु ने जाना, डर डरने से होता है। संसार की सब वस्तुएँ हैं केवल एक घास-फूस से भरा निर्जीव चाम, जिससे डरना मूर्खता है।"

"और यही वह आज तक समझता है। यही उसका विश्वास अब भी है कि जब कभी कोई भयानक वस्तु देखो, तब डरो मत, उसका बाह्य चाम काट डालो, उसके भीतर भरी हुई घास-फूस निकालकर बिखरा दो और हँसो? इसने उसे उद्धत बनाया है, लोग कहते हैं विध्वंसक और हिंस्र भी बना दिया है पर वह जानता है..."

इसी तरह बाल शेखर की अनेक स्मृतियाँ इस जीवनी में अंकित हैं। प्रायः छ वर्ष की अवस्था तक लखनऊ में रहकर पिता की बदली हो जाने पर वह कश्मीर परिवार के साथ चला जाता है। कश्मीर-निवासकाल की छोटी छोटी स्मृतियाँ भी बुद्धि एवं भावना के नवीन प्रकाश में रँगकर चित्रित की गई हैं। बाल शेखर के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह अनौचित्य से किसी प्रकार समझौता नहीं कर पाता। मार-पीट, डाट-फटकार आदि उपाय उसके सामने तुच्छ सिद्ध हुए। जिस बात को वह अनुचित समझता है उसका जी जान से विरोध करता है। उसके चरित्र का दूसरा पक्ष यह है कि प्यार एवं सहानुभूति से वह वश में कर लिया जा सकता है। बड़ी बहिन सरस्वती के प्रति अत्यधिक आदर एवं मोह इसी वृत्ति का परिणाम है। बचपन के दिनों में उसके जीवन पर सबसे अधिक प्रभाव दो बालिकाओं का पड़ा। एक थी उसकी बहिन सरस्वती और दूसरी मुँहबोली मौसी की लड़की शशि। शशि का उसमें चारित्रिक विकास में बड़ा महत्त्वपूर्ण हाथ रहा।

कश्मीर से नौकरी के सिलसिले में ही पिता को सपरिवार दक्षिण जाना पड़ा। उस समय तक शेखर किशोर हो चला था। दक्षिण-निवास के भी उसके बहुत से संस्मरण अंकित किए गए हैं। यहाँ पर उसके जीवन पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा एक मद्रासी बालिका शारदा का। शारदा के संपर्क में ही उसने सर्वप्रथम स्त्री-पुरुष के नैसर्गिक आकर्षण का अनुभव किया किंतु वे मधुमय क्षण कुछ ही दिन रह सके और शारदा उससे एकाएक दूर चली गई। बहुत दिनों बाद जब वे मिले तो शारदा का प्रेम तो ज्यों-का-त्यों था किंतु उसपर माता-पिता का कठोर नियंत्रण था। प्रेम की यह विफलता शेखर की सांसारिक उन्नति के लिए पर्याप्त बाधक सिद्ध हुई थी। यहीं पर उसकी दो एक छात्र-मित्रों को अध्ययन करने का भी अवसर मिला। कुमार की कृतघ्नता उसके लिए एक बहुत बड़ा आघात था। अछूतों के प्रति वहाँवालों का अत्याचार देखकर शेखर ने अछूत बच्चों के लिए रात्रि पाठशाला चलाकर कुछ दिनों तक बड़े उत्साह से कार्य किया था। उसके बाद शारदा के प्रेम में निराश शेखर अपनी जन्मभूमि लाहौर की ओर चल पड़ता है।

जीवनी के दूसरे भाग में युवक शेखर के कालेज जीवन, जेल-जीवन तथा शशि के संबंध का वर्णन है। कालेज जीवन की स्मृतियाँ अधिक नहीं हैं क्योंकि अपनी अस्थिरता के कारण वह उस वातावरण में अधिक दिन रहा ही नहीं। जेल में कुछ कैदियों के जीवन का उस पर बड़ा असर पड़ा था इनमें मुख्य थे बाबा मदनसिंह तथा एक मुसलमान लड़का। जेल की यातना ने उसे और भी अंतर्दृष्टि प्रदान की। खेल मे ही उसे सूचना मिली कि शशि का उसकी मर्जी के विरुद्ध विवाह होने जा रहा है। इस सूचना से उसके भीतर विविध-भाव तरंगें उठीं जिनका विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। जेल से निकलने पर वह शशि के पतिगृह में गया और बराबर जाता

रहा। उसने अपने अनुभवों को लिखकर कुछ अर्जित करने का प्रयत्न किया किंतु प्रकाशकों की धूर्तता के कारण असफल रहा। शशि का उसके प्रति मोह पति के हृदय में संदेह का कारण बना और एक दिन जब शशि रात्रिभर शेखर की अस्वस्थता के कारण उसके घर रह गई तो पति ने उसे मारकर निकाल दिया तब से शेखर और शशि एक ही घर में भाई बहिन जैसे रहने लगे। शेखर के लिए शशि की भावनाओं एवं शशि के लिए शेखर की भावनाओं का बड़े विस्तार से चित्रण किया गया है। इसी तरह जीवन-यापन करते करते एक दिन दुःख से जर्जर शशि इस लोक को छोड़ जाती है और शेखर का जीवन शून्य हो जाता है। यहीं पर 'जीवनी' का द्वितीय भाग भी समाप्त हो जाता है।

कथावस्तु की दृष्टि से यह उपन्यास कुछ नहीं ठहरता। इसमें न तो कोई वस्तु है और न घटनाओं का तारतम्य। यह तो कोरी जीवनी है जिसमें एक कल्पित व्यक्ति के संस्मरण अंकित हैं। कथा की कोई निश्चित शृंखला न होने के कारण इसके द्वारा मनोरंजन भी नहीं हो पाता जो उपन्यास का एक प्रधान लक्ष्य है। अधिकांश लोग कहानी के आकर्षण के लिए उपन्यास पढ़ते हैं और विविध प्रकार के सजीव पात्रों एवं उनके क्रियाकलापों में मन रमा रहता है। सचाई और स्वाभाविकतापूर्वक जीवन का कोई पक्ष चित्रित करके ही उपन्यासकार अपनी सफलता मानता है। इस प्रकार के चित्रण में लेखक का जीवन-दर्शन भी परोक्ष रूप में पाठकों पर प्रतिभासित हो उठता है। जहाँ पर व्यक्तिगत दृष्टि को हृदयंगम कराना ही ध्येय हो जाता है वहाँ पाठक ऊबता सा जाता है। अज्ञेय के उपन्यास में वस्तुओं एवं घटनाओं के मूल्यांकन को जो भी मूल्य दिया जाय पर उपन्यास-कला की दृष्टि से इसका अधिक मूल्य नहीं ठहरता। पहला भाग तो शुद्ध संस्मरण है, दूसरे भाग में कथा कुछ सम्बद्ध है और इसलिए कहानी का मोह रखनेवाले प्रथम की अपेक्षा द्वितीय भाग को ही अधिक पसंद करते हैं।

शेखर की वर्णन प्रणाली भी नवीन है। जिस तरह कथा में
कोई गति नहीं उसी तरह वाक्य भी कुछ उखड़े उखड़े से प्रतीत होते
हैं। एक छोटे से अधूरे वाक्य के बाद बेड़ी पाई (—) या बहुत
से बिंदु (···) देकर लेखक बहुत सी अनभिव्यंजित बातों की ओर
संकेत करता है। किंतु ये ही साधारण पाठक के लिए उलझन
उपस्थित कर देते हैं। अंग्रेजी में सोचने के कारण विचार एवं भाषा
दोनों पर ही अंग्रेजियत की पूरी पूरी छाप है। बीच बीच में अंग्रेजी
के उद्धरण एवं शब्दों की भी भरमार है जिनका अनुवाद दे देने की
कृपा 'जीवनी' के प्रथम भाग के नवीन संस्करण में की गई है।

इस तरह हम देखते हैं कि 'शेखर; एक जीवनी' में केवल एक
नवीन प्रणाली का चमत्कार है जिसमें औपन्यासिकता का संपूर्णतः
अभाव है। इसे लेखक की जीवनी भी न समझनी चाहिए क्योंकि
लेखक ने स्वयं इस विषय पर प्रायः भूल कर जाने वाले हिंदी पाठक
को सावधान कर दिया है। लेखक ने भूमिका में बड़े विस्तार के साथ
इस जीवनी के उद्गम का इतिहास भी लिख दिया है। उनके अनु-
सार—"शेखर" घनीभूत वेदना की केवल एक रात में देखे हुए
(विजन) को शब्दबद्ध करने का प्रयत्न है। एक विशेष परि-
स्थिति में जेल की चहारदीवारी के भीतर लेखक को यह (विजन)
प्राप्त हुआ और उसने तीन सौ पृष्ठों में उसे शब्दबद्ध कर
डाला। वही पेन्सिल से लिखे हुए तीन एक सौ पन्ने 'शेखर; एक
जीवनी' की नीवँ हैं। प्रायः दस वर्षों से लेखक उस ढाचे में रूप भरता
रहा। लेखक के विचार से वेदना में एक शक्ति है जो दृष्टि देती है।
जो यातना में है वह द्रष्टा हो सकता है।' 'शेखर' बहुत ही संवेदन-
शील है। वेदना का अनुभव कर वह द्रष्टा बन बैठा है और अपने
जीवन-दर्शन को पाठक के मस्तिष्क में उतारने का सर्वत्र प्रयत्न करता
हुआ सा दीखता है। उपन्यास-पाठक यदि सर्वत्र, सब समय इस जीवन

दर्शन को निगलने की मनस्थिति में न हों तो लेखक उन्हें दोष नहीं दे सकता।

अन्य उपन्यासकार

श्री अवधनारायण कृत 'विमाता' उपन्यास पर्याप्त सफल रहा है। इसमें रघुनंदन नामक मातृहीन बालक की करुण कहानी अंकित है। विमाता द्वारा बालकों की क्लेश-कथा प्राचीन होते

अवधनारायण

हुए भी भारत की नवीन समस्या है। इस उपन्यास में रघुनंदन के विमाता के अत्याचार का बड़ा विशद वर्णन हुआ है। घटनाएँ एवं पात्र सभी सजीव हैं।

कविवर 'निराला' उच्च कोटि के प्रतिभासंपन्न साहित्यकार हैं। उनमें उपन्यास लिखने की प्रतिभा और कला दोनों ही पर्याप्त मात्रा में वर्तमान हैं। पहले उन्होंने 'अप्सरा' को

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

खूब सजा-सँवार कर साहित्य की खिड़की पर बैठाया, जिसके द्वारा कुछ लोगों के अनुसार प्रथम वार साहित्य के मुख पर प्रणय-हास मिला; परंतु लोगों की आँखों को भ्रम न हो सका। 'अप्सरा' के आवरण में भी लोगों ने अपनी चिर परिचित कोठेवाली को पहचान लिया और तदनुसार कुछ लोग उस पर रीझे और कुछ ने आँखें फेर लीं। इसके बाद 'निराला'जी 'अलका' को यह कहते हुए लेकर आए कि "जिन्होंने अप्सरा को देखकर मुझ पर आवाजें कसी थीं वे एक बार देखें कि उनके सम्राटों द्वारा अनधिकृत साहित्य की स्वर्गभूमि से मैंने कितने हीरे मोती उन्हें दान में दिए।" 'अलका' की अलकों में कितने हीरे मोती हैं, इसका जौहर तो साहित्यिक जौहरियों द्वारा ही खुलेगा परंतु यह अवश्य है कि यह उपन्यास अपनी त्रुटियों के होते हुए भी अच्छा बन पड़ा है। यह शुद्ध चरित्रप्रधान उपन्यास है। 'शोभा' जो बाद में

'अलका' नाम से विख्यात हुई इसकी नायिका है। पतिगृह जाने के पूर्व ही विवाहिता शोभा के माता-पिता का देहांत हो गया और तालुकेदार मुरलीधर ने उसे अपनी वासना का शिकार बनाना चाहा किंतु वह भाग निकली और एक बड़े सज्जन एवं शिक्षित वृद्ध के यहाँ उसे आश्रय मिला। वृद्ध उसे कन्या की भाँति शिक्षा देकर आत्मनिर्भरता के पथ पर अग्रसर करने लगे। इधर जब उसके पति विजय को उसका पता नहीं लगा तो वह एक गाँव में रहकर गाँवों को निःशुल्क शिक्षा देना एवं उनमें जाग्रति भरने लगा। किंतु इसी कारण से जमींदार ने उसे झूठी गवाही दिलवाकर जेल भिजवा दिया। जेल से निकलने पर वह कानपुर के मजदूरों के बीच सेवाकार्य करने लगा। इसी बीच उसका परिचय अलका से हो गया और दोनों एक दूसरे की ओर आकर्षित से जान पड़े। मुरलीधर यहाँ भी अलका के पीछे पड़ा और एक दिन जब वह मजदूरों की बस्ती से लौट रही थी उसे पकड़वा कर ले चला। अलका ने जो पहले से ही सतर्क थी उसे गोली का शिकार बना दिया। संयोग से यह पिस्तौल मुरलीधर की ही थी जिसे छल से एक लड़की ने उसी को दंड देने के लिए ले लिया था। अतएव पुलिस ने यह निश्चय किया कि मुरलीधर ने आत्महत्या की। विजय और शोभा का इस तरह फिर मिलन हो गया। इस उपन्यास में गाँव की जनता एवं उन पर किए गए अत्याचारों का वर्णन करने का प्रयत्न किया गया है। उपन्यास की भाषा बड़ी ही काव्यमय है। विशेष कर जहाँ स्त्रियों के रूप का वर्णन है वह बड़ा आकर्षक है। अलका के पात्रों में कोई विचित्रता नहीं है। विजय, अजित आदि एक से हैं। अलका, सावित्री एवं वीणा सभी में समान शील एवं सहृदयता है। 'निरुपमा', 'प्रभावती', 'कुल्लीभाँट', 'बिल्लेसुर बकरिहा' उनके अन्य उपन्यास हैं। 'चमेली' उपन्यास का एक परिच्छेद 'रूपाभ' में निकला था। 'प्रभावती' ऐतिहासिक उपन्यास है जो उस

कोटि के उपन्यासों की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। 'बिल्लेसुर बकरिहा' में गाँव का चित्रण अभिप्रेत है। 'निराला' जी ने बड़ी सहृदयता के साथ ग्राम-समाज का चित्रण किया है। बिल्लेसुर की कल्पना बड़ी सजीव हो उठी है। आर्थिक परिस्थियों के कारण गाओं का समाज कैसा जर्जर हो उठा यह उपन्यास इसका अच्छा चित्रण करता है।

'वरमाला' के यशस्वी लेखक पंडित गोविंदवल्लभ पंत ने भी 'मदारी', 'प्रतिमा' और 'जुलिया' उपन्यास लिखे हैं। पंतजी के उपन्यासों का आवरण बिल्कुल ही निराला होता है।

गोविंदवल्लभ पंत 'मदारी' उपन्यास केवल इने-गिने पात्रों का उपन्यास है परंतु पर्याप्त मनमोहक है। इसमें एक युवा मदारी को पर्वतीय उपत्यकाओं में अपनी झोली लिए हुए इधर से उधर भटकाते फिरे हैं और इस भ्रमण में ही उसके चरित्र को क्रमशः अनावृत करते गए हैं। 'बिना ताज के नवाब' का प्रेम बड़ा ही प्रकृत एवं प्रोज्ज्वल है। 'प्रतिमा' एक काल्पनिक कहानी पर आश्रित है। एक द्वीप के राजा को जलदस्युओं ने किस कौशल से बिना युद्ध हुए बंदी करके राज्य हस्तगत कर लिया और फिर किस प्रकार एक कलाकार के द्वारा वंदी राजा एवं राज्य का उद्धार हुआ इसी का चित्र अंकित है। 'जुलिया' एवं उसके प्रिय कलाकार का चित्र बड़ा मनमोहक है। जुलिया का वह 'झाँझर-नाव नदी मतवाली, मैं उस पार चलूँगी आली' का हार्प पर गाना और फिर वेदना लिए हुए समुद्र में विलीन हो जानेवाला दृश्य हृदय पर अमिट छाप छोड़ जाता है।

वाजपेयीजी ने 'प्रेम-पथ', 'लालिमा', 'पिपासा' आदि उपन्यास लिखे हैं और अच्छे लिखे हैं। 'प्रेम-पथ' में

भगवतीप्रसाद वाजपेयी वासना और कर्तव्य का बड़ा सुंदर अंतर्द्वंद्व दिखाया गया है। इसमें वासना नाना प्रकार के कपट-रूप धारण करती है—कभी दार्शनिक बन जाती है, कभी भक्ति के रूप में

नजर आती है परंतु है वह वासना ही। अंत में विजय का सेहरा कर्तव्य के ही माथे बँधता है। पतन के किनारे पर पहुँचकर सहसा 'तारा' का विवेक जाग पड़ता है और वह अपने 'जीजाजी' 'रमेश' को अच्छी फटकार बतलाती है। 'रमेश' की आँखें खुल जाती हैं और वह 'तारा' के चरणों पर गिर पड़ता है। 'पिपासा' में भी बड़े सुंदर ढंग से 'नरेंद्र', उसकी स्त्री 'शकुंतला' एवं मित्र 'कमलनयन' के हृदय की व्यथा का अंकन हुआ है। 'नरेंद्र' 'शकुंतला' को हृदय के स्तर स्तर से प्यार करता है। इधर 'शकुन' भी स्वामी को चाहती है, उनसे भक्ति करती है और अपने कर्तव्यों से अभिज्ञ है; परंतु उसका नारी-हृदय अपना सारा प्रेम मास्टर 'कमलनयन' के चरणों पर निछावर कर देता है। अंत में इस विषमता से उत्पन्न अशांति का अंत करने के लिए उसे आत्महत्या करनी पड़ती है। 'नरेंद्र' विक्षिप्त हो जाता है, 'कमलनयन' विमूढ़। वास्तव में हृदय के रहस्य का उद्घाटन करनेवाला वाजपेयीजी का यह उपन्यास बहुत सफल बन पड़ा है।

उपर्युक्त उपन्यासों के अतिरिक्त 'पतिता की साधना', 'दो बहनें', तथा 'निमन्त्रण' नामक उपन्यास भी वाजपेयीजी प्रकाशित करा चुके हैं। 'पतिता की साधना' में विधवा नंदा तथा उसके प्रेमी हरी की कहानी है। वाजपेयी ने इस उपन्यास में एक आदर्श का निर्वाह किया है। उन्होंने नंदा और हरी का सामीप्य वासना के आधार पर नहीं बल्कि साधना के आधार पर दिखलाने का प्रयत्न किया है। भावनाओं की कोमल अभिव्यक्ति स्थान स्थान पर मिलती है। 'दो बहनें' का विज्ञापन सबसे अधिक हुआ है। संभवतः लीडर प्रेस से निकलने के कारण। इसमें एक ही व्यक्ति की दो प्रेमिकाएँ हैं और दोनों बहनें हैं। लता और आशा दोनों ही ज्ञानप्रकाश को प्रेम करती हैं। लेखक ने इन दोनों के मानसिक उथल पुथल को दिखाने का सफल प्रयत्न किया है। यह उपन्यास फिल्म के लिए उपयोगी

सिद्ध हो सकता है। 'निमन्त्रण' वाजपेयीजी की नवीनतम कृति है और इसमें ये नवीन भूमि पर आते हुए दिखाई पड़ते हैं। पुस्तक की भूमिका में ही बड़े आत्मविश्वास के साथ आपने घोषणा की है कि अपने इस दसवें उपन्यास में जो कुछ लिखा है वह सब सच्चा और यथार्थ है। दसवें उपन्यास में आप यथार्थ भूमि पर आ सके इसके लिए बधाई। किंतु उनकी कृति के विषय में उनकी निजी आलोचना यदि सबको मान्य न हो तो वाजपेयीजी दोष नहीं दे सकते। अनेक प्रकार के पात्रों, परिस्थितियों एवं समस्याओं के चित्रण की महत्वाकांक्षा के कारण कथावस्तु में अन्विति का बिल्कुल अभाव हो गया है। इसमें घटनाएँ भी अधिक हैं तथा पात्र भी। किंतु दोनों का आपस में सामंजस्य नहीं हो पाया है। एक भी पात्र ऐसा नहीं जिसे विकास स्वातंत्र्य मिला हो। यहाँ तक कि प्रधान नेत्री मिस मालती का चरित्र भी पूर्ण नहीं कहा जा सकता।

'निमन्त्रण' में परंपरागत नैतिक एवं सामाजिक भावनाओं तथा पाश्चात्य सभ्यताजनित नवीन भावनाओं का संघर्षण चित्रित किया गया है और यौन संबंधी नाना सिद्धांत जो नवीन मनोविश्लेषण के फलस्वरूप योरप में फैले हैं उनके अधकचरा प्रतिपादन करने का असफल प्रयास मिलता है। लेखक क्या चाहता है यह कहीं स्पष्ट ही नहीं हो पाता। कला के माध्यम से किसी सिद्धांत को व्यक्त करने के पूर्व लेखक को उसे पूर्ण रूप से आयत्त कर लेना चाहिए। जहाँ कथा की योजना सिद्धांतों का प्रतिपादन करने के लिए की जाती है वहाँ कला की हत्या हो जाती है।

उपर्युक्त उपन्यासों के अध्ययन से पता लगता है कि वाजपेयी का प्रिय विषय एक मात्र प्रेम है। स्त्री एवं पुरुष का रूपाकर्षण, संमिलन की उत्कट अभिलाषा, अतृप्ति का ताप आदि वर्णन करने में वाजपेयीजी की वृत्ति अधिक रमती है। स्त्री के अंगों का ब्योरेवार

मनमोहक चित्रण इनके उपन्यासों में स्थल स्थल पर मिलता है। इनके उपन्यासों में मन भले ही रम जाय किंतु पूरा पूरा विश्वास नहीं जमता।

बिहार के श्रीयुत मंडलजी हमारे साहित्य के एक प्रगतिशील उपन्यासकार हैं। उनमें उच्च कोटि की विधायक एवं ग्राहक प्रतिभा है। किसी प्रचलित शैली का अनुकरण करने में वे अद्वितीय हैं। उनके उपन्यासों में प्रेमचंद्र, जैनेंद्र एवं 'उग्र' सभी मिल जायँगे। कुछ ही वर्षों के भीतर उन्होंने 'निर्वासित', 'समाज की वेदी पर', 'साकी', 'रूपरेखा', 'ज्योतिर्मयी', 'गरीबी के वे दिन', 'ज्वाला', 'वे अभागे', 'मीमांसा', 'अभिशाप' आदि उपन्यास प्रकाशित करा डाले। इनमें से कुछ के तो दो-दो तीन-तीन संस्करण निकल चुके हैं। इनकी सर्वप्रियता का यही प्रमाण है। 'मीमांसा' बिलकुल मनोवैज्ञानिक उपन्यास है। इसकी भाषा और शैली दोनों ही जैनेंद्र की भाषा-शैली की अनुगामिनी है। 'अरुणा' एक पतिता माँ की संतान है। उसकी सरल सुंदरता पर मोहित होकर 'विजय' उसे ब्याह लाता है। परंतु विजय को पाकर भी उसका हृदय अपने अतीत इतिहास का स्मरण करके बँधा बँधा सा ही रहता है। वह विजय को अत्यंत प्यार करती है परंतु फिर भी उसके सामने अपने को पूर्ण रूप से अनावृत नहीं कर सकती। इधर विजय उसको पूरी पाना चाहता है और बहुत प्रयत्न करके भी जब सफल नहीं होता तो उदासीन सा हो जाता है। मल्लिका' की ओर आकर्षण विजय की इसी उदासीनता का परिणाम है। अंत में जब अपने पति का प्रेम दूसरे पर देख अरुणा मरने मरने हो जाती है उसी समय मल्लिका की विवेक-बुद्धि जागती है, वह हट जाती है और विजय फिर से अरुणा की ओर झुकता है। अपने पति पर अपने रहस्य को उद्घाटित करके अरुणा हलकी हो जाती है और फिर उसके हृदय तक विजय की पैठ

अनूप लाल मंडल

हो जाती है। इस उपन्यास में विजय एवं अरुणा की आंतरिक ऊहा-पोह की सुंदर मीमांसा की गई है। 'समाज की वेदी पर' 'चंद हसीनों की खुतूत' की भाँति पत्रों के रूप में लिखा गया है। इसमें एक वेश्या-बालिका एवं एक प्रोफेसर साहब के प्रेम की अलौकिक कहानी वर्णित है। जनता के द्वारा इस उपन्यास का बहुत स्वागत हुआ है। इसकी कहानी बड़ी मार्मिक एवं मनोरंजक है। वर्णन का ढंग बहुत ही हरदिल अजीज है। कथोपकथन बड़े ही सरस और चुस्त हैं। 'ज्योतिर्मयी' उपन्यास में एक हिंदू परिवार की करुण कथा अंकित है। लेखक का हृदय परिवार की कहानी में पूरी तरह रमा हुआ है। इस उपन्यास के कथानक का प्रधान पुरुष-पात्र 'सुशील' है और प्रधान स्त्री-पात्र उसकी छोटी भाभी 'ज्योतिर्मयी'। सुशील की बड़ी भाभी की दुष्टता से इस परिवार में बड़ी अशांति हो जाती है। बड़ी भाभी अपनी देवरानी के बच्चे की हत्या कर डालती है। वह पागल हो जाती है। बड़े भाई योगी हो जाते हैं। इधर 'सुशील' 'उषा' के प्रेम में पड़कर उससे व्याह कर लेता है। अंत में 'उषा' की संपत्ति से एक मातृ-मंदिर की आयोजना होती है जहाँ छोटी भाभी, ज्योतिर्मयी, उषा तथा सुशील के प्रयत्नों से परिवार के अन्य सदस्य इकट्ठे होते हैं और दुखी, निराश्रिता स्त्रियों की सेवा में अपना जीवन अर्पण करने का संकल्प करते हैं।

इस उपन्यास में घटनाओं की प्रधानता हो गई है जिसके जंजाल में चरित्र खो से गए हैं। अधिकांश चरित्र अपरिवर्तनशील हैं। शैली में कोई नवीनता नहीं है। अंत में भी नाटकीय आकर्षण का अभाव है। पात्रों के बाह्य का ही अधिकतर चित्रण हुआ है, उनके मन में पैठने का प्रयत्न नहीं मिलता। उपन्यास का सारा सौंदर्य और आकर्षण घटनाओं की संघटना में ही है, पात्रों में बहुत कम। इससे जीवन के किसी गहन रहस्य का उद्घाटन भी नहीं हुआ है। फिर भी

लेखक का हृदय परिवार की कहानी में पूरी तरह रमा हुआ है। उपन्यास में अनुभूति की कमी है। कुछ चरित्रों का चित्रण भी सुंदर हुआ है। 'किशोरी', 'सुशील' एवं उसकी भाभी की लड़ाई भी बड़ी स्वाभाविक रीति से चित्रित की गई है। मंडलजी में उपन्यास लिखने की पूरी प्रतिभा है। इनसे अभी हमें बड़ी आशाएँ हैं।

श्री सर्वदानंद वर्मा में भी पर्याप्त औपन्यासिक प्रतिभा है। उनके अबतक कई उपन्यास निकल चुके हैं जैसे 'संस्मरण', 'नरमेध', 'रानी की डायरी', 'निकट की दूरी', 'प्रश्न', 'आनन्द-निकेतन' आदि। आधुनिक उपन्यासकारों की भाँति वर्मा में भी यह भावना बड़ी प्रबल है कि उन्होंने कुछ किया है। 'नरमेध' की 'भूमिका में उन्होंने स्वयं इस भावना का परिचय दिया है 'मुझे प्रसन्नता है, उपन्यासकार के रूप में हिन्दी संसार ने मुझे काफी आगे देखा। नए उपन्यास लेखकों में मुझे अग्रणी कहा गया, हिन्दी संसार ने जैनेंद्र, भगवती प्रसाद वाजपेयी और अज्ञेय के साथ आधुनिक युग के सर्वश्रेष्ठ तीन उपन्यास लेखकों में एक मेरा भी नाम लिया। यह बहुत बड़ा सम्मान है। एक उपन्यास के बल पर इतनी प्रसिद्धि कम ही लोगों को मिल पाती है।'' इतना लिख चुकने के उपरांत उन्हें यह भी कहना आवश्यक हुआ कि "उपन्यास-लेखन का क ख ग भी मुझे नहीं आता।"

सर्वदानंद वर्मा

'नरमेध' साधारणतः अच्छा उपन्यास है। इसमें दो विवाहित नारियों के पतन की कहानी है। दोनों को पतिता बनानेवाला एक व्यक्ति है 'अनूप'। 'उर्म्मिला' 'अनूप' के मित्र की पत्नी है और 'ज्योति' उसकी विमाता। यद्यपि 'ज्योति' के साथ उसने जो कुछ किया, अनजान में ही किया किंतु उससे अपराध की गुरुता कम न हो सकी। वर्मा जी ने अपने पात्रों के विषय में लिखा है "लगभग मेरी हर चीज में चरित्र विवाहित है। उन्हीं के सुख-दुख आशा-

निराशा को लेकर मेरे महल खड़े हुए हैं। कारण है कि विवाहित कहे जानेवाले स्त्री-पुरुषों के हृदय का पता मुझे बहुत है। विवाहित दम्पतियों का आत्महनन मैंने बहुत देखा है, सभी जानते हैं। बस, कहने का साहस किसी में नहीं, न कोई सुना ही चाहता है।" इस प्रकार साहस करके वर्माजी ने स्त्री-स्वातंत्र्य का बीड़ा उठाया है। यह जानते हुए भी कि उसकी स्त्री उर्मिला का अनूप से अवैध संबंध हो गया है देवेंद्र उसे माफ कर देता है क्योंकि वह स्त्री की स्वतंत्रता का पक्षपाती है।

वर्मा के चरित्र-चित्रण में स्वाभाविकता होती है। उनके पात्रों में एक प्रकार की क्रांति की भावना वर्तमान रहती है। वे न्याय और सत्य के लिए संघर्ष करने को प्रस्तुत रहते हैं। उनके सभी उपन्यासों में एक पारिवारिक अनुरूपता सी मिलती है। सभी प्रायः अच्छे बन पड़े हैं।

वंग-साहित्य की संपूर्ण सुकुमारता लेकर उषादेवी हिंदी-उपन्यास साहित्य की ओर आईं और नारी की भावनाओं का बड़ा ही सजीव एवं कोमल चित्रण किया। आपकी छोटी कहानियाँ पर्याप्त ख्याति पा चुकी हैं। आपके उपन्यास—'वचन का मोल', 'पिया !' 'जीवन की मुस्कान' और 'पथचारी'—भी बड़े सुंदर बन पड़े हैं।

उषादेवी मित्रा

प्रायः इन सभी उपन्यासों में नारी-जीवन की किसी न किसी समस्या का चित्रण है। 'वचन का मोल' की नायिका है 'कजरी'। इसमें हमें नारी के समस्त गुण मिल जाते हैं। प्रेम, दया, माया, ममता, करुणा आदि प्रायः सभी भावों की प्रतिमूर्ति यह 'कजरी' है। उसमें प्रेम की वेदना है किंतु वह कर्तव्य ज्ञान से संयत है। देश-सेवा की ओर उसका झुकाव नारी की सेवा-भावना की भित्ति पर ही आश्रित है। भारतीय एवं पाश्चात्य संस्कृति का संघर्ष भी जगह जगह पर

परिलक्षित होता है। पाश्चात्य वातावरण में पली 'मनिका का भारतीय गृहणीत्व का अपनाना भारतीय सभ्यता की पाश्चात्य सभ्यता पर विजय घोषणा है।'

'पिया' की कथानायिका की समस्या बड़ी विषम है किंतु आज-दिन यह समस्या प्रायः देखने में आती है। वह एक विवाहित पुरुष से प्रेम करने लगती है किंतु विवाहित होने के कारण जब उससे विवाह करने की असमर्थता दिखलाता है तो वह देशसेवा की ओर उन्मुख होती है और इस प्रकार अपने प्रेम के आदर्श का निर्वाह करती है।

'जीवन की मुस्कान' उपन्यास भी बड़ा सुंदर बन पड़ा है। इसकी नायिका सविता का चरित्र निराला है। वह भावना में जीती है और उसी में तृप्ति पाती है। वह "निर्झर की गति जैसी सरल, भैरवी की मूर्छना जैसी स्वप्नातुर, राधा के ध्यान जैसी अपनी सत्ता बिसरी-लुटी सी है। बचपन में ही उसकी सगाई कमलेश से हो जाती है किंतु कमलेश के पिता की मृत्यु के कारण उसका विवाह न हो सका। कमलेश ने दूसरी जगह ब्याह कर लिया किंतु सविता प्राचीन भारतीय आदर्शों को माननेवाली है। एक बार वाक्‌दत्ता होकर वह दूसरे की होना पाप समझती है। ब्याह करने से वह इनकार कर देती है। जब कमलेश को उसकी भावनाओं का हाल विदित होता है तो वह उसकी ओर उन्मुख होता है किंतु वह तीर्थयात्रा को चली जाती है।

उषादेवी के सभी उपन्यासों में एक सी ही भावना कार्य करती दिखलाई पड़ती है। इनकी सभी नायिकाएँ रूढ़ियों से सताई हुई स्वयं में बड़ी करुण हैं। बीच बीच में इन रूढ़ियों के प्रति लेखिका ने बड़े तीव्र व्यंग भी किए हैं।

वर्णन-प्रणाली साधारण एवं बंग-उपन्यासकारों की परिपाटी पर है।

इलाचंद्र जोशी की भाँति मनोविश्लेषण के सिद्धांतों के प्रतिपादन का हौसला लेकर अभी हाल में नरोत्तम प्रसाद उपन्यास क्षेत्र में आए हैं। 'दिन के तारे' नामक उपन्यास में

नरोत्तमप्रसाद नागर

उन्होंने एक असाधारण मनुष्य 'शशि' की कल्पना की है। 'शशि' के अंतर्मन में बहुत सी गुत्थियाँ पड़ी हुई हैं जिन्होंने उसके व्यक्तित्व को बिलकुल आक्रांत कर रखा है। उसका स्वाभाविक विकास नहीं हो पाता। अपने चारों ओर की परिस्थितियों की विषमता के कारण वह बिलकुल विक्षिप्त सा हो उठता है। उपन्यास में न तो कोई योजना है और न अन्विति। वर्णन का ढंग भी निराला है। नागरजी ने स्वीकार किया है कि "जहाँ प्रेमचंद 'एक्शन' का चित्रण कर सके थे वहाँ इन पंक्तियों के लेखक ने 'इन एक्शन' का चित्रण किया है।" प्रयोग की दृष्टि से उपन्यास ठीक है। आशा है अपने दूसरे उपन्यास में नागरजी अपने सिद्धांतों से अधिक तदाकार होकर कला के द्वारा अभिव्यंजित करेंगे।

उपर्युक्त उपन्यासकारों के अतिरिक्त और भी नए नए उपन्यासकार इस क्षेत्र में आए हैं और साहित्य की यह शाखा दिनोंदिन विकास कर रही है। कुटुंबप्यारीदेवी अच्छी लेखिकाओं में हैं। उनका 'हृदय का ताप' नामक उपन्यास पर्याप्त ख्याति पा चुका है। इसमें भावनाओं की तीव्रता का अच्छा वर्णन हुआ है। श्रीयुत राहुल सांकृत्यायन से हिंदी-पाठक परिचित ही हैं। उन्होंने साहित्य एवं राजनीति सभी क्षेत्रों में हाथ-पैर मारने का प्रयत्न किया है। आपकी प्रतिभा बहुमुखी है। उपन्यासक्षेत्र में भी वे किसी से पीछे नहीं हैं। 'भागो नहीं बदलो', 'जादू का मुल्क', 'जीने के लिए', 'सोने का ढाल', 'सिंह सेनापति'; 'शैतान की आँखें' आदि बहुत से उपन्यास आपने लिख डाले हैं।

इनके विषय भी विविध हैं। कुछ राजनीतिक, कुछ ऐतिहासिक तथा कुछ सामाजिक। इनमें से कुछ उपन्यास साधारणतया अच्छे बन पड़े हैं। 'श्री उपेंद्रनाथ अश्क' एक प्रगतिशील साहित्यकार हैं। आपका 'सितारों के खेल' नामक उपन्यास अच्छा है। श्री पहाड़ी ने 'सरायँ' तथा 'चलचित्र' नामक उपन्यास लिखे हैं। श्रीदेवनारायण द्विवेदी के 'दहेज' एवं 'पश्चात्ताप' नामक उपन्यास मेरे देखने में आए हैं। हिंदी के कवि अंचलजी की भी एक उपन्यास-पुस्तक हाल ही में प्रकाशित हुई है।

उपसंहार

हम कह आए हैं कि उपन्यास साहित्यिक अभिव्यंजना का सबसे स्वतंत्र साधन है। जीवन की यथार्थता से ही वह प्रेरणा पाता है और उसी के कलात्मक अंकन में परितृप्ति मानता है। जीवन परिवर्तनशील है। इस परिवर्तन को ग्रहण करते चलना ही उपन्यास की प्रगतिशीलता है। कहा जा सकता है कि मानव की मूलभूत भावनाएँ—क्रोध, करुणा, प्रेम आदि— देश-काल के बंधन से स्वतंत्र एक गति से अभिव्यक्त होती हैं। ठीक। किंतु जिन परिस्थितियों में ये भावनाएँ प्रकट होती हैं वे परिस्थितियाँ परिवर्तनशील हैं। मानव स्वभाव के मूल में एकलयता होते हुए भी जिन वातावरणों में मानव पलता है उनमें पर्याप्त अनेकरूपता होती है। उपन्यास मानव-स्वभाव पर परिस्थितियों की प्रतिक्रिया के अंकन का प्रयास है। सन् १६१४ के महायुद्ध के बाद से संसार की जीवन-विधि एवं विचारधारा में महान क्रांति हुई। भूतवादी योरोपीय सभ्यता ने वस्तुओं के मूल्यांकन की नवीन दृष्टि से एवं जीवन के स्तर स्तर में प्रवेश कर जीने की रीति में भारी अंतर डाल दिया। धार्मिक, सामाजिक, नैतिक, राजनैतिक रूढ़ियों की कायापलट सी हो गई। यद्यपि यह क्रांति संसार के सभी देशों में हुई किंतु परिणाम में भिन्नता रही। पाश्चात्य देशों में जितने तीव्र वेग से परिवर्तन हुए उतने वेग से भारत या चीन आदि पूर्वी प्रदेशों में नहीं। इस क्रांति का प्रभाव पाश्चात्य उपन्यास-वाङ्मय पर स्पष्ट लक्षित होता है। भारत की जनता दो स्पष्ट भागों में विभाजित है। अधिकांश जनसंख्या गाँवों की है अल्पांश नगरों की। नगरों में भी कई स्तर हैं जिनमें आपस में बड़ा अंतर है। कल-

कारखानों में काम करनेवाले श्रमिक, दफ्तरों में काम करनेवाले थोड़े पढ़े-लिखे बाबू लोग, अंगरेजी सभ्यता की नकल करनेवाले अफसर, कालेज के विद्यार्थी एवं मास्टर-प्रोफेसर तथा गद्दी को सुशोभित करनेवाले धनिक। गाँवों की जनता पर नवीन जागर्ति का अत्यल्प प्रभाव पड़ा है। उनके जीवन में कुछ सुविधाएँ अवश्य मिल गई हैं किंतु उनका संसार एक विचित्र अज्ञान-पारावार से परिवेष्टित है। उनकी धार्मिक, सामाजिक एवं नैतिक धारणाएँ आज भी वैसी ही हैं जैसी पाँच सौ वर्ष पूर्व थीं। कांग्रेस के प्रयत्न से अपने अधिकारों के प्रति कुछ चेतना अवश्य आई है किंतु परिस्थितियों के कारण उनकी अभिव्यंजना नहीं हो पाती। इस सभ्यता के युग में भी पुलिस का, अफसरों का, जमींदारों और साहूकारों का आतंक ज्यों का त्यों बना हुआ है। व्यक्तिगत सदाचार का लोप हो जाने पर भी सामाजिक सदाचार की भावना भूत की तरह गर्दन पर सवार रहती है। छुआछूत, धर्म-कर्म आदि का अब भी बोलबाला है। नगरों में अपेक्षाकृत अधिक चेतना है। नगर के श्रमिक किसानों की अपेक्षा स्वाधिकारों के प्रति अधिक जागरूक हैं, किंतु धार्मिक एवं सामाजिक रूढ़ियाँ ज्यों की त्यों हैं। यही दशा मध्यवर्ती पढ़े-लिखे लोगों की है किंतु इनके साथ विडंबना यह है कि बहुत सी बातों के थोथेपन को जानते हुए भी परंपरा का निर्वाह करते जा रहे हैं। शहरों में सुधारकों का एक आंदोलन चल रहा है जिसमें दहेज, विधवा-विवाह, छुआछूत आदि की समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न हो रहा है किंतु इस आंदोलन का प्रभाव पढ़े-लिखे कुछ उच्च वर्गीय लोगों तक ही रह गया है। स्त्री-शिक्षा एवं सहशिक्षा के कारण कुछ स्त्रियाँ पुरुषों से स्वतंत्रतापूर्वक मिलने लगी हैं। परिणामस्वरूप नई-नई समस्याएँ भी उठ खड़ी हुई हैं। पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से स्त्री-पुरुष के संबंध को रूढ़ियों से मुक्त करके अधिक उदारतापूर्वक देखने

का एक क्षीण आंदोलन भी चल रहा है। सभी क्षेत्रों में स्त्री के समान अधिकारों की माँग होने लगी है। प्रेम-विवाह (लव मैरेज) विधवा-विवाह, अंतर्जातीय विवाह, सिविल-विवाह (सिविल मैरेज) आदि के छिटपुट निदर्शन होने लगे हैं। पति-पत्नी-संबंध-विच्छेद के समाचार भी कभी कभी मिल जाते हैं। इन सबका पर्याप्त प्रभाव हमारे उपन्यास-वाङ्मय पर पड़ा है परंतु जिस रूप में पड़ना चाहिए था उस रूप में नहीं पड़ा।

प्रेमचंद को भारतीय समाज के सभी स्तरों का अनुभव था विशेषतया गाँवों के संबंध में उनका ज्ञान बहुत ही खरा था। रूढ़ियों से उत्पन्न विषमता एवं उसके विरुद्ध नवीन भावनाओं की लहर से वे पूर्ण अवगत थे किंतु उनमें ऐसी सामंजस्य-बुद्धि थी कि वे प्राचीनता और नवीनता दोनों में सामंजस्य स्थापित कर सके। नवीन विचार-धाराओं में कितनी भारतीय भूमि के अनुकूल हैं और किस परिमाण में उसे वे जानते थे। उन्होंने इसे भी लक्ष्य किया था कि भारत का असली स्वरूप देहातों में देखा जा सकता है। इसीलिए उनके उपन्यासों में देहात का अधिक वर्णन है। किंतु उनके बाद बहुत कम लेखकों ने इस तथ्य की ओर ध्यान दिया। प्रेमचंद के देहता-वर्णन में यद्यपि पर्याप्त यथार्थता है किंतु एक दृष्टि से वह भी रूढ़िग्रस्त है। उन्होंने गाँवों के उन सामाजिक, धार्मिक एवं नैतिक पक्षों का उद्घाटन किया जो बिलकुल सतह पर है। इसी कारण इनके उपन्यास सुधारवादी से लगते हैं। प्रसाद की 'तितली' में कुछ काल्पनिकता का पुट अधिक आ गया है। वृंदावनलाल ने अपने सामाजिक उपन्यासों में अधिकांश गाँव में घटित होनेवाले 'रोमांसों' का ही वर्णन किया है। सियारामशरण गुप्त ने ग्राम्य-जीवन-चित्रण में एक नवीन दिशा की ओर संकेत किया है। 'नारी', 'गोद' एवं 'अंतिम आकांक्षा' तीनों में ही देहात के जीवन को एक नवीन दृष्टि से देखने का प्रयत्न मिलता

है। यद्यपि उनके पात्रों का समाज में बड़ा गौण स्थान है किंतु वे हिंदू सभ्यता के कुछ आधारभूत लक्षणों के प्रतिरूप हैं और यह ऐसा स्रोत है जिसके सूख जाने की कोई आशंका नहीं। अभी तक इस प्रकार के दूसरे प्रयत्न नहीं दिखाई पड़े जिसमें सिद्धांतों से मुक्त होकर लेखक केवल जीवन को चित्रित करे। ऋषभचरण जैन ने जो दो एक उपन्यास ग्राम-संबंधी लिखे हैं उनमें प्रेमचंद द्वारा प्रवर्तित मार्ग का ही अवलंबन मिलता है। श्रीनाथ सिंह का 'जागरण' भी सत्याग्रह-आंदोलन को ही लेकर चला है जो सतह पर ही लहराता सा लगता है। इनके अतिरिक्त बहुत कम लेखकों ने गाँवों के जीवन को अपनाने का प्रयत्न किया है। इस कमी के कारण ही हम आज के उपन्यास साहित्य को प्रतिनिधि साहित्य कहने से हिचकते हैं। सच्चे भारत का दर्शन गाँवों में किया जा सकता है। परिस्थितियों ने यद्यपि वहाँ की सुख शांति का हरण कर लिया है किंतु हिंदू सभ्यता के कुछ आधार-भूत लक्षण अब भी वर्तमान हैं। प्रेमचंद ने इस बात को लक्ष्य किया था किंतु उनके सामने इतनी समस्याएँ थीं कि वे वर्ग से हटकर व्यक्ति तक जा ही न सके। कवि सियारामशरण ने व्यक्ति की ओर भी दृष्टि डाली किंतु अन्य उपन्यासकार अधिकांश उस ओर से उदासीन ही रहे।

हिंदी उपन्यासों में स्त्री-पुरुष के प्रेमसंबंध की कहानी ही प्रचुरता से मिलती है। बहुत दिनों तक अबला रहने के उपरांत पश्चिम की स्त्री सबला होने का प्रयत्न कर रही है। सभी क्षेत्रों में समानता का दावा किया गया है। पुरुष उनके प्रति अधिक उदार बनने का प्रयत्न कर रहा है। भारत में सतीत्व को बड़ी मर्यादा प्राप्त है। पति स्त्री का देवता होता है। इस भावना को इतना तूल दिया गया कि 'वृद्ध रोगवश जड़ धनहीना' पति का अपमान करनेवाली स्त्री को भी 'जमपुर' के 'नाना दुख' की धमकी दी गई। भारतीय विधवा के यातनामय जीवन के मूल में यही भावना है। इधर प्रकृति की प्रेरणा उधर मनुष्यकृत

कठोर नियम। स्थिति विषम हो उठी। स्वभाव को पाप घोषित करके घोरतर पाप की प्रेरणा मिली। अब परिवर्तन आरंभ हुआ है जो बिलकुल दूसरे छोर पर जाना चाहता है। कहा जाने लगा कि 'मैथुन' तो 'आहार' एवं 'निद्रा' की भाँति एक मूल प्रवृत्ति है और जब आहार एवं निद्रा में कोई पाप नहीं तो इसी को क्यों पाप समझा जाय। इस दृष्टि से कुमारियों एवं विधवाओं को खुलकर प्रेम करने की स्वतंत्रता तो मिल ही गई विवाहित स्त्रियों का परपुरुषों के साथ अवैध संबंध भी अनुचित नहीं रहा। कम्यूनिज्म के प्रचार से इस भावना को और भी उत्तेजना मिली। शिक्षित समाज में उपर्युक्त भावनाओं के छिटफुट निदर्शन भी मिलने लगे। परिणामस्वरूप हिंदी उपन्यासों में सफल एवं निष्फल तथा वैध एवं अवैध प्रेमकथाओं की ही भरमार हो गई। इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि पाठकों का सबसे अधिक मनोरंजन इस प्रकार की कथाओं से ही होता है किंतु इस प्रकार के स्वतंत्र प्रेम का भारत में क्षेत्र कितना है? माना कि अपने परिमित क्षेत्र में प्रेम की ये समस्याएँ यथार्थ हैं किंतु जीवन के अन्य पक्षों की ओर से आँख मूँदकर केवल एक पक्ष के विवरण में ही क्या साहित्य की सिद्धि है? कला जीवन के लिए है यह बात निर्विवाद सी हो चली है। कलाकार की दृष्टि केवल मनोरंजन पर ही न रह कर मानव-मंगल पर भी रहनी चाहिए। विवाहित स्त्री का परपुरुष से अवैध संबंध सत्य हो सकता है किंतु समाज की सुख-शांति के लिए वांछित कदापि नहीं इसे 'नरमेध' के लेखक भी अस्वीकार नहीं कर सकते। अपवादों को छोड़ दें तो हम देखेंगे कि भारत में पत्नीत्व की भावना सर्वत्र एक सी है। स्त्री-पुरुष की सुख-शांति के लिए यह भावना निर्विवाद सिद्ध हो चुकी है। सभी देशों की कुछ सांस्कृतिक परंपराएँ होती हैं। कलाकार का कर्तव्य है कि न तो उन्हें आँख मूँदकर ज्यों का त्यों ग्रहण कर ले और न उनका संपूर्ण

तिरस्कार ही कर दें। बल्कि नवीन परिस्थितियों के प्रकाश में उन्हें देखें। यही साहित्य एवं सभ्यता के विकास की वास्तविक प्रक्रिया है। इसके विपरीत उत्तेजना को ही प्रेरणा मान कर समाज की नींव खोदने से किसी भी स्थायी तथ्य की उपलब्धि न हो सकेगी।

राजनीति के क्षेत्र में इधर भारतवर्ष में पर्याप्त उथल-पुथल रही है। जनता में एक नवीन चेतना आ गई है जिसका प्रधान श्रेय कांग्रेस को है। प्रेमचंदजी ने अपने उपन्यासों में इस आंदोलन को चित्रित करने का प्रयत्न किया और बहुत कुछ सफल रहे किंतु उनके बाद इस क्षेत्र में जितने प्रयत्न हुए उनमें कलात्मक निःसंगता नहीं मिलती। पहले तो ऐसे प्रयत्न हुए ही बहुत कम, जो हुए भी उनमें लेखक विचारक सा बना बैठा है। नवीन राजनीतिक भावनाओं की समाज एवं व्यक्ति पर क्या प्रतिक्रिया हुई इसके चित्रण की अपेक्षा एक विशेष दृष्टिकोण से राजनीतिक सिद्धांतों के वर्णन की चेष्टा ही प्रबल दिखाई पड़ती है यशपाल एक उच्च कोटि के प्रतिभासंपन्न साहित्यकार हैं किंतु उनके अपने राजनीतिक विचार इतने प्रबल हैं कि अपनी कृतियों में वे अपने को अलग नहीं रख पाते। यही कारण है कि 'देशद्रोही' एक उच्च कोटि का उपन्यास न हो सका।

वर्तमान युग एक विशेष हलचल का युग है। सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक सभी क्षेत्रों में एक अस्थिरता सी आ गई है। प्राचीन के प्रति विश्वास डिगने सा लगा है किंतु नवीन में कितना सत्य है किसे अपनाया जाय यह भी स्थिर नहीं हो सका है। इस तरह भारत की एक विचित्र स्थिति हो रही है। एक ओर तो गाँवों एवं नगरों की वह अपढ़ जनता जिनके विश्वास अब भी पाँच सौ वर्ष पुराने हैं और दूसरी ओर यह शिक्षित समुदाय जो प्राचीनता के प्रति अविश्वासी होकर भी नवीनता को पूर्ण रूप से ग्रहण नहीं कर सका है। उपन्यासकार का कर्तव्य है कि वह इन परिस्थितियों का अध्ययन करे

एवं उत्तेजनाहीन होकर उनका जन-मन-रंजक चित्रण करे। मानव चरित्र बड़ा दुरूह होता है। मानव-मन का प्रवाह कब किस दिशा में जायगा कहा नहीं जा सकता। जो साहित्यकार इन व्यक्तिगत विचित्रताओं को सजीवता के साथ प्रत्यक्ष कर सकेगा वही सफल होगा।

प्रायः यह कहा जाता है कि युग-विशेष के श्रेष्ठ कलाकार अपने युग से आगे रहते हैं। इसमें बिलकुल अत्युक्ति नहीं। किंतु श्रेष्ठ लेखकों से तात्पर्य प्रायः श्रेष्ठ कवियों, श्रेष्ठ दार्शनिक तथा श्रेष्ठ वैज्ञानिकों से होता है—न कि कथाकारों से। उपन्यासकार की कला ही ऐसी है जो उसे वर्तमान के साथ ऐसे दृढ़ बंधनों से बाँध रखती है जिनसे अन्य लेखक स्वतंत्र हैं। सर्वप्रथम वह निरीक्षक है तदुपरांत लेखक। उसे केवल संसार में रहना ही नहीं है बल्कि संसार का होकर रहना है। अन्यथा वह उस सहानुभूति एवं मतैक्य को कैसे प्राप्त कर सकेगा जिसके बिना उसकी सारी कला व्यर्थ है। यदि उसके विचार समसामयिकों से बहुत आगे हैं, यदि उसकी संवेदना अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक तीव्र है और यदि वह रूढ़ियों को तोड़ डालता है तो वह चाहे कवि, दार्शनिक, रहस्यवादी, क्रांतिकारी जो हो जाय किंतु उपन्यासकार न रहेगा। उदाहरणस्वरूप 'अज्ञेय' लिए जा सकते हैं। किंतु यदि—जैसा कि प्रायः हुआ करता है—वह अपने समय का ही होकर रहता है तो समसामयिक भाव एवं विचार ही उसकी कृति के आध्यात्मिक गुणों का निर्णय करेंगे।

यदि उपन्यासकार की कृति को केवल मनोरंजक न होकर इसके ऊपर उठना है तो आवश्यक है कि वह बहुत ही सबल एवं व्यापक विश्वासों का व्यक्ति हो। उसके लिए इतना ही पर्याप्त नहीं कि उसके मस्तिष्क के द्वार प्रवहमान युगीन विचारों के लिए उन्मुक्त हों वरन् उसे इन अव्यवस्थित विचारों को इस प्रकार नियोजित करना चाहिए

कि उनके द्वारा जगत के प्रति एक नित्य एवं स्थायी दृष्टिकोण प्रतिभासित हों और यह दृष्टिकोण ऐसा हो जिसका अनुभव पाठक उस कृति से स्वयं कर सके। यही उपन्यासकार का जीवन-दर्शन है जिसमें इसका अभाव है उसकी सरलतापूर्वक उपेक्षा की जा सकती है। यह आवश्यक नहीं कि यह जीवन-दर्शन परंपरित हो। 'गोदान' में जिस जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति है वह प्रेमचंद के अन्य उपन्यासों में नहीं। अन्य उपन्यासों में ईश्वरीय न्याय की महत्ता प्रतिपादित की गई है, किंतु गोदान के अनुसार संसार दुःखांत है जिसका परिचालन ऐसी शक्तियों द्वारा होता है जो मानवीय अभिलाषाओं एवं रागों, मनोवेगों के प्रति बिलकुल उदासीन होती हैं। बाबू सियारामशरण की 'नारी' का जीवन-दर्शन भी कुछ इसी प्रकार का है। मनुष्य का कर्तव्य जगत का परिचालन करनेवाली यांत्रिक शक्तियों के उत्पातों का सहन एवं सामना करना मात्र है। केवल इसी प्रकार वह अपने सत्य, न्याय, दया, आदर आदि के आदर्शों की स्वीकृति दे सकता है। जिन शक्तियों का सामना करने को वह कटिबद्ध होता है वे उससे सबल हैं और अंत में वे उसे तोड़ डालती हैं, शत्रुता अथवा किसी उद्देश्य से नहीं, वरन् अनजान में ही यंत्रवत्। इस प्रकार परोक्ष सत्ता अनजान रूप में सतत क्रियमाण रहती है। किंतु ध्यान रखना चाहिए कि उपर्युक्त दोनों ही उपन्यासकारों ने परोक्षसत्ता पर बल नहीं दिया है वरन् उस सत्ता द्वारा प्रपीड़ित मानव पर ही उनकी दृष्टि रही है। विश्वासपूर्ण एवं सहनशील मानव किसी भगवान के द्वारा बिलकुल ही विफल-प्रयत्न क्यों न कर दिया जाय किंतु अपनी विफलता में ही वह इतना संमाननीय पद प्राप्त कर लेता है जिसकी छाया को भी वह अज्ञात ईश्वर नहीं छू पाता! 'रंगभूमि' का 'सूरदास' इसका ज्वलन्त उदाहरण है। इस प्रकार की विचारधारा दुःखवादी कही जाती है, परंतु यह आशावादी भी है। यही वर्तमान युग की भी विचारधारा है।

जब हम इस दृष्टि से अपने उपन्यास-वाङ्मय को देखते हैं तो पाते हैं कि उसमें ऐसी आध्यात्मिकता की बड़ी कमी है। अधिकांश उपन्यासों में तो कोई जीवन-दर्शन है ही नहीं, जिनमें है भी वह बहुत हल्का हल्का। इन मूल समस्याओं की ओर बहुत कम उपन्यासकारों ने ध्यान दिया है। 'प्रसाद' के 'कंकाल' तथा 'जैनेंद्र' के 'कल्याणी' और 'त्यागपत्र' नामक उपन्यासों में जीवन के प्रति एक स्थायी दृष्टिकोण है। 'शेखरः एक जीवनी' के 'द्रष्टा' ने जगत एवं जीवन को कई दृष्टियों से देखने का प्रयत्न किया है और उन्हें सहज ही टाल भी नहीं दिया जा सकता। किंतु उसमें इन्हीं पर इतना आग्रह है कि उपन्यास से ध्यान हटकर 'द्रष्टा' की दृष्टि ही से उलझ जाता है।

प्रेमचंद ने जिस शैली में उपन्यासों का आरंभ किया तथा 'प्रसाद' वृंदावन, 'कौशिक', 'उग्र' प्रतापनारायण श्रीवास्तव एवं सियारामशरण आदि ने जिसे अपनाया उसे हम बाह्यार्थनिरूपिणी (आब्जेक्टिव) कह सकते हैं। इस शैली के अनुसार जो घटनाएँ जीवन में होती हैं लेखक उन्हीं का वर्णन करता है किसी उलझन में नहीं पड़ता। पात्र एवं घटनाएँ एक के बाद दूसरी हमारे सामने आती हैं और उन्हीं के द्वारा कहानी आगे बढ़ती जाती है। घटनाओं एवं पात्रों के घात-प्रतिघात से कहानी में अधिक मनोरंजकता आ जाती है। कहीं भी रुककर पात्रों का मनोविश्लेषण करने की प्रवृत्ति नहीं लक्षित होती। कहानी में कहीं रुकावट नहीं आने पाती। किंतु 'सुनीता' के लेखक ने एक नवीन मार्ग का प्रदर्शन किया। इसे हम विश्लेषण-प्रणाली (इनैलिटिक) कहें तो अनुचित न होगा। इस प्रणाली का लेखक आत्मा के सूक्ष्मतम विकास को चित्रित करने का प्रयत्न करता है। उसके अनुसार मनुष्य के कार्यकलाप का उतना महत्त्व नहीं होता जितना उसकी प्रेरक शक्ति का। उसके अनुसार घटनाएँ अपने आप में कुछ नहीं हैं। वह मनोवैज्ञानिक की तरह इन घटनाओं की तह

तक जाने का प्रयत्न करता है और वहाँ से मूल सत्य को निकाल लाना चाहता है। उसकी कृति किसी दार्शनिक की भाँति कार्य-कारण के नियमों से बद्ध होती है। वह प्रत्येक भाव एवं मनोविकार के मूल तक पहुँचने का प्रयत्न करता है। इसीलिए उपन्यास के बीच बीच लंबे-लंबे विचारात्मक स्थल होते हैं जहाँ कथा की गति बिलकुल रुकी सी ज्ञात होती है। किंतु बाह्यार्थनिरूपक उपन्यासकार किसी पात्र की मनःस्थिति के विषय में लंबी-चौड़ी व्याख्या देकर उस अनुभव अथवा क्रिया को दिखाने के प्रयत्न में रहता है जो उस मनःस्थिति के परिणाम-स्वरूप अभिव्यक्त होते हैं। वह अपने को जहाँ तक हो सकता है अलग ही रखता है। उसका प्रयत्न सदैव सुंदर शरीर का प्रदर्शन होता है न कि अस्थिपंजर का। हमारे विचार से इस सिद्धांत पर लिखे गए उपन्यासों में अधिक सचाई भी होती है। उनमें संभावना का परिमाण भी अधिक होता है क्योंकि पात्र एवं उनके कार्य-कलाप हमारे सामने होते हैं। ये पात्र जिन उद्देश्यों से कोई विशेष कार्य करते हैं उनका ब्योरा बताने नहीं बैठते।

अंतर्वृत्तिनिरूपक अथवा विश्लेषणात्मक उपन्यासों का आरंभ 'सुनीता' से ही समझना चाहिए। जैनेंद्र ने ही सर्वप्रथम कहानी एवं घटनाओं को गौण स्थान देकर अंतश्चेतना के सूक्ष्म विश्लेषण को प्रधानता दी। उनके प्रायः सभी उपन्यासों में कहानी पृष्ठभूमि में जा पड़ी है। किसी पात्र को एक विशेष दृष्टि से देखने की धुन में ही कहीं कहीं 'सुनीता' एवं 'कल्याणी' रहस्यमयी सी हो उठी हैं। जैनेंद्र द्वारा प्रदर्शित इस मार्ग का अनुसरण हिंदी में कम हुआ। 'मीमांसा' जैसे एकाध उपन्यासों में ही यह प्रवृत्ति परिलक्षित हुई। 'शेखर-एक जीवनी' के द्वारा इस प्रणाली का एक नितांत नवीन रूप सामने आया। जिसमें लेखक कथाकार न रहकर कोरा द्रष्टा बन

बैठा। जीवन को विविध दृष्टिबिंदुओं से देखने के प्रयास में जीवन-मूर्ति के खंड खंड हो गए हैं।

यहीं पर हमें हिंदी में हाल में आई हुई एक पाश्चात्य प्रवृत्ति का उल्लेख भी कर देना चाहिए। यह है मनोविश्लेषण (साइकोएनैलिसिस) द्वारा उपलब्ध सिद्धांतों के प्रकाश में पात्रों का चित्रण। फ्रायड, युंग, एडलर मैगडुगल आदि के मन संबंधी नवीन निष्कर्षों का प्रभाव योरोपीय कथा-साहित्य पर पर्याप्त पड़ा है। इस नवीन मनोविज्ञान के अनुसार आदिकाल से लेकर आज तक मानवीय वृत्तियों का परिशोधन बराबर होता आया है। किंतु ये परिशोधन के पूर्व की वृत्तियाँ नष्ट न होकर केवल मानस के अंतस्तल में जा बैठी हैं। इस दीर्घकाल के भीतर न जाने कितनी मूल पशु-प्रवृत्तियाँ सतह से हटकर चेतना के तल में संगृहीत हो गई हैं। सभ्यता के आग्रह से हमने सचेत मन का संस्कार कर उसे एक नवीन रूप भले ही दे दिया है किंतु इनके मूल में पड़ी हुई पशु-प्रवृत्तियाँ समय समय पर हुंकार कर उठती हैं। इन मूल प्रवृत्तियों को जितना ही मनुष्य नीचे को दबाता है उतने ही वेग से वे ऊपर को उठने का प्रयत्न करती हैं। इस प्रकार मनुष्य के अचेतन मन से उसके अभिप्रायों की व्याख्या की जा सकती है। सचेतन मन से ईमानदार होते हुए भी मनुष्य अचेतन मन से बेईमान हो सकता है; सचेतन मन से संयमी पुरुष भी अचेतन मन से कामुक हो सकता है और किसी समय किसी मित्र या संबंधी की रक्षा की अत्यधिक चिंता उसकी हत्या करने की अचेतन इच्छा का आवरण हो सकती है। इस नवीन विज्ञान के अनुसार मनोरोगों का मूल आधार काम-संबंधी उलझनें होती हैं। दमन (रिप्रेशन) एवं उलझन (काम्प्लेक्स) के इन सिद्धांतों ने मानवीय कार्य-कलापों को देखने की एक नवीन दृष्टि दी है। योरोप के कथा-साहित्य पर इस नवीन विज्ञान का प्रभाव एक विचित्र

रूप में पड़ा। इन सिद्धांतों को आधार बनाकर लिखे गए उपन्यासों की बाढ़ सी आ गई। अधिकांश उपन्यासकार न तो वैज्ञानिक प्रक्रिया में अभ्यस्त थे न वे इन सिद्धांतों को पूर्ण रूप से आयत्त कर सके परिणाम-स्वरूप प्राणविहीन, अव्यवस्थित सिद्धांत-प्रतिपादन करनेवाले ही उपन्यास अधिक दिखाई पड़े। किंतु समय के प्रवाह से वहाँ का यह जोश अब ठंढा पड़ गया है। अधिकांश योरोपीय प्रवृत्तियाँ जब वहाँ के लिए व्यवहारातिक्रांत सी होने लगती हैं तब भारत में वे नवीन समझकर ग्रहण की जाती हैं। श्री इलाचंद्र जोशी के द्वारा योरोप की यह प्रवृत्ति अब हिंदी-कथा-साहित्य में व्यक्त हुई है।

इस विषय में यह निवेदन है कि युग की प्रचलित विचारधाराओं से अवगत होना किसी भी साहित्यकार के लिए वांछनीय है। फ्रायड एवं मैगडुगल जैसे मनोवैज्ञानिकों का मानवता पर अपार ऋण है। उनके सिद्धांतों के द्वारा मानव-स्वभाव को समझने में बड़ी सहायता मिली है और यदि उपन्यासकार अपने बौद्धिक उपकरणों में मनो-विश्लेषण के इन अमूल्य सिद्धांतों को स्थान नहीं दे पाता तो उसके लिए प्रशंसा की बात कदापि नहीं हो सकती। इनके ज्ञान के बिना वह अपूर्ण सा है। इनके ज्ञान से उसकी बहुत सी समस्याएँ सुलझ जाती हैं। किंतु इन्हीं पर सारा बल देना भी श्रेयस्कर नहीं। एक समय ऐसा था जब कि अंगरेजी उपन्यासकार इन सिद्धांतों को लेकर ही उड़ चले थे। परिस्थितियों एवं वातावरण की उपेक्षा कर केवल अमूर्त स्वभाव के प्रकाश में पात्रों को चित्रित करने के प्रयत्न होने लगे। परिमाण-स्वरूप जो पात्र गढ़े गए उनके द्वारा केवल कुछ पशु-प्रवृत्तियों, मूल रागों, एवं निरोध द्वारा उत्पन्न उलझनों आदि के निदर्शन मात्र हो सके। इनमें सजीवता का पूर्ण अभाव रहा। आवश्यकता इस बात की है कि कलाकार इन सिद्धांतों को पहले

पूर्ण रूप से आयत्त कर ले और तदुपरान्त अपनी कला में उन्हें रूपांतरित करे। कोई कारण नहीं कि वह अपने पात्रों को किसी वैज्ञानिक सिद्धांत के प्रकाश में न देखे। किंतु उसकी दृष्टि व्यक्ति पर रहे न कि सिद्धांत पर।

हिंदी-उपन्यास-साहित्य की दृष्टि से इस पर अधिक कहना ही नहीं है क्योंकि श्री इलाचंद्र जोशी तथा अज्ञेय को छोड़कर किसी ने ऐसे प्रयत्न किए ही नहीं। जोशी जी को पर्याप्त सफलता अवश्य मिली है किंतु उनका ध्यान भी व्यक्ति की अपेक्षा सिद्धांत पर ही अधिक प्रतीत होता है और अज्ञेय ने तो जगह जगह जैसे दमन द्वारा उत्पन्न उलझनों के उदाहरण एकत्र करने के प्रयत्न किए हैं।

यशपाल पर लिखते हुए हम कह आए हैं कि 'देशद्रोही' में व्यंग की प्रधानता है। इधर के उपन्यासकार व्यंग पर अधिक जोर देने लगे हैं। इस विषय में यह समझ लेना चाहिए कि उपन्यासों में व्यंग का प्रयोग प्रेमचंदजी से ही आरंभ हो गया था और किसी न किसी परिमाण में हिंदी के प्रायः सभी उत्कृष्ट लेखकों में पाया जाता है। प्रश्न यह है कि व्यंग का उपयोग कहाँ तक हितकर है। व्यंग एक ऐसा शस्त्र है जिसके द्वारा उपन्यासकार व्यक्ति एवं समाज पर आघात करता है। इसके मूल में जीवन को किसी विशेष रूप में परिवर्तित कर देने की आकांक्षा रहती है। 'देशद्रोही' के लेखक का एक उद्देश्य यह भी था कि गांधीवादियों का प्रभाव कम किया जाय। प्रेमचंद ने सदैव पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि संस्थाओं पर व्यंग किए हैं। 'राम-रहीम' तथा 'तीन वर्ष' के लेखक के व्यंग भी स्पष्ट हैं। उपन्यास द्विविध आकांक्षाओं की पूर्ति करता है—एक व्यावहारिक तथा दूसरी कलात्मक। उपन्यास का कलात्मक ध्येय प्रधान है, व्यावहारिक गौण। अतएव व्यंग की यही कसौटी होनी चाहिए कि उसके द्वारा कलात्मकता में किसी प्रकार की कमी

तो नहीं आई। यदि उपन्यासकार इस तथ्य का ध्यान न रखकर सुधार के आवेश में व्यंग को ही प्रधान साधन बना लेगा तो उसकी कृति का मूल्य घटता ही जायगा। 'उग्र' के पहले लिखे हुए उपन्यासों में यह प्रवृत्ति बड़ी प्रबल थी। समाज की कुछ दूषित रीतियों से उन्हें असंतोष था और उन्हें दूर करने के लिए उन्होंने व्यंग का सहारा लिया है। प्रेमचंद अथवा 'प्रसाद' का व्यंग 'उग्र' अथवा यशपाल के व्यंग से भिन्न है। उनमें निर्मम आघात की प्रवृत्ति नहीं दिखाई पड़ती। 'राम-रहीम' व्यंगपूर्ण है जिसमें उसी की मात्रा अधिक हो गई है। इस उपन्यास में जितना विस्तार है उतनी तीव्रता नहीं। लेखक ने नवीन अँगरेजी सभ्यता एवं प्राचीन भारतीय समाज की कुछ बातों पर अपनी संपूर्ण शक्ति से आक्रमण करने का प्रयास किया है। आशा है कि हमारे वर्तमान हिंदी-उपन्यासकार-व्यंग के मर्म को समझकर उसका उचित परिमाण में उपयोग करेंगे।

विज्ञान के द्वारा संसार की भौगोलिक सीमाएँ टूट चुकी हैं। अब एक देश के साहित्य का, उसकी विचारधारा का प्रभाव अन्य देशों पर पड़ना अनिवार्य हो गया है। इसके साथ ही साथ देश-विदेश के लेखकों का दायित्व भी बढ़ गया है। किसी भी बाहरी प्रभाव को ग्रहण करने के पूर्व अत्यधिक सतर्कता अपेक्षित है। जीवन के प्रति पश्चिम का जो दृष्टिकोण है वह भारत का नहीं है और संभवतः कभी होगा भी नहीं। अतएव साहित्य में विदेशी प्रवृत्तियों का ग्रहण करने के पूर्व यह ध्यान रहे कि उसमें स्वदेश की आत्मा सुरक्षित हो। पाश्चात्य उपन्यास-जगत में इधर आशातीत परिवर्तन हो गए हैं और होते जा रहे हैं। जिसके कारण उपन्यास-संबंधी भावना में भी परिवर्तन करना पड़ा है। अभी कल की ही बात है, योरोप में एक 'चेतना की धारा' की चर्चा जोरों से चल पड़ी थी, परंतु आज जैसे वह बात पुरानी पड़ गई। प्राउस्ट, ज्वायस तथा वर्जिनिया ऊल्फ सभी लगभग पुराने समझे

जाने लगे। समाज को देखने की एक नई दृष्टि ने ऐसे दृश्यों को सामने कर दिया है जो पहले बिलकुल ही हमारी दृष्टि से परे थे। एक नितांत अप्रत्याशित आशावादिता इन युवक लेखकों की कृतियों से टपकती है। हमारे उपन्यास-साहित्य में इसकी तुलना में रखने योग्य बहुत कम है। विषय एवं विधान दोनों ही दृष्टियों से हम बहुत पिछड़े हुए हैं। हमारे उपन्यास भी महत्त्वपूर्ण घटनाओं की योजना को ही प्रधानता दिए जा रहे हैं। किंतु अन्य देशों में महत्त्वपूर्ण घटनाओं द्वारा कहानी को मनोरंजक बनाने की प्रवृत्ति क्षीण होती जा रही है। अधिकांश उपन्यासकार पात्रों को उनके जीवन के किसी भी समय में ले लेते हैं और फिर स्वाभाविक क्रम से जीवन-यात्रा में उन्हें अग्रसर करते जाते हैं। इस प्रकार या तो उपन्यासकार मानव-मन-परिवर्तन में परिस्थितियों का प्रभाव वर्णित करेगा अथवा यह दिखाने का प्रयास करेगा कि उन पात्रों में किस प्रकार रागों, मनोवेगों, इच्छाओं, अभिलाषाओं आदि का विकास होता है; किस प्रकार वे प्यार वा घृणा करते हैं; समाज के विभिन्न वर्गों के साथ किस प्रकार उन्हें निर्वाह करना पड़ता है और उनके स्वार्थों—सामाजिक, पारिवारिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि का किस प्रकार संघर्ष होता है। आकर्षक आरंभ प्रभावपूर्ण चरम सीमा, सशक्त राग आदि के चित्रण में अब कलाकार की चतुराई नहीं समझी जाती। अब तो छोटी छोटी घटनाओं की इस प्रकार योजना की जाती है कि उनके द्वारा कृति का अंतिम उद्देश्य स्पष्ट झलक उठे। तात्पर्य यह कि जहाँ कल का उपन्यासकार जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं का, मस्तिष्क एवं हृदय की तीव्रतम परिस्थितियों का अंकन करता था वहीं आज का कलाकार हृदय, आत्मा तथा मस्तिष्क का उनकी साधारण अवस्था में इतिहास लिखता है। इसका यह भी अर्थ नहीं कि जीवन के साधारण फोटो-चित्र दिखाए जायँ। यदि लेखक कलाकार है तो वह

इस सिद्धांत का अनुसरण करता हुआ भी जीवन के ऐसे चित्र देगा जो यथार्थ से भी अधिक पूर्ण, प्रभावशाली एवं सत्य होंगे।

भारतीय उपन्यासकार को अपनी परंपरा के प्रकाश में इन सभी पाश्चात्य प्रवृत्तियों की परीक्षा करनी होगी। 'जो कुछ नवीन है केवल वही सत्य है' इस दृष्टि से हम अपना स्वस्थ विकास कभी नहीं कर सकते। परंपरा और प्रयोग ये दो प्रत्येक कलाकृति के आवश्यक उपकरण हैं। यदि इनमें से कोई एक न होगा तो कृति कलापरक न होगी। प्रयोग वह क्रिया है जो कलाकार परंपरा के साथ करता है, अन्यथा वह कलाकार कहलाने का अधिकारी ही न होगा। परंपरा वह वस्तु है जो प्रयोग की संभावना उपस्थित करती है। इन्हीं दो के मात्रा-भेद से साहित्यिक प्रगति की माप होती है। यदि हम संसार के किसी साहित्य का इतिहास देखें तो उसमें एक अविच्छिन्नता एवं धारावाहिकता मिलेगी। कभी कभी यह धारा टूटी हुई सी होगी, कभी कभी प्रबल प्रतिक्रियाएँ मिलेंगी और कभी कभी प्रवाह मुख्यधारा को छोड़कर किसी अगल-बगल की छोटी धारा में जाता दिखाई देगा, परंतु उस आवश्यक अविच्छिन्नता के बिना साहित्य में वह विश्वासमकता और स्थायित्व न आ सकेगा जिसमें कला का स्थायित्व निहित है। लेकिन इस अविच्छिन्नता, परंपरा या रूढ़ि के भीतर अनंत प्रयोगों का अवकाश है। प्रयोग हमारी साहित्यिक चेतना के अनुमापक हैं। किंतु किंचित क्षोभ के साथ कहना पड़ता है कि हिंदी-उपन्यास-वाङ्मय में बहुत कम प्रयोग हुए हैं। जो हुए भी हैं वे संतोषजनक नहीं। किंतु उपन्यास का भविष्य वास्तव में उन्हीं लोगों के हाथ में है जो आज असंतुष्ट तथा प्रयोगशील हैं और इसी कारण स्वयं संतोषजनक उपन्यासों की रचना नहीं कर पाते। इन प्रयोगों के आधार पर ही वास्तविक उत्कृष्ट रचनाएँ होने की संभावना है।

अंत में हमें यह निवेदन करना है कि उपन्यास के द्वारा हम कविता की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से विश्व-साहित्य में ख्याति प्राप्त कर सकते हैं। ध्यान देने की बात है कि रूस-साहित्य आज विश्व के साहित्य में अग्रगण्य माना जाने लगा है यद्यपि वह अभी उन्नीसवीं शती में ही इस क्षेत्र में आया है। इंगलैंड को साहित्यिक प्रसिद्धि सोलहवीं शती में ही मिल चुकी थी परंतु कल का रूस आज उसकी समता करने को सन्नद्ध है। इसका कारण यह है कि इंगलैंड की प्रसिद्धि नाटक तथा कविता के द्वारा हुई तथा रूस की उपन्यास के द्वारा; और उपन्यास ही साहित्य का वह रूप है जो समाज के प्रत्येक वर्ग के मनुष्यों को आकर्षित कर सकता है। वह उच्चाति-उच्च भी हो सकता है और तुच्छातितुच्छ भी, वह समाज-दर्शन भी सिखा सकता है, अनुरंजन भी कर सकता है और साथ ही साथ सीख भी दे सकता है। वह चुटकी भी ले सकता है, व्यंग भी कर सकता है। कविता के क्षेत्र में अनेक प्रयत्न किए गए कि वह जीवन की प्रगति को, उसकी जटिलता को अपना ले परंतु हमारे विचार से कविता अनुभवों का संवेदन ही रहेगी, निवेदन नहीं हो सकती।

नामानुक्रमणी